॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है" ॥

आनन्दसमाचार ।

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था। इस महात्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २-सस्वर मूल मन्त्र, ३-सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें, छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)	२।)

काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	मन्त्र सूची	पद सूची	पृष्ठ ४,२०० लगभग
मूल्य	२=)	१।≡)	१।)	१-)	॥-)	।≡)	२।=)	३।)				३४॥)

अन्तिम काण्ड—२० छप रहा है। पुराने ग्राहक जिनके पास सब काण्ड नहीं पहुंचे, और नये ग्राहक भाष्य शीघ्र मंगावें पुस्तक थोड़े रहे हैं, ऐसे बड़े ग्रन्थ का फिर छपना कठिन है।

हवनमन्त्राः—धर्मशिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—कांगड़ी गुरुकुल में व्याख्यान दिया था। वेदों में विमान, नौका अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

२५ दिसम्बर १९१४। ५२, लूकरगंज, प्रयाग। (Allahabad).

Onkar Press, Allahabad.

* ओ३म् *

विज्ञापन ।

महाशयो ! अथर्ववेदभाष्य का यह काण्ड १६ आप के पास पहुंचता है। यह काण्ड पिछले कई काण्डों से बड़ा है। काण्ड २० छपरहा है, यह अन्तिम काण्ड २० सब काण्डों से बड़ा है, तीन भागों में करके छपकर भेजा जावेगा। इसके सिवाय एक मन्त्रसूची और एक पदसूची छपकर यह भाष्य समाप्त हो जायगा।

निवेदक

५२ लूकरगंज, प्रयाग
१५ दिसम्बर १६१६

क्षेमकरणदास त्रिवेदी।

* ओ३म् *

अथर्ववेदभाष्य ॥

परम पिता परमात्मा की कृपा से अथर्ववेदभाष्य के २० काण्डों में से १६ वेद प्रेमियों के पास पहुंच गये, २० वां छप रहा है। फिर दो सूची पत्र [एक मन्त्र सूची और दूसरी पद सूची] छपकर भाष्य समाप्त हो जायगा। विद्वान् वेदपाठी महाशयों से निवेदन है कि यदि उक्त भाष्य में कोई त्रुटि देखें वा किसी प्रकार का सुधार उचित समझें, कृपा करके सूचित करें, और जो समाधान भी लिख दें अति उत्तम है। विचार करके शुद्धि पत्र द्वारा उन महाशयों के नाम सहित वह ठीक कर दिया जावेगा।

५२ लूकरगंज, प्रयाग
Allahabad.
१५ दिसम्बर १६१६

क्षेमकरणदास त्रिवेदी
अथर्ववेद भाष्यकार ॥

१ सूक्त विवरण अथर्ववेद काण्ड १९ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	सं सं स्रवन्तु नद्यः	प्रजापति	ऐश्वर्य की प्राप्ति	आर्षी बृहती आदि
२	शं त आपो हैमवतीः	आप	जल के उपकार	अनुष्टुप् आदि
३	दिवस्पृथिव्या पर्यन्त	अग्नि	अग्नि के गुण	त्रिष्टुप् आदि
४	यामाहुतिं प्रथमामथ	अग्नि आदि	बुद्धि बढ़ाना	विराडतिजगती आदि
५	इन्द्रो राजा जगतश्च	इन्द्र	राजा के लक्षण	त्रिष्टुप्
६	सहस्रबाहुः पुरुषः	पुरुष	सृष्टि विद्या	अनुष्टुप् आदि
७	चित्राणि साकं दिवि	नक्षत्र	ज्योतिष विद्या	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
८	यानि नक्षत्राणि	अग्नि आदि	सुख की प्राप्ति	विराडार्षी जगती आदि
९	शान्ता द्यौः शान्ता	विश्वेदेवा	मनुष्यों का कर्त्तव्य	भुरिगनुष्टुप् आदि
१०	शं नः इन्द्राग्नी भवता	विश्वेदेवा	सृष्टि के पदार्थों से उपकार लेना	त्रिष्टुप् आदि
११	शं नः सत्यस्य पतयो	विश्वेदेवा	इष्ट की प्राप्ति	त्रिष्टुप् आदि
१२	उषा अप स्वसुस्तमः	उषा	मनुष्य के कर्तव्य	भुरिगार्षी पङ्क्ति
१३	इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ	इन्द्र	सेनापति के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
१४	इदमुच्छ्रेयो वसान	इन्द्र	विजय प्राप्ति	निचृत् त्रिष्टुप्
१५	यत इन्द्र भयामहे	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	पथ्या बृहती आदि
१६	असपत्नं पुरस्तात्	मन्त्रोक्त	अभय और रक्षा	निचृदनुष्टुप् आदि
१७	अग्निर्मा पातु वसुभिः	मन्त्रोक्त	रक्षा करना	स्वराडार्षी त्रिष्टुप् आदि
१८	अग्निं ते वसुवन्त	मन्त्रोक्त	रक्षा के प्रयत्न	साम्नी त्रिष्टुप् आदि
१९	मित्रः पृथिव्योदक्रा	मन्त्रोक्त	रक्षा के प्रयत्न	भुरिगार्षी बृहती आदि
२०	अपन्यधुः पौरुषेयं	मन्त्रोक्त	रक्षा के प्रयत्न	आर्षी त्रिष्टुप् आदि
२१	गायत्र्युष्णिगनुष्टु	वाक्	महा शान्ति	साम्नी बृहती
२२	आङ्गिरसानामाद्यैः	मन्त्रोक्त	महा शान्ति	साम्न्युष्णिक् आदि
२३	आथर्वणानां चतु	प्रजापति	ब्रह्मविद्या	आसुरी बृहती आदि
२४	येन देवं सवितारं	ब्रह्मणस्पति	राजा के कर्तव्य	अनुष्टुप् आदि
२५	अश्रान्तस्य त्वा मन	शूर	शूरों के लक्षण	अनुष्टुप्
२६	अग्नेः प्रजातं परि	हिरण्य	सुवर्ण आदि की प्राप्ति	आर्षी त्रिष्टुप् आदि
२७	गोभिष्ट्वा पात्वृषभो	प्रजापति	आशीर्वाद देना	अनुष्टुप् आदि
२८	इमं बध्नामि ते मणिं	दर्भ	सेनापति के लक्षण	अनुष्टुप् आदि
२९	निक्ष दर्भ सपत्नान्	दर्भ	सेनापति के लक्षण	अनुष्टुप्
३०	यत् ते दर्भ जरामृत्युः	दर्भ	सेनापति के लक्षण	निचृदनुष्टुप् आदि
३१	औदुम्बरेण मणिना	औदुम्बर आदि	ऐश्वर्य की प्राप्ति	अनुष्टुप्
३२	शतकाण्डो दुश्च्यवनः	दर्भ	शत्रुओं को हराना	अनुष्टुप् आदि

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
३३	सहस्रार्घः शतकाण्डः	दर्भ	उन्नति करना	विराडार्षीजगती आदि
३४	जङ्गिडोऽसि जङ्गिडो	जाङ्गिड	सब की रक्षा	निचृदनुष्टुप् आदि
३५	इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त	जङ्गिड	सब की रक्षा	अनुष्टुप् आदि
३६	शतवारो अनीनशद्	शतवार	रोगों का नाश	अनुष्टुप् आदि
३७	इदं वर्चो अग्निना	अग्नि	बल की प्राप्ति	भुरिगार्षी पङ्क्ति आदि
३८	न तं यक्ष्मा अरुन्धते	गुल्गुलु	रोगनाश करना	अनुष्टुप् आदि
३९	ऐतु देवस्त्रायमाणः	कुष्ठ	रोगनाश करना	अनुष्टुप् आदि
४०	यन्मे छिद्रं मनसो	बृहस्पति आदि	बुद्धि बढ़ाना	परानुष्टुप्त्रिष्टुप्आदि
४१	भद्रमिच्छन्त ऋषयः	ऋषि	कल्याण की प्राप्ति	त्रिष्टुप् छन्दः
४२	ब्रह्म होता ब्रह्मयज्ञा	ब्रह्म	वेद की स्तुति	अनुष्टुप् आदि
४३	यत्र ब्रह्मविदो यान्ति	ब्रह्म	ब्रह्म की प्राप्ति	भुरिग् ब्राह्मी गायत्री
४४	आयुषोऽसिप्रतरणं	आञ्जन	ब्रह्म की उपासना	अनुष्टुप् आदि
४५	ऋणादृणमिवसंनयन्	आञ्जन आदि	ऐश्वर्य की प्राप्ति	भुरिगनुष्टुप् आदि
४६	प्रजापतिष्ट्वा बध्नात्	अस्तृत	विजय की प्राप्ति	विराडार्षीत्रिष्टुप्आदि
४७	आ रात्रि पार्थिवं रजः	रात्रि	रात्रि में रक्षा	पथ्या बृहती आदि
४८	अथो यानि च यस्मा	रात्रि	रात्रि में रक्षा	गायत्री आदि
४९	इषिरा योषा युवति	रात्रि	रात्रि में रक्षा	त्रिष्टुप् आदि
५०	अध रात्रि तृप्तधूम	रात्रि	रात्रि में रक्षा	अनुष्टुप् आदि
५१	अयुतोऽहमयुतो म	आत्मा	आत्मा की उन्नति	ब्राह्म्युष्णिक् आदि
५२	कामस्तदग्रे समवर्तत	काम	काम की प्रशंसा	आर्षी त्रिष्टुप् आदि
५३	कालो अश्वो वहति	काल	काल की महिमा	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
५४	कालादापः समभवन्	काल	काल की महिमा	निचृदनुष्टुप् आदि
५५	रात्रिं रात्रिमप्रयातं	अग्नि	गृहस्थ धर्म	त्रिष्टुप् आदि
५६	यमस्य लोकादध्या	स्वप्न	निद्रा त्याग	त्रिष्टुप् आदि
५७	यथा कलां यथा शफं	आत्मा	बुरे स्वप्न दूर करना	अनुष्टुप् आदि
५८	घृतस्य जूतिः समना	आत्मा	आत्मा की उन्नति	त्रिष्टुप् आदि
५९	त्वमग्ने व्रतपा असि	अग्नि	उत्तममार्गपरचलना	भुरिगार्षी गायत्री आदि
६०	वाङ्म आसन्नसोः	परमात्मा	शरीर का स्वास्थ्य	विराडार्षी बृहती आदि
६१	तनूस्तन्वामे सहे	आत्मा	सुख की प्राप्ति	विराडार्षी बृहती
६२	प्रियं मा कृणु देवेषु	ब्रह्म	विद्वानों के कर्तव्य	निचृदनुष्टुप्
६३	उत् तिष्ठ ब्रह्मणस्पते	ब्रह्मणस्पति	विद्वानों के कर्तव्य	विराडार्षी बृहती
६४	अग्ने समिधमाहार्षं	अग्नि	अग्नि का उपयोग	अनुष्टुप् आदि
६५	हरिः सुपर्णो दिव	सूर्य	पराक्रम करना	निचृज्जगती

सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
अयोजाला असुरा	जातवेदा	पराक्रम करना	निचृदति जगती
पश्येम शरदः शतम्	प्रजापति	जीवन का स्वास्थ्य	प्राजापत्या गायत्री
अव्यसश्च व्यचसश्च	आत्मा	मनुष्य के कर्तव्य	निचृदनुष्टुप्
जीवा स्थ जीव्यासं	विद्वान्	जीवन बढ़ाना	आसुर्यनुष्टुप् आदि
इन्द्र जीव सूर्य जीव	इन्द्र	जीवन बढ़ाना	आर्षी गायत्री
स्तुता मया वरदा	वेदमाता	सब सुख पाना	अतिजगती
यस्मात् कोशादुदभ	परमात्मा	वैदिक कर्म करना	विराडार्षी त्रिष्टुप्

—अथर्ववेद काण्ड १९ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

न्त्र ख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १९) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१	इन्द्रो राजा जगतश्च	५ । १	७ । २७ । ३		
२	सहस्रबाहुः पुरुषः	६ । १	१० । ९० । १	३१ । १	पू० ६ । १३ । ३
३	त्रिभिः पद्भिर्द्याम	६ । २	१० । ९० । ४	३१ । ४	पू० ६ । १३ । ४
४	तावन्तो अस्य महिमा	६ । ३	१० । ९० । ३	३१ । ३	पू० ६ । १३ । ६
५	पुरुष एवेदं सर्वं	६ । ४	१० । ९० । २	३१ । २	पू० ६ । १३ । ५
६	यत् पुरुषं व्यदधुः	६ । ५	१० । ९० । ११	३१ । १०	
७	ब्राह्मणोऽस्यमुखमा	६ । ६	१० । ९० । १२	३१ । ११	
८	चन्द्रमा मनसो जातः	६ । ७	१० । ९० । १३	३१ । १२	
९	नाभ्या आसीदन्त	६ । ८	१० । ९० । १४	३१ । १३	
१०	विराडग्रे समभवद्	६ । ९	१० । ९० । ५	३१ । ५	पू० ६ । १३ । ७
११	यत् पुरुषेण हविषा	६ । १०	१० । ९० । ६	३१ । १४	
१२	तं यज्ञं प्रावृषा	६ । ११	१० । ९० । ७	३१ । ९	
१३	तस्मादश्वा अजा	६ । १२	१० । ९० । १०	३१ । ८	
१४	तस्मात् यज्ञात्	६ । १३	१० । ९० । ९	३१ । ७	
१५	तस्मात् यज्ञात्	६ । १४	१० । ९० । ८	३१ । ६	
१६	सप्तास्यासन् परि	६ । १५	१० । ९० । १५	३१ । १५	
१७	शं नो मित्रः शं वरुणः	९ । ६	१ । ९० । ९	३६ । ९	
१८	पृथिवी शान्तिरन्त	९ । १४		३६ । १७	
१९	शं न इन्द्राग्नी भवतां	१० । १	७ । ३५ । १	३६ । ११	
८	शंनो भगः शमु नः	१० । २-१०	७ । ३५ । २-१०		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १६) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेदमण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
२६	शं नः सत्यस्य पतयो	११ । १	७ । ३५ । १२		
३०	शं नो देवा विश्वदेवा	११ । २	७ । ३५ । ११		
३१-३३	शंनो अज एकपाद्	११ । ३-५	७ । ३५ । १३-१५		
३४	तदस्तुमित्रावरुणा	११ । ६	५ । ४७ । ७		
३५	उषाअप स्वसुस्तमः	१२ । १	{ १० । १७२ । ४ { ६ । १७ । १५		पू० ५ । ७ । ७
३६	इन्द्रस्य बाहुस्थविरौ	१३ । १			उ० ६ । ३ । ७
३७	आशुः शिशानोवृषभो	१३ । २	१० । १०३ । १	१७ । ३३	उ० ६ । ३ । १
३८,३६	संक्रन्दनेनामिषेण	१३ । ३, ४	१० । १०३ । २, ३	१७।३४,३५	उ० ६ । ३ । १
४०	बलविज्ञायः स्थविरः	१३ । ५	१० । १०३ । ५	१७ । ३५	उ० ६ । ३ । २
४१	इमंवीरमनुहर्षध्व	१३ । ६	१० । १०३ । ६	१७ । ३८	उ० ६ । ३ । २
४२	अभिगोत्राणि सहसा	१३ । ७	१० । १०३ । ७	१७ । ३६	उ० ६ । ३ । ३
४३	बृहस्पते परि दीया	१३ । ८	१० । १०३ । ४	१७ । ३६	उ० ६ । ३ । २
४४	इन्द्रएषां नेता बृहस्पति	१३ । ६	१० । १०३ । ८	१७ । ४०	उ० ६ । ३ । ३
४५	इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य	१३ । १०	१० । १०३ । ६	१७ । ४१	उ० ६ । ३ । ३
४६	अस्माकमिन्द्रः समृतेषु	१३ । ११	१० । १०३ । ११	१७ । ४३	उ० ६ । ३ । ४
४७	यत इन्द्र भयामहे	१५ । १	८ । ६१ । १३		{ पू० ३ । ६ । २ { उ० ५ । २ । १५
४८	उरुं नो लोकमनु	१५ । ४	६ । ४७ । ८		
४६	योगे योगे तवस्तरम्	२४ । ७	१ । ३० । ७	११ । १४	{ पू० २ । ७ । ६ { उ० १ । २ । ११
५०-५२	ये देवा दिव्येकादश	२७ । ११-१३	१ । १३६ । ११	७ । १६	
५३	त्वमसि सहमानोऽहं	३२ । ५	१० । १४५ । ५		
५४	प्रियं मा दर्भ कृणु	३२ । ८		१८ । ४८	
५५	यन्मे छिद्रं मनसो	४० । १		३६ । २	
५६	या नः पीपरदश्विना	४० । ४	१ । ४६ । ६		
५७	यादापो अघ्न्या इति	४४ । ६		२० । १८	
५८	आ रात्रि पार्थिवं रजः	४७ । १		३६ । ३२	
५६	रक्षा माकिर्नो अघ	४७ । ६	{ ६ । ७१ । ३ { ६ । ७५ । १०	३२ । ६६	
६०	देवस्य त्वा सवितुः	५१ । २		२० । ३	
६१	कामस्तदग्र समवर्तत	५२ । १	१० । १२६ । ४		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड१६) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
६२	रात्रिं रात्रिमप्रयातं	५५ । १		११ । ७५	
६३	यथा कलां यथा शफं	५७ । १	८ । ४७ । १७		
६४	त्वमग्ने व्रतपा असि	५९ । १	८ । ११ । १	४ । १६	
६५	यद्वो वयं प्रमिनाम	५९ । २	१० । २ । ४		
६६	आ देवानामपि पन्था	५९ । ३	१० । २ । ३		
६७	प्रियं मा कृणु देवेषु	६२ । १		१८ । ४८	
६८	यदग्ने यानि कानि	६४ । ३	८ । १०२ । २०	११ । ७३	
६९-७६	पश्येम शरदः शतं	६७ । १-८	७ । ६६ । १६	३६ । २४	

॥ ओ३म् ॥



अथर्ववेद: ॥

एकोनविंशं काण्डम्

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१—३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २ आर्षी बृहती ; ३ आर्षी पङ्क्तिः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

सं सं स्रवन्तु नद्यः १ः सं वाताः सं पतत्रिणः ।

यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ १ ॥

सम् । सम् । स्रवन्तु । नद्यः । सम् । वाताः । सम् । पतत्रिणः ॥ यज्ञम् । इमम् । वर्धयत । गिरः । सम्ऽस्राव्येण । हविषा । जुहोमि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नद्यः) नदियां (सम् सम्) बहुत अनुकूल (स्रवन्तु) बहें, (वाताः) विविध प्रकार के पवन और (पतत्रिणः) पक्षी (सम् सम्) बहुत अनुकूल [बहें] । (गिरः) हे स्तुति योग्य विद्वानो ! (इमम्) इस

१—(सम् सम्) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । अत्यन्तसम्यक् । अत्यनुकूलाः (स्रवन्तु) वहन्तु (नद्यः) सरितः (सम् सम्) अत्यनुकूलाः (वाताः) विविधपवनाः (पतत्रिणः) पक्षिणः (यज्ञम्) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारम् (वर्धयत) समृद्धं कुरुत (गिरः) गीर्यन्ते स्तूयन्ते

(यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा संगतिकरण और दान] को (वर्धयत) बढ़ाओ, (संस्राव्येण) बहुत अनुकूलता से भरी हुयी (हविषा) भक्ति के साथ [तुम को] (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि नौका, खेती आदि में प्रयोग करने से नदियों को, विमान आदि शिल्पों से पवनों को और यथा योग्य व्यवहार से पक्षी आदि को अनुकूल करें और नम्रता पूर्वक विद्वानों से मिलकर सुख के व्यवहारों को बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आचुका है—अ० १ । १५ । १ ॥

इस सूक्त का मिलान करो—अ० १ । १५ ॥

इमं होमा यज्ञमवतेमं संस्रावणा उत ।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ २ ॥

इमम् । होमाः । यज्ञम् । अवत । इमम् । सम्-स्रावणाः । उत ॥ यज्ञम् । इमम् । वर्धयत । गिरः । सम्-स्राव्येण । हविषा । जुहोमि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(होमाः) दाता लोगो तुम (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा संगतिकरण और दान] को, (उत) और (संस्रावणाः) हे बड़े कोमल स्वभाव वालो ! (इमम्) इस [यज्ञ] की (अवत) रक्षा करो । (गिरः) हे स्तुति योग्य विद्वानो ! (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा आदि] को (वर्धयत) बढ़ाओ, (संस्राव्येण) बहुत कोमलता से भरी हुयी (हविषा)

इति गिरः, कर्मणि क्विप् । हे स्तूयमाना विद्वांसः (संस्राव्येण) स्रु गतौ—ण । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । संस्राव-यत् । संस्रावेण सम्यक् स्रवणेन आर्द्र-भावेन युक्तेन (हविषा) आत्मदानेन । भक्त्या (जुहोमि) अहमाददे । स्वीकरोमि युष्मान् ॥

२—(इमम्) क्रियमाणम् (होमाः) अ० ८ । ६ । १८ । हु दानादानाद-नेषु-मन् । दातारो यूयम् (यज्ञम्) म० १ (अवत) रक्षत (इमम्) यज्ञम् (संस्रावणाः) स्रु गतौ—णिच्, ल्युट्, अर्श आद्यच् । हे आर्द्रस्वभावयुक्ताः ।

भक्ति के साथ [तुम को] (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य आप्त विद्वानों से नम्रता पूर्वक मिलकर धर्म-वृद्धि और शिल्प आदि वृद्धि करते रहें ॥ २ ॥

इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध का मिलान करो-पूर्वार्द्ध अ० १ । १५ । २ ॥

रूपंरूपं वयोवयः संरभ्यैनं परि ष्वजे । यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

रूपम्-रूपम् । वयः-वयः । सम्-रभ्य । एनम् । परि । स्वजे ॥ यज्ञम् । इमम् । चतस्रः । प्र-दिशः । वर्धयन्तु । सम्-स्राव्येण हविषा । जुहोमि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रूपंरूपम्) सब प्रकार की सुन्दरता और (वयोवयः) सब प्रकार के बल को (संरभ्य) ग्रहण करके (एनम्) इस (विद्वान्) को (परि ष्वजे) मैं गले लगाता हूं । (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा संगतिकरण और दान] को (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) बड़ी दिशायें (वर्धयन्तु) बढ़ावें, (संस्राव्येण) बहुत कोमलता से भरी हुयी (हविषा) भक्ति के साथ [इस विद्वान् को] (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से उत्तम शिक्षा और बल प्राप्त कर के उनका सत्कार करें जिससे सब दिशाओं में सत्कर्मों की वृद्धि होवे ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से आचुका है—अ० १ । २२ । ३ ॥

सूक्तम् २ ॥

१—५ ॥ आपो देवता ॥ १-३ अनुष्टुप्, ४, ५ निचृदनुष्टुप् ॥

अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

३—(रूपंरूपम्) अ० १ । २२ । ३ । सर्वसौन्दर्य्यम् (वयोवयः) अ० १ । २२ । ३ । सर्वसामर्थ्यम् (संरभ्य) गृहीत्वा (एनम्) विद्वांसम् (परि) सर्वतः (स्वजे) ष्वञ्ज परिष्वङ्गे । आलिङ्गयामि (यज्ञम्) (इमम्) (चतस्रः) (प्रदिशः) प्राच्यादयो महादिशः (वर्धयन्तु) समर्धयन्तु । अन्यत् पूर्ववत्—म० १॥

जलोपकारोपदेशः—जल के उपकार का उपदेश ॥

शं त॒ आपो॑ हैमव॒तीः शमु॑ ते सन्तू॒त्स्याः॑ ।
शं ते॑ सनि॒ष्यदा॒ आपः॒ शमु॑ ते सन्तु व॒र्ष्याः॑ ॥ १ ॥

शम् । ते॒ । आपः॑ । हैम॒ऽव॒तीः । शम् । ऊँ॒ इति॑ । ते॒ । स॒न्तु॒ । उ॒त्स्याः॑ ॥ शम् । ते॒ । स॒नि॒स्यदाः॑ । आपः॑ । शम् । ऊँ॒ इति॑ । ते॒ । स॒न्तु॒ । व॒र्ष्याः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (हैमवतीः) हिम वाले पहाड़ों से उत्पन्न (आपः) जल (शम्) शान्ति दायक, (उ) और (ते) तेरे लिये (उत्स्याः) कूपों से निकले हुये [जल] (शम्) शान्तिदायक (सन्तु) होवें । (ते) तेरे लिये (सनिष्यदाः) शीघ्र बहने वाले (आपः) जल (शम्) शान्तिदायक (उ) और (ते) तेरे लिये (वर्ष्याः) वर्षा से उत्पन्न (जल) (शम्) शान्तिदायक (सन्तु) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रबन्ध करें कि पहाड़ों, कुओं, नदियों और वर्षा के जल स्नान पान, खेती शिल्प आदि के कामों में आते रहें ॥ १ ॥

शं त॒ आपो॑ धन्व॒न्याः॒ ३ शं ते॑ सन्त्वनू॒प्याः॑ ।
शं ते॑ खनि॒त्रिमा॒ आपः॒ शं याः कु॒म्भेभि॒राभृ॑ताः ॥ २ ॥

शम् । ते॒ । आपः॑ । ध॒न्व॒न्याः॑ । शम् । ते॒ । स॒न्तु॒ । अ॒नू॒प्याः॑ ॥ शम् । ते॒ । ख॒नि॒त्रिमाः॑ । आपः॑ । शम् । याः । कु॒म्भेभिः॑ । आऽभृ॑ताः ॥ २ ॥

१—(शम्) शान्तिप्रदाः (ते) तुभ्यम (आपः) जलानि (हैमवतीः) तत आगतः । पा० ४ । ३ । ७४ । इत्यण् । हैमवत्यः । हिमवद्भ्यः पर्वतेभ्य उत्पन्नाः (शम्) (उ) चार्थे (ते) (सन्तु) (उत्स्याः) उत्सः कूपनाम—निघं० ३ । २३ । कूपेषु भवाः (सनिष्यदाः) स्यन्दू प्रस्रवणे—यङ्, अच्, यङ्लुकि निगागमः । सर्वदा स्यन्दमानाः । शीघ्र स्रवन्त्यः (वर्ष्याः) वर्षासु भवाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (धन्वन्याः) निर्जल देश के (आपः) जल (शम्) सुखदायक, और (ते) तेरे लिये (अनूप्याः) सजल स्थान के [जल] (शम्) सुखदायक (सन्तु) होवें। (ते) तेरे लिये (खनित्रिमाः) खनती वा फावड़े से निकाले गये (आपः) जल (शम्) सुखदायक [होवें] और (याः) जो [जल] (कुम्भेभिः) घड़ों से (आभृताः) लाये गये हैं, वे भी (शम्) सुखदायक [होवें] ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० १। ६। ४ ॥

अनभ्रयः खनमाना विप्रा गम्भीरे अपसः ।
भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अच्छा वदामसि ॥ ३ ॥

अनभ्रयः । खनमानाः । विप्राः । गम्भीरे । अपसः ॥
भिषक्-भ्यः । भिषक्-तराः । आपः । अच्छ । वदामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अनभ्रयः) हिंसा न करने वाले, (खनमानाः) खोदते हुये, (विप्राः) बुद्धिमान्, (गम्भीरे) गहरे [कठिन] स्थान में (अपसः) व्यापने वाले (आपः) सब विद्याओं में व्यापक विद्वान् लोग (भिषग्भ्यः) वैद्यों से (भिषक्तराः) अधिक वैद्य हैं, [उनसे, यह जल का विषय] (अच्छ) अच्छे प्रकार

२—(शम्) सुखकारिण्यः (ते) तुभ्यम् (आपः) जलानि (धन्वन्याः) अ० १। ६। ४। धन्वन्-यत्। धन्वनि निर्जलदेशे भवाः (शम्) (ते) (सन्तु) (अनूप्याः) अ० १। ६। ४। अनूपे सजले देशे भवाः (शम्) (ते) (खनित्रिमाः) अ० १। ६। ४। खनित्रेण खननसाधनेन निर्वृत्ताः (आपः) (शम्) (याः) (कुम्भेभिः) घटैः (आभृताः) आहृताः। आनीताः ॥

३—(अनभ्रयः) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्। उ० ४। ६५। नञ्+भ्रम हिंसायाम्—क्रिन्। अहिंसकाः (खनमानाः) खननशीला जिज्ञासवः (विप्राः) मेधाविनः (गम्भीरे) अ० १८। ४। ६२। गहने। कठिनस्थाने (अपसः) आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा। उ० ४। २०८। आप्लृ व्याप्तौ—असुन् ह्रस्वश्च। व्यापनशीलाः (भिषग्भ्यः) वैद्येभ्यः (भिषक्तराः) अधिकचिकित्सकाः (आपः) सर्वविद्याव्यापिनो विपश्चितः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६। १७ (अच्छ)

(वदामसि) हम कहते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् चतुर जिज्ञासु वैद्य लोग बड़े कठिन रोगों में जल का प्रयोग करके उसके गुणों को परस्पर प्रकाश करें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र को मिलान करो—अ० ३ । ७ । ५ तथा—अ० ६ । ६१ । ३ ॥

अपामह दिव्यानामपां स्रोतस्यानाम् ।
अपामह प्रणेजनेऽश्वा भवथ वाजिनः ॥ ४ ॥

अपाम् । अह । दिव्यानाम् । अपाम् । स्रोतस्यानाम् ॥
अपाम् । अह । प्र-नेजने । अश्वाः । भवथ । वाजिनः ॥४॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (अह) निश्चय करके (दिव्यानाम्) आकाश से बरसने वाले (अपाम्) जलों के और (स्रोतस्यानाम्) स्रोतों से निकलने वाले (अपाम्) फैलते हुये (अपाम्) जलों के (प्रणेजने) पोषण सामर्थ्य में, (अह) निश्चय करके तुम (वाजिनः) वेग वाले (अश्वाः) बलवान् पुरुष [वा घोड़ों के समान] (भवथ) हो जाओ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वृष्टि के और नदी कूप आदि के जल की यथावत् चिकित्सा से शरीर में नीरोग, और खेती आदि में उसके प्रयोग से अन्न आदि प्राप्त करके बड़े वेगवान् और बलवान् होवें ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद आया है—अ० १ । ४ । ४ ॥

ता अपः शिवा अपोऽयक्ष्मं करणीरपः ।
यथैव तृप्यते मयस्तास्त आ दत्त भेषजीः ॥ ५ ॥

आभिमुख्येन । सुष्ठु (वदामसि) वदामः । कथयामः ॥

४—(अपाम्) व्यापनशीलानां जलानाम् (अह) विनिग्रहे । निश्चयेन (दिव्यानाम्) दिवि आकाशे भवानाम् (अपाम्) व्यापनशीलानाम् (स्रोतस्यानाम्) स्रोतस्—यत् । स्रोतःसु प्रवाहेषु भवानाम् (अपाम्) जलानाम् (अह) (प्रणेजने) णिजिर् शौचपोषणयोः—ल्युट् । शोधने । पोषणे (अश्वाः) बलवन्तः पुरुषाः । तुरगा इव बलवन्तः (भवथ) शबादेशः । भवत (वाजिनः) वेगवन्तः ॥

ताः । अपः । शिवाः । अपः । अयक्ष्मम्-करणीः । अपः ॥
यथा । एव । तृप्यते । मयः । ताः । ते । आ । दत्त । भेषजीः ॥५

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ताः) उन (शिवाः) मङ्गलकारी (अपः) जलों को, (अयक्ष्मंकरणीः) नीरोगता करने वाले (अपः) जलों को और (ताः) उन (भेषजीः) भय जीतने वाले (अपः) जलों को (आ) सब ओर से (दत्त) उस [परमेश्वर] ने दिया है, (यथा) जिससे (एव) निश्चय करके (ते) तेरे लिये (मयः) सुख (तृप्यते) बढ़े ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने संसार में वृष्टि, नदी, कूप आदि का जल इस लिये दिया है कि मनुष्य जलचिकित्सा करके नीरोग होवें, और खेती शिल्प आदि में प्रयोग से हृष्ट पुष्ट रहें ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३ ॥

१—४ ॥ अग्निर्देवता ॥ १, ३, ४ त्रिष्टुप्; २ भुरिक् त्रिष्टुप् छन्दः ॥

अग्निगुणोपदेशः—अग्नि के गुणों का उपदेश ॥

दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षाद् वनस्पतिभ्यो अध्योषधीभ्यः ।
यत्रयत्र विभृतो जातवेदास्ततं स्तुतो जुषमाणो न एहि ॥१॥

दिवः । पृथिव्याः । परि । अन्तरिक्षात् । वनस्पति-भ्यः । अधि । ओषधीभ्यः ॥ यत्र-यत्र । वि-भृतः । जात-वेदाः । ततः । स्तुतः । जुषमाणः । नः । आ । इहि ॥ १ ॥

५—(ताः) पूर्वोक्ताः (अपः) जलानि (शिवाः) मङ्गलकरीः (अपः) (अयक्ष्मंकरणीः) आढ्यसुभगस्थूल० । पा० ३ । २ । ५६ । अयक्ष्म+करोतेः—ख्युन्, बाहुलकात् । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ मुमागमः । आरोग्यकारिणीः (अपः) (यथा) येन प्रकारेण (एव) निश्चयेन (तृप्यते) वर्धते (मयः) सुखम् (ताः) अपः (ते) तुभ्यम् (आ) समन्तात् (दत्त) डुदाञ् दाने—लङ् । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि । पा० ६ । ४ । ७५ । अडभावः । अदत्त । दत्तवान् स परमेश्वरः (भेषजीः) भयनिवारिकाः ॥

भाषार्थ—(दिवः) सूर्य से, (पृथिव्याः) पृथिवी से, (अन्तरिक्षात् परि) अन्तरिक्ष [मध्यलोक] में से, (वनस्पतिभ्यः) वनस्पतियों [पीपल आदि वृक्षों] से और (ओषधीभ्यः अधि) ओषधियों [अन्न सोमलता आदिकों] में से, और (यत्रयत्र) जहां जहां (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान तू [अग्नि] (विभृतः) विशेष करके धारण किया गया है, (ततः) वहां से (स्तुतः) स्तुति किया गया [काम में लाया गया] और (जुषमाणः) प्रसन्न करता हुआ तू (नः) हमको (आ) आकर (इहि) प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य अग्नि, बिजुली, धूप आदि को सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष, वनस्पतियों, ओषधियों अन्य पदार्थों से ग्रहण करके शरीर की पुष्टि और शिल्प विद्या की उन्नति करें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद आया है—अ० ६। १। १॥

यस्ते॑ अ॒प्सु म॑हि॒मा यो वने॑षु॒ य ओष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व१॒॑न्तः ।
अग्ने॒ सर्वा॑स्त॒न्व१॒॑: सं र॑भस्व॒ ताभि॑र्न॒ एहि॑ द्रविणो॒दा अज॑स्रः॥२॥

यः । ते॒ । अ॒प्ऽसु । म॒हि॒मा । यः । वने॑षु । यः । ओष॑धीषु । प॒शुषु॑ । अ॒प्ऽसु । अ॒न्तः ॥ अग्ने॑ । सर्वाः॑ । त॒न्वः॑ । सम् । र॒भ॒स्व॒ । ताभिः॑ । नः॒ । आ । इ॒हि॒ । द्र॒वि॒णः॒ऽदाः । अज॑स्रः ॥२

भाषार्थ—(यः) जो (ते) तेरा (महिमा) महत्त्व (अप्सु) जलों में, (यः) जो (वनेषु) वनों में, (यः) जो (ओषधीषु) ओषधियों [अन्न सोम-

१—(दिवः) सूर्यात् (पृथिव्याः) भूमेः (परि) सकाशात् (अन्तरिक्षात्) मध्यलोकात् (वनस्पतिभ्यः) पिप्पलादिवृक्षेभ्यः (अधि) सकाशात् (ओषधीभ्यः) अन्नसोमलतादिपदार्थेभ्यः (यत्रयत्र) यस्मिन् यस्मिन् पदार्थे स्थाने वा (विभृतः) विशेषेण धृतः पूर्णः (जातवेदाः) जातेषूत्पन्नेषु वेदो विद्यमानता यस्य सः (ततः) तस्मात् (स्तुतः) प्रशंसितः । प्रयुक्तः (जुषमाणः) जुषी प्रीतिसेवनयोः—शानच् । प्रीणयन् (नः) अस्मान् (आ) आगत्य (इहि) प्राप्नुहि ॥

२—(यः) ते तव (अप्सु) उदकेषु (महिमा) महत्त्वम् । प्रभावः (यः) (वनेषु) अरण्येषु (यः) (ओषधीषु) अन्नसोमलतादिषु (पशुषु)

लता आदि] में, (पशुषु) जीवों में और (अप्सु अन्तः) अन्तरिक्ष के बीच है। (अग्ने) हे अग्नि ! (सर्वाः) सब (तन्वः) उपकार शक्तियों को (सं रभस्व) एकत्र ग्रहण कर और (ताभिः) उन [उपकारशक्तियों] के साथ (द्रविणोदाः) सम्पत्ति दाता (अजस्रः) लगातार वर्तमान तू (नः) हम को (आ) आकर (इहि) प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सब पदार्थों के बीच अग्नि अर्थात् बिजुली आदि के प्रभाव को खोजें और उसकी अनेक उपयोगिताओं को काम में लाकर धन प्राप्त कर सुखी होवें ॥ २ ॥

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश ।
पुष्टिर्या ते मनुष्येषु पप्रथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि ॥ ३ ॥

यः । ते । देवेषु । महिमा । स्वः-गः । या । ते । तनूः । पितृषु । आ-विवेश ॥ पुष्टिः । या । ते । मनुष्येषु । पप्रथे । अग्ने । तया । रयिम् । अस्मासु । धेहि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (ते) तेरी (स्वर्गः) सुख पहुंचाने वाली (महिमा) महिमा (देवेषु) व्यवहार कुशल विद्वानों में, (या) जो (ते) तेरी (तनूः) उपकार शक्ति (पितृषु) पालक ज्ञानियों में (आविवेश) प्रविष्ट हुयी है। और (या) जो (ते) तेरी (पुष्टिः) पुष्टि [वृद्धिक्रिया] (मनुष्येषु) मनन शील पुरुषों में (पप्रथे) फैली है, (अग्ने) हे अग्नि ! [बिजुली आदि] (तया) उस [पुष्टि आदि] से (रयिम्) धन (अस्मासु) हम लोगों में (धेहि)

प्राणिषु (अप्सु) अन्तरिक्षे (अन्तः) मध्ये (अग्ने) हे विद्युदादिपावक (सर्वाः) समस्ताः (तन्वः) उपकृतीः (सं रभस्व) संकलय (ताभिः) तनूभिः । उपकृतिभिः (नः) अस्मान् (आ) आगत्य (इहि) प्राप्नुहि (द्रविणोदाः) सम्पत्तिदाता (अजस्रः) निरन्तरः सन् ॥

३—(यः) (ते) तव (देवेषु) व्यवहारकुशलेषु विद्वत्सु (महिमा) प्रभावः (स्वर्गः) सुखप्रापकः (यः) (ते) तव (तनूः) उपकृतिः (पितृषु) पालकेषु ज्ञानिषु (आविवेश) प्रविष्टवती (पुष्टिः) वृद्धिक्रिया (ते) तव (मनुष्येषु) मननशीलेषु पुरुषेषु (पप्रथे) प्रथिता विस्तृता बभूव (अग्ने) हे

धारण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य को जैसे जैसे अग्नि विद्या के पण्डित संग्राम में तोप आदि, पृथिवी पर रथ आदि, समुद्र में नौका आदि, आकाश में विमान आदि बनाने और चलाने में निपुण और रुग्ण शरीर में ताप पहुंचाने वाले वैद्य प्राप्त होवें, उन से अग्निविद्या ग्रहण करके सुखी होवें ॥ ३ ॥

श्रुत्कर्णाय कवये वेद्याय वचोभिर्वाकैरुप यामि रातिम् ।
यतो भयमभयं तन्नो अस्त्वव देवानां यज हेडो अग्ने ॥ ४ ॥

श्रुत्-कर्णाय । कवये । वेद्याय । वचः-भिः । वाकैः । उप । यामि । रातिम् ॥ यतः । भयम् । अभयम् । तत् । नः । अस्तु । अव । देवानाम् । यज । हेडः । अग्ने ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(श्रुत्कर्णाय) सुनते हुये कानों वाले, (कवये) बुद्धिमान् (वेद्याय) वेदों में निपुण पुरुष के लिये (वचोभिः) वचनों और (वाकैः) वेद वाक्यों द्वारा (रातिम्) धन [अर्थात् अग्निविद्या] को (उप) आदर कर के (यामि) मैं प्राप्त होता हूं । (यतः) जिस से (भयम्) भय [हो], (तत्) उस से (नः) हमें (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (देवानाम्) विद्वानों के (हेडः) क्रोध को (अव यज) दूर कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि शीघ्र सुनने वाले बुद्धिमान् होकर प्रयत्न पूर्वक अग्निविद्या प्राप्त करके ऐसा सुप्रयोग करें, जिस से सब विद्वान्

विद्युदादिपावक (तया) पुष्ट्यादिभिः (रयिम्) धनम् (धेहि) धारय ॥ ४ ॥

४—(श्रुत्कर्णाय) श्रवणशीलकर्णयुक्ताय (कवये) मेधाविने (वेद्याय) तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति यत् । वेदेषु निपुणाय (वचोभिः) वाक्यैः (वाकैः) वेदानामनुवाकैः (उप) पूजायाम् (यामि) प्राप्नोमि (रातिम्) धनम् । अग्निविद्यामित्यर्थः (यतः) यस्मात् कारणात् (भयम्) भयं भवतु (अभयम्) भयराहित्यम् (तत्) तस्मात् (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) (देवानाम्) विदुषाम् (अवयज) दूरीकुरु । नाशय (हेडः) हेड् अनादरे—असुन् । क्रोधम् (अग्ने) हे विद्वन् ॥

लोग उन से प्रसन्न रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—४ ॥ अग्निर्बृहस्पतिश्च देवते ॥ १ विराडतिजगती ; २ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ३ अनुष्टुप् ; ४ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

मेधाजननोपदेशः—बुद्धि बढ़ाने का उपदेश ॥

यामाहु॑तिं प्रथ॒मामथ॑र्वा॒ या जा॒ता या ह॒व्यमकृ॑णो॒ज्जा॒तवे॑दाः ।
तां त॑ ए॒तां प्र॑थ॒मो जो॑हवीमि॒ ताभि॑ष्टु॒प्तो व॑हतु ह॒व्यम॒ग्निर॒ग्नये॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

याम् । आ-हु॑तिम् । प्र॒थ॒माम् । अथ॑र्वा । या । जा॒ता । या । ह॒व्यम् । अकृ॑णोत् । जा॒त-वे॑दाः ॥ ताम् । ते॒ । ए॒ताम् । प्र॒थ॒मः । जो॒ह॒वी॒मि॒ । ताभिः॑ । स्तु॒प्तः । व॒ह॒तु॒ । ह॒व्यम् । अ॒ग्निः । अ॒ग्नये॑ । स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस (आहुतिम्) यथावत् देने लेने योग्य क्रिया [सङ्कल्प शक्ति—म० २] को (अथर्वा) निश्चल परमात्मा ने (प्रथमाम्) सब से पहिली, और (या) जिस (या) प्राप्ति योग्य [संकल्प शक्ति] को (जाता) उत्पन्न [प्रजाओं] के लिये (जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले परमेश्वर ने (हव्यम्) देने लेने योग्य वस्तु (अकृणोत्) बनाया। (ताम्) वैसी (एताम्) इस [संकल्प शक्ति] को (ते) तेरे लिये [हे मनुष्य !] (प्रथमः)

१—(याम्) (आहुतिम्) हु दानादानादनेषु—क्तिन् । समन्ताद् दातव्यग्राह्यक्रियाम् । संकल्पशक्तिम् । आकूतिम्—म० २ (प्रथमाम्) सृष्ट्यादौ वर्तमानाम् (अथर्वा) म० ४ । १ । ७ । अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः—निरु ११ । १८ । नञ् + थर्व चरणे—वनिप् । निश्चलः परमात्मा (या) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति द्वितीयायाः सुः । याम् (जाता) चतुर्थ्याः सुः । जाताभ्यः प्रजाभ्यः (या) या गतिप्रापणयोः—ड । द्वितीयायाः सुः । यां प्राप्तव्याम् (हव्यम्) दातव्यग्राह्यवस्तु (अकृणोत्) अकरोत् (जातवेदाः) जातानामुत्पन्नानां वेत्ता ज्ञाता परमेश्वरः (ताम्) तादृशीम् (ते) तुभ्यम्

सब में पहिला [अर्थात् मुख्य विद्वान्] मैं (जोहवीमि) वारंवार देता हूं, (ताभिः) उन [प्रजाओं] से (स्तुतः) एकत्र किया गया [हृदय में लाया गया] (अग्निः) ज्ञानमय परमात्मा (अग्नये) ज्ञानवान् पुरुष के लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (हव्यम्) देने लेने योग्य पदार्थ (वहतु) प्राप्त करे ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने सब से पहिले सृष्टि की आदि में संकल्प वा विचार शक्ति अर्थात् वेदवाणी प्राणियों के हित के लिये उत्पन्न की है। मनुष्य पूर्ण विद्वान् होकर वेदों का उपदेश करके परमेश्वर की महिमा को प्रकाशित करें ॥ १ ॥

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु । यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥ २ ॥

आ-कूतिम् । देवीम् । सु-भगाम् । पुरः । दधे । चित्तस्य । माता । सु-हवा । नः । अस्तु ॥ याम् । आ-शाम् । एमि । केवली । सा । मे । अस्तु । विदेयम् । एनाम् । मनसि । प्र-विष्टाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवीम्) दिव्य गुण वाली, (सुभगाम्) बड़े ऐश्वर्य वाली, (आकूतिम्) संकल्प शक्ति को (पुरः) आगे (दधे) धरता हूं, (चित्तस्य) चित्त [ज्ञान] की (माता) माता [जननी उत्पन्न करने वाली] वह (नः)

(एताम्) आहुतिम् (प्रथमः) मुख्यो विद्वान् अहम् (जोहवीमि) जुहोतेर्यङ्लुकि रूपम् । वारम्वारं जुहोमि ददामि (ताभिः) जाताभिः प्रजाभिः (स्तुतः) ष्टुप उच्छ्राये—क्त । राशीकृतः । हृदये समाहितः (वहतु) प्रापयतु (हव्यम्) दातव्यग्राह्यपदार्थम् (अग्निः) ज्ञानमयः परमात्मा (अग्नये) ज्ञानवते पुरुषाय (स्वाहा) सुवाण्या ॥

२—(आकूतिम्) अ० ३ । २ । २ । आङ् + कुङ् शब्दे—क्तिन् । संकल्पशक्तिम् (देवीम्) दिव्यगुणवतीम् (सुभगाम्) बह्वैश्वर्ययुक्ताम् (पुरः) अग्रे (दधे) धारयामि (चित्तस्य) मनोविचारस्य । ज्ञानस्य (माता) निर्मात्री जननी (सुहवा) सुष्ठु ह्वातव्या (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) भवतु (याम्) (आशाम्)

हमारे लिये (सुहवः) सहज में बुलाने योग्य (अस्तु) होवे । (याम्) जिस (आशाम्) आशा [कामना] को (एमि) मैं प्राप्त करूं, (सा) वह [आशा] (मे) मेरे लिये (केवली) सेवनीय (अस्तु) होवे, (मनसि) मन में (प्रविष्टाम्) प्रवेश की हुई (एनाम्) इस [आशा] को (विदेयम्) मैं पाऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य दृढ़ संकल्पी होकर ज्ञान को बढ़ावे, जिससे वह जिस शुभ कर्म की आशा मन में करे वह पूरी होवे ॥ २ ॥

आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपा गहि ।
अथो भगस्य नो धेह्यथो नः सुहवो भव ॥ ३ ॥

आ-कूत्या । नः । बृहस्पते । आ-कूत्या । नः । उप । आ । गहि ॥ अथो इति । भगस्य । नः । धेहि । अथो इति । नः । सु-हवः । भव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी विद्याओं के स्वामी पुरुष] (आकूत्या) संकल्प शक्ति के साथ (नः) हमको, (आकूत्या) संकल्प शक्ति के साथ (नः) हम को (उप) समीप से (आ) आकर (गहि) प्राप्त हो । (अथो) और (नः) हमें (भगस्य) ऐश्वर्य का (धेहि) दान कर, (अथो) और भी (नः) हमारे लिये (सुहवः) सहज में पुकारने योग्य (भव) हो ॥ ३ ॥

आ समन्तादश्नुते—अच् । दीर्घाकाङ्क्षाम् । कामनाम् (एमि) प्राप्नोमि (केवली) म० ३ । २५ । ४ । केवृ सेवने—कलच, ङीप् । सेवनीया । असाधारणी (सा) आशा (मे) मह्यम् (अस्तु) (विदेयम्) विद्लृ लाभे—लिङि छान्दसं रूपम् । विन्देयम् । प्राप्नुयाम् (एनाम्) आशाम् (मनसि) हृदये (प्रविष्टाम्) निहिताम् ॥

३—(आकूत्या) म० २ । संकल्पशक्त्या (नः) अस्मान् (बृहस्पते) बृहतीनां विद्यानां स्वामिन् पुरुष (आकूत्या) (नः) अस्मान् (उप) समीपे (आ) आगत्य (गहि) गच्छ । आप्नुहि (अथो) अपि च (भगस्य) ऐश्वर्यस्य (नः) अस्मभ्यम् (धेहि) दानं कुरु, (अथो) अपि च (नः) अस्मभ्यम् (सुहवः) सुष्ठु ह्वातव्यः (भव) ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े बड़े विद्वानों से शिक्षा पाकर शुभ कर्म के लिये दृढ़ संकल्प कर के सहज में सफलता प्राप्त करे ॥ ३ ॥

बृहस्पतिर्म् आकूतिमाङ्गिरसः प्रति जानातु वाचमेताम् । यस्य देवा देवताः संबभूवुः स सुप्रणीताः कामो अन्वेत्वस्मान् ॥४॥

बृहस्पतिः । मे । आ-कूतिम् । आङ्गिरसः । प्रति । जानातु । वाचम् । एताम् ॥ यस्य । देवाः । देवताः । सम्-बभूवुः । सः । सु-प्रनीताः । कामः । अनु । एतु । अस्मान् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आङ्गिरसः) ज्ञानवान् परमेश्वर का सेवक, (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का स्वामी पुरुष] (मे) मेरी (आकूतिम्) संकल्प शक्ति, (एताम्) इस (वाचम्) वाणी को (प्रति) प्रतीति के साथ (जानातु) जाने "(सुप्रणीताः) यथाविधि चलाये गये (देवाः) विद्वानों ने (यस्य) जिस [शुभ कामना] के (देवताः) दिव्य भावों [सूक्ष्मगुणों] को (संबभूवुः) सब प्रकार पाया है; (सः) वह (कामः) शुभ कामना (अस्मान्) हम को (अनु) अनुकूलता से (एतु) प्राप्त होवे" ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष परमेश्वर के भक्त ज्ञानी लोगों के बीच जो प्रतिज्ञा करे उस को अवश्य पूरा करे, क्योंकि सुशिक्षित विद्वानों ने ही सत्य सङ्कल्प के दिव्य गुणों को जानकर मनोरथ सिद्ध किये हैं ॥ ४ ॥

सूक्तम् ५ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

४—(बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां स्वामी पुरुषः (मे) मम (आकूतिम्) सङ्कल्पशक्तिम् (आङ्गिरसः) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इत्यण् । अङ्गिरसो ज्ञानिनः परमेश्वरस्य सेवकः (प्रति) प्रतीत्या (जानातु) (वाचम्) वाणीम् (एताम्) वक्ष्यमाणाम् (यस्य) कामस्य (देवाः) विद्वांसः (देवताः) तस्य भावस्त्वतलौ । पा० ५ । १ । ११९ । इति तल्प्रत्ययः । देवभावान् । दिव्यगुणान् (संबभूवुः) भू प्राप्तौ—लिट् । सम्यक् प्रापुः (सः) तादृशः (सुप्रणीताः) यथाविधिप्रेरिता देवाः (कामः) शुभकामना (अनु) आनुकूल्येन (एतु) प्राप्नोतु (अस्मान्) ॥

राजलक्षणोपदेशः—राजा के लक्षणों का उपदेश ॥

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति ।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद् राध उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥१

इन्द्रः । राजा । जगतः । चर्षणीनाम् । अधि । क्षमि । विषु-रूपम् । यत् । अस्ति ॥ ततः । ददाति । दाशुषे । वसूनि । चोदत् । राधः । उप-स्तुतः । चित् । अर्वाक् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् पुरुष (जगतः) जगत् के बीच (चर्षणीनाम्) मनुष्यों का, और (यत्) जो कुछ (अधि क्षमि) पृथिवी पर (विषुरूपम्) नाना रूप [धन आदि] (अस्ति) है, [उस का भी], (राजा) राजा है । (ततः) इसी कारण से वह (दाशुषे) दाता [आत्मदानी राजभक्त] के लिये (वसूनि) धनों को (ददाति) देता है, [तभी] (उपस्तुतः) समीप से प्रशंसित होकर (चित्) अवश्य (राधः) धन को (अर्वाक्) सन्मुख (चोदत्) प्रवृत्त करे [बढ़ावे] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो राजा अपनी प्रजा की और उसकी सब सम्पत्ति की सुधि रखकर रक्षा करे, और योग्य राजभक्तों का यथोचित धन आदि से सत्कार करे, वही प्रशंसा पाकर राज्य में धन बढ़ा सकता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । २७ । ३ ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (राजा) शासकः (जगतः) संसारस्य मध्ये (चर्षणीनाम्) मनुष्याणाम्—निघ० २ । ३ (अधि) उपरि (क्षमि) आतो धातोः । पा० ६ । ४ । १४० । "आतः" इति योगविभागात् क्षमाशब्दात् सप्तम्येकवचन आकारलोपः । क्षमायाम् । भूम्याम् (विषुरूपम्) नानाविधम् (यत्) यत् किमपि धनादिकम्, तस्य च (अस्ति) भवति (ततः) तस्मात् कारणात् (ददाति) प्रयच्छति (दाशुषे) दात्रे । आत्मसमर्पकाय राजभक्ताय (वसूनि) धनानि (चोदत्) चोदयेत् । प्रेरयेत् । प्रवर्तयेत् (राधः) धनम् (उपस्तुतः) समीपे प्रशंसितः (चित्) अवधारणे (अर्वाक्) अभिमुखम् ॥

॥ सूक्तम् ६ [पुरुषसूक्तम्] ॥

१—१६ ॥ पुरुषो देवता ॥ १, २, ४—६, ८—१६ अनुष्टुप्; ३ भुरिगनुष्टुप्; ७ निचृदनुष्टुप् ॥

सृष्टिविद्योपदेशः—सृष्टिविद्या का उपदेश ॥

स॒हस्र॑बाहुः॒ पुरु॑षः सहस्रा॒क्षः स॒हस्र॑पात् ।
स भूमिं॑ वि॒श्वतो॑ वृ॒त्वात्य॑तिष्ठद्दशाङ्गु॒लम् ॥ १ ॥

स॒हस्र॑-बाहुः । पुरु॑षः । स॒ह॒स्र॒-अ॒क्षः । स॒हस्र॑-पात् ॥ सः । भूमि॑म् । वि॒श्वतः॑ । वृ॒त्वा । अति॑ । अ॒ति॒ष्ठ॒त् । द॒श॒-अ॒ङ्गु॒लम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पुरुषः) पुरुष [अग्रगामी वा परिपूर्ण परमात्मा] (सहस्रबाहुः) सहस्रों भुजाओं वाला, (सहस्राक्षः) सहस्रों नेत्रों वाला और (सहस्रपात्) सहस्रों पैरों वाला है । (सः) वह (भूमिम्) भूमि को (विश्वतः) सब ओर से (वृत्वा) ढक कर (दशाङ्गुलम्) दस दिशाओं में व्याप्ति वाले [वा पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म भूत के अङ्ग वाले] जगत् को (अति) लांघ कर

१—(सहस्रबाहुः) सहस्राणि असंख्याता बाहवो भुजबलानि यस्मिन् सः (पुरुषः) पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्रगतौ, पूरी आप्यायने, पूतौ, यद्वा पॄ पालनपूरणयोः—कुषन् । पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य । यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् । इत्यपि निगमो भवति—निरु० २ । ३ । सर्वत्र परिपूर्णः परमेश्वरः (सहस्राक्षः) बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः० । पा० ५ । ४ । ११३ । इति षच् । सहस्राण्यसंख्यातानि अक्षीणि नेत्रसामर्थ्यानि यस्य सः (सहस्रपात्) संख्यासुपूर्वस्य । पा० ५ । ४ । १४० । इति पादस्य लोपो बहुव्रीहौ । सहस्राणि असंख्याताः पादाः पादसामर्थ्यानि यस्मिन् सः (भूमिम्) भूगोलम् (विश्वतः) सर्वतः । बाह्याभ्यन्तरतः (वृत्वा) आच्छाद्य । व्याप्य (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (अतिष्ठत्) स्थितवान् (दशाङ्गुलम्) तृन्नुदितनिताडिभ्य उलच् तराडश्च । उ० ५ । ८ । अगि गतौ अ॒—अङ्ग पदे लक्षणे च—उलच् । दशसु दिक्षु अङ्गुलं व्यापनं यस्य तत्

(अतिष्ठत्) ठहरा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा में सहस्रों अर्थात् असंख्य भुजाओं, असंख्य नेत्रों और असंख्य पैरों का सामर्थ्य है अर्थात् जो अपनी सर्वव्यापकता से सब इन्द्रियों का काम करके अनेक रचना आदि कर्म करता है। वह जगदीश्वर भूमि से लेकर सकल ब्रह्माण्ड में बाहिर भीतर व्यापक है, सब मनुष्य उस सच्चिदानन्द परमेश्वर की उपासना से आनन्द प्राप्त करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ९० । १ । यजुर्वेद ३१ । १ और सामवेद पू० ६ । १३ । ३ । और समस्त पुरुष सूक्त २२ मन्त्र यजुर्वेद पाठ के अनुसार महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका सृष्टि विद्या विषय में व्याख्यात है ॥

यहां पर निम्न लिखित मन्त्र से मिलान करो—ऋ० १० । ८१ । ३ और यजुर्वेद १७ । १९ ॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

(विश्वतश्चक्षुः) सब ओर नेत्र वाला, (उत) और (विश्वतोमुखः) सब ओर मुख वाला, (विश्वतोबाहुः) सब ओर भुजाओं वाला (उत) और (विश्वतस्पात्) सब ओर पैरों वाला (एकः) अकेला (देवः) प्रकाशस्वरूप परमात्मा (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं रूप बल और पराक्रम से (पतत्रैः) गति शील परमाणु आदि के साथ (द्यावाभूमी) सूर्य और भूमि [आदि लोकों] को (सम्) यथाविधि (जनयन्) उत्पन्न कर के (सम्) यथावत् (धमति) प्राप्त होता है ॥

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः ।
तथा व्यक्रामद् विष्वङ्ङशनानशने अनु ॥ २ ॥

त्रि-भिः । पत्-भिः । द्याम् । अरोहत् । पात् । अस्य । इह । अभवत् । पुनः ॥ तथा । वि । अक्रामत् । विष्वङ् । अशनानशने इत्यशन-अनशने । अनु ॥ २ ॥

यद्वा पञ्चस्थूलपञ्चसूक्ष्मभूतानि दशाङ्गुलान्यङ्गानि यस्य तज्जगत् ॥

भाषार्थ—वह [पुरुष परमात्मा] (त्रिभिः) तीन (पद्भिः) पादों [अंशों] से (द्याम्) [अपने] प्रकाशस्वरूप में (अरोहत्) प्रकट हुआ, (अस्य) इस [पुरुष] का (पात्) एक पाद [अंश] (इह) यहां [जगत् में] (पुनः) बार बार [सृष्टि और प्रलय के चक्र से] (अभवत्) वर्तमान हुआ । (तथा) फिर (विष्वङ्) सर्वव्यापक वह (अशनानशने अनु) खाने वाले चेतन और न खाने वाले जड़ जगत् में (वि) विविध प्रकार से (अक्रामत्) व्याप्त हुआ ॥ २ ॥

भावार्थ—वह परमेश्वर संसार की अपेक्षा तीन चौथाई अर्थात् बहुत ही बड़ा है और इतना बड़ा ब्रह्माण्ड उसके सामर्थ्य का एक चौथायी अर्थात् बहुत थोड़ा अंश है । वह सब चराचर जगत् को उत्पन्न कर के सब में व्याप्त हो रहा है ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ९० । ४, यजुर्वेद ३१ । ४ और सामवेद पू० ६ । १३ । ४ ॥

तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

तावन्तः । अस्य । महिमानः । ततः । ज्यायान् । च । पुरुषः ॥
पादः । अस्य । विश्वा । भूतानि । त्रि-पात् । अस्य । अमृतम् । दिवि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [पुरुष] की (तावन्तः) उतनी [पूर्वोक्त]

२—त्रिभिः (पद्भिः) पादैः । अंशैः (द्याम्) स्वप्रकाशस्वरूपम् (अरोहत्) प्रकटीकृतवान् (पात्) पद गतौ स्थैर्ये च—णिचि क्विप् । पादः । चतुर्थांशः (इह) संसारे (अभवत्) (पुनः) वारम्वारम् । सृष्टिप्रलयरूपचक्रेण (तथा) अनन्तरम् (वि) विविधम् (अक्रामत्) व्याप्नोत् (विष्वङ्) सर्वतोऽञ्चनः । विश्वव्यापनः (अशनानशने) कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । अश भोजने—कर्तरि ल्युट् । भक्षणाभक्षणशीले । चेतनाचेतने द्विप्रकारे जगती (अनु) प्रति ॥

३—(तावन्तः) पूर्वोक्तपरिमाणाः (अस्य) पुरुषस्य (महिमानः)

(महिमानः) महिमायें हैं, (च) और (पुरुषः) यह पुरुष [परिपूर्ण परमात्मा] (ततः) उन [महिमाओं] से (ज्यायान्) अधिक बड़ा है। (अस्य) इस [ईश्वर] का (पादः) पाव [चौथायी अंश] (विश्वा) सब (भूतानि) चराचर पदार्थ हैं, और (अस्य) इस [परमेश्वर] का (अमृतम्) अविनाशी महत्त्व (दिवि) [उसके] प्रकाशस्वरूप में (त्रिपात्) तीन पाव [तीन चौथाई] वाला है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो ईश्वर के चार अंश माने जावें तो अनेक सूर्य, पृथिवी आदि चराचर विचित्र रचना वाला इतना बड़ा जगत् ईश्वर के सामर्थ्य का एक चौथाई अर्थात् बहुत थोड़ा अंश है और उसका अविनाशी सामर्थ्य जगत् की अपेक्षा तीन चौथायी अर्थात् बहुत महान् है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ९० । ३, यजुर्वेद—३१ । ३, सामवेद—पू० ६ । १३ । ६ ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह ॥ ४ ॥

पुरुषः । एव । इदम् । सर्वम् । यत् । भूतम् । यत् । च । भाव्यम् ॥ उत । अमृत-त्वस्य । ईश्वरः । यत् । अन्येन । अभवत् । सह ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (इदम्) यह (सर्वम्) सब है, (च) और (यत्) जो कुछ (भूतम्) उत्पन्न हुआ और (भाव्यम्) उत्पन्न होने वाला है [उसका] (उत) और (अमृतत्वस्य) अमरपन [अर्थात् दुःख रहित मोक्ष

महत्त्वानि (ततः) तेभ्यो महिमभ्यः (ज्यायान्) प्रवृद्धतरः (पुरुषः) म० १ । परिपूर्णः परमेश्वरः (पादः) एकोऽशः (अस्य) पुरुषस्य (विश्वा) सर्वाणि (भूतानि) सत्तावन्ति पदार्थजातानि (त्रिपात्) संख्यासुपूर्वस्य । पा० ५ । ४ । १४० । इति पादस्य लोपो बहुव्रीहौ । त्रयः पादा अंशा यस्य तत् (अस्य) पुरुषस्य (अमृतम्) नाशरहितं महत्त्वम् (दिवि) प्रकाशस्वरूपे ॥

४—(पुरुषः) परिपूर्णः परमात्मा (एव) निश्चयेन (इदम्) वर्तमानं जगत् (सर्वम्) सम्पूर्णम् (यत्) यत् किञ्चित, तस्यापीश्वरः (भूतम्) उत्पन्नम् (यत्) (च) (भाव्यम्) उत्पत्स्यमानम् , तस्यापीश्वरः (उत)

सुख] का, और (यत्) जो कुछ (अन्येन सह) दूसरे [अर्थात् मोक्ष से भिन्न दुःख] के साथ (अभवत्) हुआ है, [उसका भी] (ईश्वरः) शासक (पुरुषः) पुरुष [परिपूर्ण परमात्मा] (एव) ही है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा ही भूत, भविष्यत् वर्तमान और सृष्टि, स्थिति, प्रलय का स्वामी होकर जीवों को उनके कर्मानुसार मोक्ष वा नरक देता है। इस मन्त्र का अर्थ यत् तद् भाव के विचार से किया गया है ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ९० । २ । यजुर्वेद ३१ । २ । और सामवेद—पू० ६ । १३ । ५ ॥

यत् पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन् ।

मुखं॒ किम॑स्य॒ किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ उच्येते ॥ ५ ॥

यत् । पुरु॑षम् । वि । अद॑धुः । कति॒-धा । वि । अ॒क॒ल्प॒य॒न् ॥ मुख॑म् । किम् । अ॒स्य॒ । किम् । बा॒हू इति॑ । किम् । ऊ॒रू इति॑ । पादौ॑ । उ॒च्ये॒ते॒ इति॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (पुरुषम्) पुरुष [परिपूर्ण परमात्मा] को (वि) विविध प्रकार से (अदधुः) उन [विद्वानों] ने धारण किया, (कतिधा) कितने प्रकार से [उसको] (वि) विशेष करके (अकल्पयन्) उन्होंने माना। (अस्य) इस [पुरुष] का (मुखम्) मुख (किम्) क्या [कहा जाता है], (बाहू) दोनों भुजायें (किम्) क्या, (ऊरू) दोनों घुटने और (पादौ) दोनों पांव (किम्) क्या (उच्येते) कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

अपि च (अमृतत्वस्य) मरणकारणस्य दुःखस्य राहित्यस्य । मोक्षसुखस्य (ईश्वरः) अधिष्ठाता । शासकः (यत्) यत् किञ्चित् (अन्येन) भिन्नेन । अमृतत्वाद् मोक्षसुखाद् भिन्नेन नरकेण (अभवत्) (सह) ॥

५—(यत्) यदा (पुरुषम्) म० १ । पूर्णं परमात्मानम् वि) विविधम् (अदधुः) धारितवन्तः । समाहितवन्तः (कतिधा) कतिभिः प्रकारैः (वि) विशेषेण (अकल्पयन्) कल्पितवन्तः । निश्चितवन्तः (मुखम्) मुखस्थापनीयं श्रेष्ठम् (किम्) (अस्य) पुरुषस्य (किम्) (बाहू) भुजाविव बलेन धारकः (किम्) (ऊरू) जङ्घे यथा सर्वमध्ये व्यवहारसाधकः (पादौ) पादाविव गमनागमनेन सेवाशीलः (उच्येते) कथ्येते ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमात्मा के सामर्थ्यों को विचारते हुये कल्पना करें, जैसे मनुष्य के मुखादि अङ्ग शरीर की पुष्टि करते हैं, वैसे ही इस बड़ी सृष्टि में धारण पोषण के लिये ऐसे बड़े परमात्मा के मुख के समान श्रेष्ठ, भुजाओं के समान बल को धारण करने वाला, घुटनों के समान सबके बीच में व्यवहार करने वाला और पावों के समान चल फिर के सेवा करने वाला कौन है ? इसका उत्तर अगले मन्त्र में है ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ९० । ११ और यजुर्वेद ३१ । १० ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत् ।
मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ६ ॥

ब्राह्मणः । अस्य । मुखम् । आसीत् । बाहू इति । राजन्यः । अभवत् ॥ मध्यम् । तत् । अस्य । यत् । वैश्यः । पत्-भ्याम् । शूद्रः । अजायत ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणः) ब्राह्मण [वेद और ईश्वर का जानने वाला मनुष्य] (अस्य) इस [पुरुष] का (मुखम्) मुख (आसीत्) था, (राजन्यः) क्षत्रिय [शासक मनुष्य] (बाहू) [उसकी] दोनों भुजायें (अभवत्) हुआ । (अस्य) इसका (यत्) जो (मध्यम्) मध्य [घुटनों का भाग] है, (तत्) वह (वैश्यः) वैश्य [मनुष्यों का हितकारी] और (पद्भ्याम्) [उसके] दोनों पैरों से (शूद्रः) शूद्र [शोचनीय मूर्ख] (अजायत) उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य के शरीर में अङ्ग के समान परमात्मा की सृष्टि में ब्रह्मचर्य आदि शम दम व्रत से वेद और ईश्वर का जानने वाला मनुष्य ब्राह्मण

६—(ब्राह्मणः) वेदेश्वरवित् (अस्य) पुरुषस्य (मुखम्) मुखमिवोत्तमः (आसीत्) अभवत् (बाहू) भुजाविव बलवीर्ययुक्तः (राजन्यः) क्षत्रियः शासकः (अभवत्) (मध्यम्) मध्याङ्गम् । ऊर्वोरुपलक्षणमेतत् (तत्) मध्यम् (अस्य) पुरुषस्य (यत्) मध्यम् (वैश्यः) विशो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । विश—यत् । विड्भ्यो मनुष्येभ्यो हितः । वेदाध्ययनकृषिवाणिज्यादिवृत्तिकः (पद्भ्याम्) पद्भ्यां गमनागमनव्यवहाराभ्यां सेवाशीलः (शूद्रः) शुचेर्दश्च । उ० २ । १९ । शुच शोके—रक् । दश्चान्तादेशो धातोर्दीर्घश्च । शोचनीयो विद्याहीनो मूर्खो जनः (अजायत) उत्पन्नोऽभवत् ॥

मुख के समान मुख्य सर्व हितकारी, वेदवेत्ता अधिक बल पराक्रम वाला क्षत्रिय भुजाओं के समान रक्षक, वेदज्ञ कृषि व्यापार आदि से धनी होकर मनुष्यों का हित करने वाला पोषक वैश्य शरीर के मध्यभाग घुटनों के तुल्य, और मूर्ख विद्याहीन चल फिर कर सेवा करने वाला शूद्र मनुष्य पैरों के समान उपयोगी है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ९० । १२, यजुर्वेद—३१ । ११॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥ ७ ॥

चन्द्रमाः । मनसः । जातः । चक्षोः । सूर्यः । अजायत ॥ मुखात् । इन्द्रः । च । अग्निः । च । प्राणात् । वायुः । अजायत ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[इस पुरुष के—मन्त्र ६] (मनसः) मन [मनन सामर्थ्य] से (चन्द्रमाः) चन्द्र लोक (जातः) उत्पन्न हुआ, (चक्षोः) नेत्र से (सूर्यः) सूर्य मण्डल (अजायत) उत्पन्न हुआ । (मुखात्) मुख से (इन्द्रः) बिजुली (च) और (अग्निः) आग (च) और (प्राणात्) प्राण से (वायुः) पवन (अजायत) उत्पन्न हुआ ॥ ७ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा से मनन शक्ति और पदार्थपुष्टि और सूर्य से नेत्र में ज्योति होती है, मुख्य ज्योतिर्मय और भक्षण सामर्थ्य वाला होने से मुख का संबन्ध बिजुली और आग से, और जीवन का संबन्ध होने से प्राण का सम्बन्ध वायु से है, ऐसा मनुष्यों को ईश्वर की रची सृष्टि में जानना चाहिये॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ९० । १३ और यजुर्वेद ३१ । १२॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ ८ ॥

७—(चन्द्रमाः) आह्लादस्य निर्माता । चन्द्रलोकः (मनसः) मननसामर्थ्यात् (जातः) उत्पन्नः (चक्षोः) भमृशीङ्तृ० । उ० १ । ७ । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च—उप्रत्ययः । दर्शनशीलाद् नेत्रात् (सूर्यः) लोकानां प्रेरकः प्रकाशमानः सूर्यलोकः (अजायत) उदपद्यत (मुखात्) ज्योतिर्मयाद् भक्षणशीलादिन्द्रियविशेषात् (इन्द्रः) विद्युत् (च) (अग्निः) पावकः (च) (प्राणात्) जीवनसाधकात् पवनात् (वायुः) पवनः (अजायत) ॥

नाभ्याः । आसीत् । अन्तरिक्षम् । शीर्ष्णः । द्यौः । सम् । अवर्तत ॥ पत्-भ्याम् । भूमिः । दिशः । श्रोत्रात् । तथा । लोकान् । अकल्पयन् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[इस पुरुष की] (नाभ्याः) नाभि से (अन्तरिक्षम्) लोकों के बीच का आकाश (आसीत्) हुआ, (शीर्ष्णः) शिर से (द्यौः) प्रकाशयुक्त लोक, और (पद्भ्याम्) दोनों पैरों से (भूमिः) भूमि (सम्) सम्यक् (अवर्तत) वर्तमान हुयी, (श्रोत्रात्) कान से (दिशः) दिशाओं को (तथा) इसी प्रकार (लोकान्) सब लोकों को (अकल्पयन्) उन [विद्वानों] ने कल्पना की ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे नाभि में शरीर की धारण शक्ति है, वैसे ही आकाश में सब लोकों का धारण सामर्थ्य है, जैसे शिर शरीर में ज्ञान और नाड़ियों का केन्द्र है, वैसे ही सूर्य आदि प्रकाशमान लोक अन्य लोकों के प्रकाशक और आकर्षक हैं, जैसे पैर शरीर के ठहरने के आधार हैं वैसे ही भूमि लोक सब प्राणियों के ठहरने का आश्रय है, जैसे शब्द आकाश में सब ओर व्याप कर कानों में आता है, वैसे ही सब पूर्व आदि दिशायें आकाश में सर्वत्र व्यापक हैं। इसी प्रकार परमात्मा ने सब लोकों को रचकर परस्पर सम्बन्ध में रक्खा है ॥ ८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ९० । १४ । और यजुर्वेद ३१ । १३ ॥

विराडग्रे समभवद् विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥ ९ ॥

वि-राट् । अग्रे । सम् । अभवत् । वि-राजः । अधि । पुरुषः ॥

८—(नाभ्याः) नाभिरूपादवकाशमयात् मध्यवर्तिसामर्थ्यात् (आसीत्) (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्त्याकाशम् (शीर्ष्णः) ज्ञानस्य नाडीनां च केन्द्रं शिर इवोत्तमसामर्थ्यात् (द्यौः) प्रकाशयुक्तलोकः (सम्) सम्यक् (अवर्तत) अभवत् (पद्भ्याम्) पादाविव धारणसामर्थ्यात् (भूमिः) आश्रयभूता भूम्यादिलोकाः (श्रोत्रात्) श्रोत्रवदवकाशमयात् सामर्थ्यात् (तथा) तेनैवप्रकारेण (लोकान्) अन्यान् दृश्यमानान् लोकान् (अकल्पयन्) कल्पितवन्तः। निश्चितवन्तः ॥

सः । जातः । अति । अरिच्यत । पश्चात् । भूमिम् । अथो इति । पुरः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अग्रे) पहिले [सृष्टि की आदि में] (विराट्) विराट् [विविध पदार्थों से विराजमान ब्रह्माण्ड] (सम्) यथाविधि (अभवत्) हुआ, (विराजः) विराट् [उस ब्रह्माण्ड] से (अधि) ऊपर [अधिष्ठाता होकर] (पुरुषः) पुरुष [पूर्ण परमात्मा] [प्रकट हुआ]। (सः) वह [पुरुष] (जातः) प्रकट होकर (भूमिम्) भूमि [अर्थात् सब सृष्टि से] (पश्चात्) पीछे को (अथो) और भी (पुरः) आगे को (अति) लांघ कर (अरिच्यत) बढ़ गया ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा ही इस सब विद्यमान सृष्टि का अधिष्ठाता है, वह अनादि अनन्त पुरुष सृष्टि के पीछे और पहिले भी विराजमान रहता है ॥ ९ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ९० । ५, यजुर्वेद—३१ । ५, साम० पू० ६ । १३ । ७ ॥

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १० ॥

यत् । पुरुषेण । हविषा । देवाः । यज्ञम् । अतन्वत ॥ वसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् । ग्रीष्मः । इध्मः । शरत् । हविः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (हविषा) ग्रहण करने योग्य (पुरुषेण) पुरुष [पूर्ण परमात्मा] के साथ [अर्थात् परमात्मा को यजमान मानकर] (देवाः)

९—(विराट्) विविधैः पदार्थैः राजते प्रकाशते स विराट् ब्रह्माण्डरूपः संसारः (अग्रे) सृष्ट्यादौ (सम्) सम्यक् (अभवत्) (विराजः) तस्माद् ब्रह्माण्डात् (अधि) उपरि । अधिष्ठाता सन् (पुरुषः) पूर्णः परमात्मा (सः) पुरुषः (जातः) प्रादुर्भूतः (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (अरिच्यत) अधिकोऽभवत् (पश्चात्) सृष्टिपश्चात् (भूमिम्) सर्वसृष्टिम् (अथो) अपि च (पुरः) पुरस्तात् । सृष्टिपूर्वम् ॥

१०—(यत्) यदा (पुरुषेण) पूर्णेन परमात्मना (हविषा) आदातव्येन ग्राह्येण (देवाः) विद्वांसः (यज्ञम्) ब्रह्माण्डरूपहवनव्यवहारम् (अतन्वत)

विद्वान् लोगों ने (यज्ञम्) यज्ञ [ब्रह्माण्डरूप हवनव्यवहार] को (अतन्वत) फैलाया। (वसन्तः) वसन्त ऋतु (अस्य) इस [यज्ञ] का (आज्यम्) घी, (ग्रीष्मः) ग्रीष्म ऋतु (इध्मः) इन्धन और (शरत्) शरद ऋतु (हविः) हवनद्रव्य (आसीत्) हुआ ॥ १० ॥

भावार्थ—जब विद्वान् लोग इस ब्रह्माण्ड को ऐसे सिद्ध कर रहे हों जैसे कोई मनुष्य यज्ञ कर रहा हो, तो विद्वानों को जानना चाहिये कि सृष्टि के लिये वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु परमात्मा ने ऐसे उपयोगी बनाये हैं जैसे यज्ञ के लिये घृत, समिधा और अन्य हवन सामग्री होते हैं। इस मन्त्र में वसन्त, ग्रीष्म और शरद् तीन ही ऋतुयें वर्ष के माने हैं जैसे ग्रीष्म, वर्षा और शीत तीन ऋतु प्रायः माने जाते हैं ॥ १० ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१०। ९०। ६ और यजुर्वेद में ३१। १४। और इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आचुका है—अथर्व० ७। ५। ४॥

तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रशः।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये ॥ ११ ॥

तम्। यज्ञम्। प्रावृषा। प्र। औक्षन्। पुरुषम्। जातम्। अग्रशः ॥ तेन। देवाः। अयजन्त। साध्याः। वसवः। च। ये ११

भाषार्थ—(ये) जो (देवाः) विद्वान् लोग (साध्याः) साधन करने वाले [योगाभ्यासी] (च) और (वसवः) श्रेष्ठ गुण वाले हैं, उन्होंने (प्रावृषा) बड़े ऐश्वर्य के साथ [वर्तमान] (तम्) उस (यज्ञम्) पूजनीय,

---

विस्तारितवन्तः। कल्पितवन्तः (वसन्तः) ऋतुविशेषः (अस्य) यज्ञस्य (आज्यम्) घृतं यथा (ग्रीष्मः) निदाघकालः (इध्मः) काष्ठं यथा (शरत्) ऋतुविशेषः (हविः) होतव्यं द्रव्यं यथा ॥

११—(तम्) पूर्वोक्तम् (यज्ञम्) पूजनीयम् (प्रावृषा) प्र + वृषु प्रजननैश्वर्ययोः—क्विप्। नहिवृतिवृषि०। पा० ६। ३। ११६। पूर्वपदस्य दीर्घः। प्रकृष्टैश्वर्येण सह वर्तमानम् (प्र) प्रकर्षेण (औक्षन्) उक्ष सेचने। उक्षति वृद्धिकर्मणः—निरु० १२। ९। असिञ्चन्। हृदये शोधितवन्तः। अन्वेषणेन प्राप्तवन्तः (पुरुषम्) पूर्णं परमात्मानम् (जातम्) प्रसिद्धम् (अग्रशः)

(अग्रशः) पहिले से [सृष्टि के पूर्व से] (जातम्) प्रसिद्ध (पुरुषम्) पुरुष [पूर्ण परमात्मा] को (तेन) उस [पुण्य कर्म] से (प्र) भले प्रकार (औक्षन्) सींचा [स्वच्छ किया, खोजा] और (अयजन्त) पूजा ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग योगाभ्यास आदि तप के साथ पुण्य कर्म करके परमात्मा को खोजें और पूजें ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ९० । ७ और यजुर्वेद—३१ । ९ ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये च के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥ १२ ॥

तस्मात् । अश्वाः । अजायन्त । ये । च । के । च । उभयादतः ॥
गावः । ह । जज्ञिरे । तस्मात् । तस्मात् । जाताः । अज-अवयः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(तस्मात्) उस [पुरुष परमात्मा] से (अश्वाः) घोड़े (अजायन्त) उत्पन्न हुये, (च च) और [अन्य गदहा खच्चर आदि भी] (ये) जो (के) कोई (उभयादतः) दोनों ओर [नीचे ऊपर] दांतों वाले हैं। (तस्मात्) उससे (ह) ही (गावः) गौयें बैल [एक ओर दांत वाले पशु] (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये, (तस्मात्) उससे (अजावयः) बकरी भेड़ (जाताः) उत्पन्न हुये ॥ १२ ॥

अग्रतः सृष्टेः प्राक् (तेन) पूर्वोक्तेन पुण्यकर्मणा (देवाः) विद्वांसः (अयजन्त) पूजितवन्तः (साध्याः) अ० ७ । ५ । १ । साधनवन्तः । योगाभ्यासिनः (वसवः) श्रेष्ठाः पुरुषाः (च) (ये) ॥

१२—(तस्मात्) पुरुषात् (अश्वाः) तुरङ्गाः (अजायन्त) उत्पन्नाः (ये) (के) (च) गर्दभखचरादयः (उभयादतः) छन्दसि च । पा० ५ । ४ । १४२ । दन्तस्य दतृभावः । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति दीर्घः । ऊर्ध्वाधोभागयोरुभयोर्दन्तयुक्ताः (गावः) धेनुवृषभाः (ह) एव (जज्ञिरे) उत्पन्नाः (तस्मात्) (तस्मात्) (जाताः) (अजावयः) अजाश्चावयश्च ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने घोड़े गदहे, गौ, बैल बकरी भेड़ आदि उपकारी पशु उत्पन्न किये हैं, सब मनुष्य उसकी आज्ञा का पालन करते रहें ॥१२॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ६० । १० और यजुर्वेद—३१ । ८ ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ १३ ॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्व-हुतः । ऋचः । सामानि । जज्ञिरे ॥
छन्दः । ह । जज्ञिरे । तस्मात् । यजुः । तस्मात् । अजायत १३

भाषार्थ—(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय (सर्वहुतः) सब के दाता [अन्न आदि देने हारे] [पुरुष परमात्मा] से (ऋचः) ऋग्वेद [पदार्थों की गुणप्रकाशकविद्या] के मन्त्र और (सामानि) सामवेद [मोक्षविद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये । (तस्मात्) उससे (ह) ही (छन्दः) अथर्ववेद [आनन्ददायक विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये, और (तस्मात्) उस से (यजुः) यजुर्वेद [सत्कर्मों का ज्ञान] (अजायत) उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने संसार के हित के लिये ऋग्वेदादि चार वेद प्रकाशित किये हैं, सब मनुष्य उन वेदों के अनुकूल चलकर उसकी भक्ति करें ॥ १३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ९० । ९ और यजुर्वेद ३१।७॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ १४ ॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्व-हुतः । सम्-भृतम् । पृषत्-आज्यम् ॥

१३—(तस्मात्) पूर्वोक्तात् पुरुषात् (यज्ञात्) पूजनीयात् (सर्वहुतः) हु दानादानादनेषु—क्विप् । सर्वेभ्योऽन्नादिदातुः सकाशात् (ऋचः) ऋग्वेदस्य पदार्थगुणप्रकाशिकाया विद्याया मन्त्राः (सामानि) सामवेदस्य मोक्षज्ञानस्य मन्त्राः (जज्ञिरे) उत्पन्नाः (छन्दः) असः सुः । छन्दांसि । अथर्ववेदस्य आह्लादकज्ञानस्य मन्त्राः (ह) निश्चयेन (जज्ञिरे) (तस्मात्) (यजुः) यजुर्वेदः । सत्कर्मणां ज्ञानम् (अजायत) ॥

प॒शून् । तान् । च॒क्रे । वा॒य॒व्या॑न् । आ॒र॒ण्याः । ग्रा॒म्याः । च॒ । ये ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय (सर्वहुतः) सब के दानी [अन्न आदि के देने हारे] [पुरुष परमात्मा] से (पृषदाज्यम्) दही, घी [आदि भोग्य पदार्थ] (संभृतम्) सिद्ध किया गया है। उसने (तान्) उन (पशून्) जीवों [दोपाये चौपायों] और (वायव्यान्) पवन में रहने वाले [पक्षी आदियों] को (चक्रे) बनाया, (ये) जो (आरण्याः) वनैले (च) और (ग्राम्याः) ग्राम के रहने वाले हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने जगत् के हित के लिये सब भोग्य पदार्थ और सब वनैले और घरेलू जीव, जैसे मनुष्य, सिंह, बाघ, गाय, बैल तथा गिद्ध, चील, तोता, मैना, कीट, पतङ्ग आदि बनाये हैं, सब लोग उसकी उपासना से आत्मोन्नति करें ॥ १४ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ९० । ८ और यजुर्वेद—३१ । ६ ॥

स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः ।
दे॒वा यद् य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम् ॥ १५ ॥

स॒प्त । अ॒स्य॒ । आ॒स॒न् । प॒रि॒ऽधयः॑ । त्रिः । स॒प्त । स॒म्ऽइध॑ः । कृ॒ताः ॥ दे॒वाः । यत् । य॒ज्ञम् । त॒न्वा॒नाः । अब॑ध्नन् । पुरु॑षम् । प॒शुम् ॥ १५ ॥

१४—(तस्मात्) पूर्वोक्तात् पुरुषात् (यज्ञात्) पूजनीयात् (सर्वहुतः) -म० १३ । सर्वेभ्योऽन्नादिदातुः सकाशात् (संभृतम्) सम्यग् धारितं सम्पादितम् (पृषदाज्यम्) दधिघृतादिभोग्यं वस्तु (पशून्) द्विपदश्चतुष्पदो जीवान् (चक्रे) जनयामास (वायव्यान्) वाय्वृतुपित्रुषसो यत् । पा० ४ । २ । ३१ । वायु—यत् । वायुदेवताकान् । वायुभवान् (आरण्याः) अरण्य—अण् । अरण्ये भवाः (ग्राम्याः) ग्रामाद्यखञौ । पा० ४ । २ । ९४ । ग्राम—यप्रत्ययः । ग्रामे भवाः (च) (ये) ॥

भाषार्थ—(यत्) जब कि (यज्ञम्) [संसार रूप] यज्ञ को (तन्वानाः) फैलाते हुये (देवाः) विद्वानों ने (पशुम्) दर्शनीय (पुरुषम्) पुरुष [पूर्ण परमात्मा] को (अबध्नन्) [हृदय में] बांधा, [तब] (सप्त) सात [तीन काल, तीन लोक अर्थात् सृष्टि स्थिति और प्रलय और एक जीवात्मा] (अस्य) इस [संसार रूप यज्ञ] के (परिधयः) घेरे समान (आसन्) थे, और (त्रिःसप्त) तीन वार सात [इक्कीस अर्थात् पांच सूक्ष्म भूत, पांच स्थूल भूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और एक अन्तःकरण] (समिधः) समिधायें [काष्ठ घृत आदि के समान] (कृताः) किये गये ॥१५॥

भावार्थ—जब विद्वान् लोग परमात्मा का ध्यान करते हुये संसार को यज्ञ समान मानें, तो जैसे यज्ञ के लिये वेदी वा हवन कुण्ड और काष्ठ घृत आदि सामग्री आवश्यक हैं, वैसे ही संसार में सृष्टि के लिये मन्त्रोक्त काल आदि सब पदार्थ आवश्यक होते हैं ॥ १५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ९० । १५ और यजुर्वेद ३१ । १५ ॥

मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः ।
राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि ॥ १६ ॥
मूर्ध्नः । देवस्य । बृहतः । अंशवः । सप्त । सप्ततीः ॥
राज्ञः । सोमस्य । अजायन्त । जातस्य । पुरुषात् । अधि ॥१६

भाषार्थ—(पुरुषात्) पुरुष [पूर्ण परमात्मा] से (अधि) अधिकार

१५—(सप्त) कालत्रयेण, लोकत्रयेण अर्थात् सृष्टिस्थितिप्रलयेन सह जीवात्मा (अस्य) यज्ञस्य (आसन्) (परिधयः) परितः सर्वतो धीयन्ते ये ते । गोलमण्डलस्य परितो वेष्टनरूपाः (त्रिःसप्त) त्रिवारं सप्त, एक विंशतिसंख्याकाः । पञ्च सूक्ष्मभूतानि, पञ्च स्थूलभूतानि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकमन्तःकरणं चेति (समिधः) काष्ठघृतादिसामग्रीभूताः (कृताः) निष्पादिताः (देवाः) विद्वांसः (यत्) यदा (यज्ञम्) संसाररूपं यज्ञम् (तन्वानाः) विस्तृण्वन्तः (अबध्नन्) मनसि धारितवन्तः (पुरुषम्) पूर्णं परमात्मानम् (पशुम्) दर्शनीयम् ॥

१६—(मूर्ध्नः) मस्तकस्थ (देवस्य) प्रकाशमानस्य सूर्यस्य (बृहतः)

पूर्वक (जातस्य) उत्पन्न हुये (बृहतः) बड़े (देवस्य) प्रकाशमान सूर्य के (मूर्ध्नः) मस्तक की (सप्त) सात [वर्ण वाली] (सप्ततीः) नित्य सम्बन्ध वाली [अथवा सात गुणित सत्तर, चार सौ नब्बे अर्थात् असंख्य] (अंशवः) किरणें (राज्ञः) प्रकाशमान (सोमस्य) चन्द्रमा की [किरणें] (अजायन्त) प्रकट हुयी हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—सृष्टिक्रम विचारने वाले विद्वान् लोगों को जानना चाहिये कि परमात्मा के नियम से शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र वर्ण वाली अथवा असंख्य किरणें पृथिवी की अपेक्षा बड़े सूर्य से आकर चन्द्रमा को प्रकाशित करती हैं ॥ १६ ॥

यह मन्त्र अन्य वेदों में नहीं है ॥

सूक्तम् ७ [नक्षत्रसूक्तम्] ॥

१—५ ॥ नक्षत्राणि देवताः ॥ १ निचृत् त्रिष्टुप् ; २, ३, ५ त्रिष्टुप्, ४ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

ज्योतिषविद्योपदेशः—ज्योतिष विद्या का उपदेश ॥

चि॒त्राणि॑ सा॒कं दि॒वि रो॑च॒नानि॑ सरीसृ॒पाणि॒ भुव॑ने ज॒वानि॑ ।
तु॒र्मिशं॑ सुम॒तिमि॒च्छमा॑नो॒ अहा॑नि गी॒र्भिः स॑पर्यामि॒ नाक॑म् ॥ १ ॥

चि॒त्राणि॑ । सा॒कम् । दि॒वि । रो॒च॒नानि॑ । स॒री॒सृ॒पाणि॑ । भुव॑ने । ज॒वानि॑ ॥ तु॒र्मिश॑म् । सु॒ऽम॒तिम् । इ॒च्छमा॑नः । अहा॑नि । गीः॒ऽभिः । स॒प॒र्या॒मि॒ । नाक॑म् ॥ १ ॥

पृथिव्यादिलोकेभ्यो महतः (अंशवः) किरणाः (सप्त) अ० ६ । ५ । १५ शप्यशुभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । षप समवाये—कनिन् तुट् च । शुक्लनीलपीतादिसप्तवर्णाः (सप्ततीः) वहिवस्यर्त्तिभ्यश्चित् । उ० ४ । ६० । षप समवाये-अतिप्रत्ययः, चित्, तुट् च, यथा वेतसशब्देऽपि—उ० ३ । ११८ । छान्दसं रूपम् । सप्ततयः । नित्यपरस्परसम्बद्धाः । अथवा (सप्त सप्ततीः) सप्त सप्ततयः सप्तगुणितसप्ततिसंख्याकाः दशोनपञ्चशतसंख्याकाः । असंख्या इत्यर्थः (राज्ञः) दीप्यमानस्य (सोमस्य) चन्द्रलोकस्य (अजायन्त) प्रादुरभवन् (जातस्य) उत्पन्नस्य (पुरुषात्) पूर्णात् परमेश्वरात् (अधि) अधिकारपूर्वकम् ॥

भाषार्थ—(दिवि) आकाश के बीच (भुवने) संसार में (चित्राणि) विचित्र, (साकम्) परस्पर (सरीसृपाणि) टेढ़े टेढ़े चलने वाले, (जवानि) वेग गति वाले (रोचनानि) चमकते हुये नक्षत्र हैं। (तुर्मिशम्) वेग की ध्वनि [वा समाधि] को और (सुमतिम्) सुमति को (इच्छमानः) चाहता हुआ मैं (अहानि) सब दिन (गीर्भिः) वेदवाणियों से (नाकम्) सुखस्वरूप परमात्मा को (सपर्यामि) पूजता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परस्पर आकर्षण से शीघ्र गति के साथ चलकर यह तारागण संसार का उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्य परमात्मा की महिमा को वेद द्वारा गाते हुये परस्पर मेल करके शीघ्रता के साथ सुमति से अपना कर्त्तव्य करते रहें ॥ १ ॥

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा ।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे ॥ २ ॥

सु-हवम् । अग्ने । कृत्तिकाः । रोहिणी । च । अस्तु । भद्रम् । मृग-शिरः । शम् । आर्द्रा ॥ पुनर्वसू इति पुनः-वसू । सूनृता । चारु । पुष्यः । भानुः । आ-श्लेषाः । अयनम् । मघाः । मे ॥२

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्ने ! [सर्वव्यापक परमात्मन्] (कृत्तिकाः)

१—(चित्राणि) विचित्राणि । अद्भुतानि (साकम्) सह । परस्परम् (दिवि) आकाशे । सूर्यप्रकाशे (रोचनानि) रुच दीप्तावभिप्रीतौ च—युच् । दीप्यमानानि नक्षत्राणि (सरीसृपाणि) सृपेर्यङ्लुगन्तात् पचाद्यच् । नित्यं कौटिल्ये गतौ । पा० ३ । १ । २३ । इति कौटिल्ये—यङ् । वक्रगतीनि (भुवने) संसारे (जवानि) शीघ्रगामीनि । अनुक्षणमावर्त्तमानानि (तुर्मिशम्) तुर त्वरणे—क्विप् + मिश शब्दे रोषकृते समाधौ च—कप्रत्ययः । तुरो वेगस्य मिशं ध्वनिं समाधिं वा (सुमतिम्) कल्याणबुद्धिम् (इच्छमानः) इच्छन् । कामयमानः (अहानि) कालसंयोगे द्वितीया । सर्वाणि दिनानि (गीर्भिः) वेदवाग्भिः (सपर्यामि) परिचरामि —निघ० ३ । ५ । अहं सेवे (नाकम्) सुखस्वरूपं परमात्मानम् ॥

२—(सुहवम्) अ० ३ । २० । ६ । ईषद्दुःसुषु० । पा० ३ । ३ । १२६ ।

कृत्तिकायें (च) और (रोहिणी) रोहिणी (सुहवम्) सुख से बुलाने योग्य [नक्षत्र] (अस्तु) होवे, (मृगशिरः) मृगशिर (भद्रम्) मङ्गलप्रद [नक्षत्र] और (आर्द्रा) आर्द्रा [जलयुक्त](शम्) शान्तिदायक [होवे]। (पुनर्वसू) दो पुनर्वसू और (भानुः) प्रकाशमान (पुष्यः) पुष्य (सुनृता) सुन्दर चेष्टा के साथ (चारु) अनुकूल, और (आश्लेषाः) आश्लेषायें और (मघाः) मघायें (मे) मेरे लिये (अयनम्) सुन्दर मार्ग वाला [नक्षत्र होवे] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य ज्योतिष शास्त्र के द्वारा नक्षत्रों वा तारागणों का परस्पर सम्बन्ध और चन्द्रमा आदि के साथ संसर्ग और अन्न वायु जल आदि

सु+ह्वयतेः—खल्, यद्वा सु+हु दानादानादनेषु—अप्। सुखेनाह्वातव्यं ग्राह्यं वा नक्षत्रम् (अस्तु) हे सर्वव्यापक परमात्मन् (कृत्तिकाः) अ० ४ । ७ । २ । कृतिभिदिलतिभ्यः कित् । उ० ३ । १४७ । कृती छेदने वेष्टने च—तिकन्, टाप् छेदनशीला वेष्टनशीला । अग्निशिखाकृति, षट्तारकामयम्, अश्विन्यादिषु तृतीयनक्षत्रम् (रोहिणी) अ० १ । २२ । ३ । रुहेश्च । उ० २ । ५५ । रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च-इनन्, ङीष् । रोहयति जनयति स्वास्थ्यं या सा । शुक्राकृति, पञ्चतारात्मकम्, अश्विन्यादिषु चतुर्थनक्षत्रम् (च) (अस्तु) (भद्रम्) मङ्गलप्रदम् (मृगशिरः) मृगस्येव शिरो यस्य । बिडालाकृति तारात्रयात्मकं पञ्चमनक्षत्रम् (शम्) सुखप्रदम् (आर्द्रा) अ० १ । ३२ । ३ । अर्देर्दीर्घश्च । उ० २ । १८ । अर्द वधे याचने गतौ च—रक्, दीर्घश्च । क्लेदनस्वभावा, सजला पद्माकृत्युज्ज्वलैकतारकामयं षष्ठनक्षत्रम् (पुनर्वसू) पुनर्+वस—उ । पुनः पुनश्चन्द्रं वसतः । छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम् । पा० १ । २ । ६१ । इति विकल्पकत्वाद् द्विवचनम् । यमकौ, आदित्यौ, पुनर्वसुः । धनुराकृति पञ्चतारात्मकं सप्तमनक्षत्रम् (सुनृता) अ० ३ । १२ । २ । सु+नृती नर्तने-घमर्थे क । विभक्तेराकारादेशः । सुनर्तनेन । सुचेष्टनेन (चारु) मनोहरम् । अनुकूलं नक्षत्रम् (पुष्यः) पुष्यसिद्ध्यौ नक्षत्रे । पा० ३ । १ । ११६ । पुष पुष्टौ—क्यप् । पुष्णाति पदार्थान् सिद्ध्यः । वाणाकृत्येकातारात्मकम् , अष्टमनक्षत्रम् (भानुः) भा दीप्तौ-नु । प्रकाशमानः (आश्लेषाः) आङ् ईषत्+श्लिष आलिङ्गने—घञ् अश्लेषा । चक्राकृति षट्तारात्मकं नवमनक्षत्रम् (अयनम्) अर्श आद्यच् । सुमार्गयुक्तं नक्षत्रम् (मघाः) मह पूजायाम्-घ प्रत्ययः, टाप् । लाङ्गलाकृति गृहाकृति वा पञ्चतारात्मकं दशमनक्षत्रम् ॥

पर उन की गति के प्रभाव को समझ कर परमात्मा की अनन्त शक्ति को विचारते हुये अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ २ ॥

इस मन्त्र में इन नक्षत्रों का वर्णन है। १—कृत्तिकायें [छेदने वाली वा घेरने वाली अर्थात् उग्र स्वभाव वाली, अग्निशिखा—आकृति, छह तारापुञ्ज, अश्विनी नक्षत्र से तीसरा नक्षत्र], २—रोहिणी [स्वास्थ्य उपजाने वाली, शकट—आकृति, पांच तारापुञ्ज, अश्विनी से चौथा नक्षत्र-इसी प्रकार आगे भी अश्विनी से गणना जानो], ३—मृगशिर [मृग के शिर समान शिर वाला, बिडाल—आकृति, तीन तारापुञ्ज, पांचवां नक्षत्र], ४—आर्द्रा [भीजी हुयी वा सजल, पद्म—आकृति, उज्ज्वल, एक तारा, छठा नक्षत्र], ५—दो पुनर्वसु [बार बार नक्षत्रों में रहने हारे, धनुष—आकृति, पांच [वा दो वा चार] तारापुञ्ज, सातवां नक्षत्र], ६—पुष्य [पोषण करने वाला, दूसरा नाम तिष्य, बाण—आकृति, एक तारा, आठवां नक्षत्र], ७—आश्लेषायें [कुछ मिली हुयीं, दूसरा नाम अश्लेषा, चक्र—आकृति छह तारापुञ्ज, नवां नक्षत्र], ८—मघायें [पूजा योग्य, हल वा घर—आकृति, पांच तारापुञ्ज, दशवां नक्षत्र] ॥

पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु । राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम् ॥ ३ ॥

पुण्यम् । पूर्वा । फल्गुन्यौ । च । अत्र । हस्तः । चित्रा । शिवा । स्वाति । सु-खः । मे । अस्तु ॥ राधे । वि-शाखे । सु-हवा । अनु-राधा । ज्येष्ठा । सु-नक्षत्रम् । अरिष्ट । मूलम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अत्र) यहां (पूर्वा) पूर्वा [पहिली] (च) और [उत्तरा वा पिछली] (फल्गुन्यौ) दोनों फल्गुनी (पुण्यम्) पवित्र [नक्षत्र], (हस्तः) हस्त (सुखः) सुख देने वाला और (चित्रा) चित्रा

३—(पुण्यम्) शुद्धं नक्षत्रम् (पूर्वा) पूर्वभवा (फल्गुन्यौ) अ० १४ । १ । १३ । फलेगुक् च । उ० ३ । ५६ । फल निष्पत्तौ—उनन्, गुक् च, ङीप् । फलन्ति कृता यत्र । पूर्वाफल्गुनी उत्तराफल्गुनी च द्वे । फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे । पा० १ । २ । ६० । इति द्विवचनं वा । शकटाकृति ताराकाद्वयात्मकमे-

तथा (स्वाति) स्वाति (शिवा) मङ्गलकारक (मे) मेरे लिये (अस्तु) होवे। (राधे) हे सिद्धि करने वाली ! (विशाखे) विशाखा तू (सुहवा) सुख से बुलाने योग्य [हो], (अनुराधा) अनुराधा और (ज्येष्ठा) ज्येष्ठा [सुख से बुलाने योग्य होवे] और (सुनक्षत्रम्) सुन्दर नक्षत्र (मूलम्) मूल (अरिष्ट) हानि रहित [होवे] ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २ के समान है ॥ ३ ॥

इस मन्त्र में इन नक्षत्रों का वर्णन है । ९—पूर्वाफल्गुनी [पहिली फल्गुनी वा फल उत्पन्न करने वाली, खाट की आकृति, दो तारापुञ्ज, ग्यारहवां नक्षत्र], १०—उत्तराफल्गुनी [पिछली फल्गुनी फल उत्पन्न करने वाली, खाट की आकृति, दो तारापुञ्ज बारहवां नक्षत्र] ११-हस्त, [हाथ की आकृति, पांच तारापुञ्ज, तेरहवां नक्षत्र], १२—चित्रा [विचित्र वा अद्भुत, मोती समान उज्ज्वल, एक तारा, चौदहवां नक्षत्र], १३—स्वाति [अपने आप चलने वाली कुंकुम समान लाल, एक तारा, पन्द्रहवां नक्षत्र], १४—विशाखा [विशेष

कादशनक्षत्रम् (च) उत्तराफल्गुनी, पूर्ववत्, द्वादशनक्षत्रम् (अत्र) अस्मिन् नक्षत्रगणे (हस्तः) हसिमृग्रिण० । उ० ३ । ८६ । हस विकाशे—तन् । हस्ता । हस्ताकृति पञ्चतारात्मकं त्रयोदशनक्षत्रम् (चित्रा) चित्र लेख्ये अद्भुते च—अच्, टाप् । मुक्तावदुज्ज्वलमेकतारात्मकं चतुर्दशनक्षत्रम् (शिवा) मङ्गलकारिणी (स्वाति) स्व+अत सातत्यगमने-इन्, सोलुक् । स्वातिः । स्वेनैवाततीति कुङ्कुमसदृशारुणैकतारात्मकं पञ्चदशनक्षत्रम् (सुखः) सुखप्रदः (मे) मह्यम् (अस्तु) राधे) राध्नोति साधयति कार्याणि, राध संसिद्धौ—अच्, टाप् । हे सिद्धिकारिके । एतद् विशाखा नक्षत्रस्य नामापि (विशाखे) वि+शाखृ व्याप्तौ-अच्, टाप् । विशिष्टाः शाखाः प्रकारा यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ । तोरणाकारचतुस्तारामयं षोडशनक्षत्रम् (सुहवा) सुष्ठु आह्वातव्या (अनुराधा) राधां विशाखामनुगता । सर्पाकृति सप्ततारामयं सप्तदशनक्षत्रम् (ज्येष्ठा) सर्ववृद्धा सर्वश्रेष्ठा वा । शूकरदन्ताकृति तारात्रयात्मकम्, अष्टादशनक्षत्रम् (सुनक्षत्रम्) णक्ष गतौ—अत्रन् । शोभनं गमनशीलं नक्षत्रम् (अरिष्ट) रिष हिंसायाम्—क्त । निष्ठकेलुक् । अरिष्टम् । अहिंसितम् । शुभम् (मूलम्) मूल प्रतिष्ठायाम्—क, यद्वा । मूशक्यविभ्यः क्लः । उ० ४ । १०८ । मूङ् बन्धने—क्ल, सिंहपुच्छाकारं शंखमूर्ति वा नवतारामयम्, ऊनविंशनक्षत्रम् ॥

शाखाओं वाली, इसका नाम (राधा) सिद्धि करने वाली भी है, तोरण वा बड़े द्वार समान आकृति, चार तारापुञ्ज, सोलहवां नक्षत्र], १५—अनुराधा [राधा अर्थात् विशाखा के पीछे चलने वाली, सर्प-आकृति, सात तारापुञ्ज, सत्तरहवां नक्षत्र], १६—ज्येष्ठा [सब से बड़ी वा श्रेष्ठ, सूअर के दांत की आकृति, तीन तारापुञ्ज, अठारहवां नक्षत्र], १७—मूल [वा मूला अर्थात् जड़ समान दृढ़, सिंहपूछ-आकृति वा शंख मूर्ति, नव तारापुञ्ज, उन्नीसवां नक्षत्र] ॥

अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु ।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ॥४॥

अन्नम् । पूर्वाः । रासताम् । मे । अषाढाः । ऊर्जम् । देवी । उत्-तराः । आ । वहन्तु ॥ अभि-जित् । मे । रासताम् । पुण्यम् । एव । श्रवणः । श्रविष्ठाः । कुर्वताम् । सु-पुष्टिम् ॥४॥

भाषार्थ—(पूर्वाः) पूर्वा [पहिली] (अषाढाः) अषाढ़ायें (मे) मेरे लिये (अन्नम्) अन्न (रासताम्) देवें, और (देवी) चमकीली (उत्तराः) उत्तरायें [पिछली अर्थात् उत्तरा-अषाढायें] (ऊर्जम्) पराक्रम (आ वहन्तु) लावें । (अभिजित्) अभिजित् (मे) मेरे लिये (पुण्यम्) पुण्य कर्म (एव) ही (रासताम्) देवे, (श्रवणः) श्रवण और (श्रविष्ठाः) श्रविष्ठायें (सुपुष्टिम्)

४—(अन्नम्) जीवनसाधनं भक्षणीयं पदार्थं वा (पूर्वा) बहुवचनस्यैकवचनम् । पूर्वाः । प्रथमभवाः (रासताम्) रासतीति दानकर्मा—निघ० ३ । २० । रासृ दाने शब्दे च—लोट्, बहुवचनम्, अदादित्वं छान्दसम् । ददतु (मे) मह्यम् (अषाढाः) नञ्+षह मर्षणे-अण्, टाप् । शूर्पाकृति चतुस्तारात्मकं विंशनक्षत्रम् (ऊर्जम्) पराक्रमम (देवी) देव्यः । प्रकाशमानाः (उत्तराः) उत्तरे भवाः । उत्तराषाढाः । शूर्पाकृति ताराचतुष्टयात्मकमेकविंशनक्षत्रम् (अभिजित्) अभि+जि जये-क्विप् । उत्तराषाढायाः शेषपञ्चदशदण्डाः श्रवणायाः प्रथमदण्डचतुष्टयम् एतदूनविंशतिदण्डात्मकं नक्षत्रम्, तारकात्रयात्मकं शृङ्गाटकाकृति (मे) मह्यम् (रासताम्) रासृ दाने, भ्वादिः, आत्मनेपदम् । ददातु । प्रयच्छतु (पुण्यम्) शुभम् (एव) अवधारणे (श्रवणः) श्रु गतौ श्रवणे च—ल्युट् । शराकृति, तारात्रयात्मकं द्वाविंशनक्षत्रम् (श्रविष्ठाः) श्रु

बहुत पुष्टि (कुर्वताम्) करें ॥४॥

भावार्थ—मन्त्र २ के समान है ॥ ४ ॥

इस मन्त्र में इन नक्षत्रों का वर्णन है । १८—पूर्वा—अषाढ़ा [यद्वा पूर्वा—आषाढा=पूर्वाषाढा, सूप—आकृति, चार तारापुञ्ज, बीसवां नक्षत्र], १९—उत्तरा—अषाढ़ा [यद्वा उत्तरा—आषाढा=उत्तराषाढ़ा, सूप—आकृति, चार तारापुञ्ज, इक्कीसवां नक्षत्र], २०—अभिजित् [सब ओर से जीतने वाला, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के शेष पन्द्रह दण्ड और श्रवण नक्षत्र के पहिले चार दण्ड, बत्तीस दण्ड वाला तारा विशेष, सिंगाड़े की आकृति, तीन तारापुञ्ज], २१—श्रवण [यद्वा श्रवण, सुनने वाला वा चलने वाला, तीर की आकृति, तीन तारापुञ्ज, बाइसवां नक्षत्र], २२—श्रविष्ठायें [अत्यन्त विख्यात, यद्वा धनिष्ठा-बहुत धन वाली, मृदङ्ग—आकृति, पांच तारापुञ्ज तेइसवां नक्षत्र]॥

आ मे॑ म॒हच्छ॒तभि॑ष॒ग् वरी॑य॒ आ मे॑ द्व॒या प्रोष्ठ॑पदा सु॒शर्म॑ ।
आ रे॒वती॑ चाश्व॒युजौ॒ भगं॑ म॒ आ मे॑ र॒यिं भर॑ण्य॒ आ व॑हन्तु ॥५॥

आ । मे॒ । म॒हत् । श॒त-भि॑षक् । वरी॑यः । आ । मे॒ । द्व॒या । प्रोष्ठ॑-पदा । सु॒-शर्म॑ ॥ आ । रे॒वती॑ । च॒ । अ॒श्व॒-युजौ॑ । भग॑म् । मे॒ । आ । मे॒ । र॒यिम् । भर॑ण्यः । आ । व॒ह॒न्तु॒ ॥५॥

भावार्थ—(शतभिषक्) शतभिषज् (मे) मेरे लिये (वरीयः) अधिक विस्तृत (महत्) बड़ाई (आ=आ वहतु) लावे, (द्वया) द्विगुनी (प्रोष्ठपदा) प्रोष्ठपदा (मे) मेरे लिये (सुशर्म) बड़ा सुख (आ=आ वहतु) लावे । (रेवती) रेवती (च) और (अश्वयुजौ) दो अश्वयुज (मे) मेरे लिये (भगम्) ऐश्वर्य (आ=आ वहन्तु) लावें, (आ) और (भरण्यः) भरणियें

श्रवणे—अप्, अतः—मतुप्, इष्ठन् । अतिशयेन श्रवणीयाः प्रख्याताः । धनिष्ठा-नक्षत्रम् । मर्दलाकृति पञ्चतारात्मकं त्रयोविंशनक्षत्रम् (कुर्वताम्) कुर्वन्तु (सुपुष्टिम्) बहुवृद्धिम् ॥

५—(आ) आ वहतु (मे) मह्यम् (महत्) महत्त्वम् (शतभिषक्) शतं भिषज इव तारा यत्र । शतभिषा मण्डलाकाराकृति शततारामयं चतुर्विंशनक्षत्रम् (वरीयः) उरुतरम् (आ) आ वहतु (मे) (द्वया) ङीपः स्थाने टाप् । द्विप्रकारा (प्रोष्ठपदा) प्रकृष्टो ओष्ठोऽस्येति प्रोष्ठो गौः, भद्रश्च गौस्तस्येव पादा

(मे) मेरे लिये (रयिम्) धन (आ वहन्तु) लावें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र २ के समान है ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में इन नक्षत्रों का वर्णन है। २३—शतभिषज् [वैद्यों के समान सौ तारा वाला, यद्वा शतभिषा और सायण भाष्य में शतविशाखा, मण्डलाकार—आकृति, सौ तारापुञ्ज, चौबीसवां नक्षत्र]; २४, २५-दोनों प्रोष्ठपदा अर्थात् पूर्वा भाद्रपदा और उत्तरा भाद्रपदा [प्रोष्ठपदा वा भाद्रपदा=बैल वा गौ के समान पांव वाली, पूर्वा भाद्रपदा दाहिनी और बाईं ओर वर्तमान खाट की आकृति दो तारापुञ्ज, उत्तरा भाद्रपदा, खाट की आकृति, आठ तारापुञ्ज], २६—रेवती [चलती हुयी। मछली की आकृति; बत्तीस तारापुञ्ज, सत्ताइसवां नक्षत्र]; २७—दो अश्वयुज् [दो घुड़चढ़े अथवा अश्विनी नक्षत्र, घुड़चढ़े पुरुष के समान आकृति वा घोड़े के मुख समान आकृति, तीन तारापुञ्ज पहिला नक्षत्र]; २८—भरणियां [पालने वाली, त्रिकोण—आकृति, तीन तारापुञ्ज दूसरा नक्षत्र] ॥

संक्षेप मन्त्र २—५ ॥

वेद में २८ नक्षत्र हैं—१ कृत्तिका, २ रोहिणी, ३ मृगशिर, ४ आर्द्रा, ५ पुनर्वसु, ६ पुष्य, ७ आश्लेषा [वा अश्लेषा], ८ मघा, ९ पूर्वा फल्गुनी, १० उत्तरा फल्गुनी, ११ हस्त, १२ चित्रा, १३ स्वाति, १४ विशाषा, १५ अनुराधा, १६ ज्येष्ठा, १७ मूल, १८ पूर्वा—अषाढ़ा, १९ उत्तरा—अषाढ़ा, २० अभिजित्,

---

यस्याः सा । सुप्रातसुश्वसुदिवशारि० । पा० ५ । ४ । १२० । इत्यच् । पूर्वभाद्रपदा नक्षत्रम् । उत्तरभाद्रपदा नक्षत्रं च । पूर्वभाद्रपदा दक्षिणोत्तरवर्ति खट्वाकृति तारकाद्वयात्मकं पञ्चविंशनक्षत्रम् ।। उत्तरभाद्रपदा। पर्यङ्करूपमष्टतारात्मकं षड्विंशनक्षत्रम (सुशर्म) बहुसुखम (रेवती) अ० ३ । ४ । ७ । रेवृ गतौ—अतच्, ङीष् । मत्स्याकृति द्वात्रिंशत् तारात्मकं सप्तविंशनक्षत्रम् (च) (अश्वयुजा) अश्व+युजिर् योगे-क्विप्। अश्वं युनक्ति रूपेणानुकरोति । अश्विनी । अश्वारूढपुरुषस्य रूपयुक्तं यद्वा घोटकमुखाकृति तारात्रयात्मकं प्रथमनक्षत्रम् (भगम्) ऐश्वर्यम् (मे) मह्यम् (आ) चार्थे (मे) (रयिम्) धनम् (भरण्यः) डु भृञ् धारणपोषणयोः ल्युः ङीष्। तारकात्रयमितत्रिकोणाकृति द्वितीयं नक्षत्रम् (आ वहन्तु) आनयन्तु ॥

२१ श्रवण, २२ श्रविष्ठा, [वा धनिष्ठा], २३ शतभिषज् वा शतभिषा, २४ तथा २५ दोनों प्रोष्ठपदा [वा पूर्वा भाद्रपदा और उत्तरा भाद्र-पद], २६ रेवती, २७ दो अश्वयुज् [वा अश्विनी] और २८ भरणी, [सूक्त ८ मन्त्र १, २ भी देखो] ॥

प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थ सूर्य सिद्धान्त अध्याय ८ श्लोक २—९ में अश्विनी से रेवती तक २८ नक्षत्र इस प्रकार हैं। १ अश्विनी, २ भरणी, ३ कृत्तिका, ४ रोहिणी, ५ मृगशिरा, ६ आर्द्रा ७ पुनर्वसु, ८ पुष्य, ९ अश्लेषा, १० मघा, ११ पूर्वाफल्गुनी, १२ उत्तराफल्गुनी, १३ हस्त, १४ चित्रा, १५ स्वाती, १६ विशाखा, १७ अनुराधा, १८ ज्येष्ठा, १९ मूल [वा मूला], २० पूर्वाषाढ़ा, २१ उत्तराषाढ़ा, २२ अभिजित्, २३ श्रवण, २४ धनिष्ठा [वा श्रविष्ठा], २५ शतभिषा [वा शतभिषज्], २६ पूर्वभाद्रपदा, २७ उत्तरभाद्रपदा, २८ रेवती ॥

शब्दकल्पद्रुम कोश में पूर्वोक्त अश्विनी से रेवती तक २७ और २८ वां अभिजित् है। महर्षि दयानन्द कृत संस्कार विधि नाम करण प्रकरण की टिप्पणी में अश्विनी से रेवती तक २७ नक्षत्र हैं, अभिजित् नहीं है ॥

सूक्तम् ८ ॥

१–७ अग्निः सविता ब्रह्मणस्पतिर्वा देवता ॥ १ विराडार्षी जगती; २ निचृदार्षी त्रिष्टुप्; ३ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; ४ निचृदनुष्टुप्; ५, ६ अनुष्टुप्; ७ आर्ची गायत्री ॥

सुखप्राप्त्युपदेशः—सुख की प्राप्ति का उपदेश ॥

मन्त्रौ १,२ [नक्षत्रसूक्तम्] ॥

यानि नक्षत्राणि दिव्य१न्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु ॥१

यानि । नक्षत्राणि । दिवि । अन्तरिक्षे । अप्-सु । भूमौ । यानि । नगेषु । दिक्षु ॥ प्र-कल्पयन् । चन्द्रमाः । यानि । एति । सर्वाणि । मम । एतानि । शिवानि । सन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यानि) जिन (नक्षत्राणि) नक्षत्रों [चलने वाले लोकों] को (दिवि) आकाश के भीतर (अन्तरिक्षे) मध्यलोक में, (यानि) जिन

१—(यानि) (नक्षत्राणि) गमनशीलान् लोकान् (दिवि) आकाशे (अन्तरिक्षे) मध्यलोके (अप्सु) उदकानामुपरि (भूमौ) भूमेरुपरि (यानि)

[नक्षत्रों] को (अप्सु) जल के ऊपर और (भूमौ) भूमि के ऊपर और (यानि) जिन [नक्षत्रों] को (नगेषु) पहाड़ों के ऊपर (दिक्षु) सब दिशाओं में (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (प्रकल्पयन्) समर्थ करता हुआ (याति) चलता है, (एतानि) यह (सर्वाणि) सब [नक्षत्र] (मम) मेरे (शिवानि) सुख देने हारे (सन्तु) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जो नक्षत्र [सूक्त ७] अपने तारागणों के साथ चन्द्रमा के आकर्षण और गति मार्ग में घूम कर वायु द्वारा जल पृथिवी आदि पर प्रभाव डाल कर अन्न स्वास्थ्य आदि बढ़ाने का कारण हैं, विद्वान् लोग उन नक्षत्रों के ज्योतिष ज्ञान से दूरदर्शी होकर विघ्नों को हटा कर सुख पावें ॥ १ ॥

अ॒ष्टा॒वि॒ंशानि॑ शि॒वानि॑ श॒ग्मानि॑ स॒ह योगं॑ भजन्तु मे । योग॒ं प्र प॑द्ये॒ क्षेमं॑ च॒ क्षेमं॒ प्र प॑द्ये॒ योगं॑ च॒ नमो॑ऽहोरा॒त्राभ्या॑मस्तु ॥ २ ॥

अ॒ष्टा॒ऽवि॒ंशानि॑ । शि॒वानि॑ । श॒ग्मानि॑ । स॒ह । योग॑म् । भ॒ज॒न्तु॒ । मे॒ ॥ योग॑म् । प्र । प॒द्ये॒ । क्षेम॑म् । च॒ । क्षेम॑म् । प्र । प॒द्ये॒ । योग॑म् । च॒ । नमः॑ । अ॒हो॒रा॒त्राभ्या॑म् । अ॒स्तु॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अष्टाविंशानि) प्रत्येक अट्ठाईसवें [नक्षत्र] (शिवानि) कल्याण कारक और (शग्मानि) सुखदायक होकर (सह) मेल के साथ (मे) मुझ को (योगम्) प्राप्ति सामर्थ्य (भजन्तु) देवें । (योगम्) प्राप्ति सामर्थ्य को (च) और (क्षेमम्) रक्षा सामर्थ्य को [अर्थात् पाने के सामर्थ्य के साथ

नक्षत्राणि (नगेषु) पर्वतानामुपरि (दिक्षु) सर्वासु दिक्षु (प्रकल्पयन्) समर्थानि कुर्वन् । प्रोत्साहयन् (चन्द्रमाः) चन्द्रलोकः (यानि) नक्षत्राणि (एति) गच्छति (सर्वाणि) (मम) (एतानि) नक्षत्राणि (शिवानि) सुखकराणि (सन्तु) भवन्तु ॥

२—(अष्टाविंशानि) तस्य पूरणे डट् । पा० ५ । २ । ४८ । अष्टाविंशति-डट् पूरणार्थे । ति विंशतेर्डिति । पा० ६ । ४ । १४२ । इति तिलोपः । द्व्यष्टनः संख्यायाम० । पा० ६ । ३ । ४७ । इति अष्टशब्दस्य आत्वम् । प्रत्येकमष्टाविंशतेः संख्यायाः पूरणानीति सर्वाणि अष्टाविंशानीति (शिवानि) कल्याणकारकाणि (शग्मानि) सुखकारकाणि (सह) साकम् (योगम्) प्राप्ति-

रक्षा के सामर्थ्य को] (प्र पद्ये) मैं पाऊं, और (क्षेमम्) रक्षा सामर्थ्य को (च) और (योगम्) प्राप्ति सामर्थ्य को [अर्थात् रक्षा के सामर्थ्य के साथ पाने के सामर्थ्य को] (प्र पद्ये) मैं पाऊं, [और मुझे] (अहोरात्राभ्याम्) दोनों दिन राति के लिये (नमः) अन्न (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—सूक्त ७ में कृत्तिकाओं से लेकर भरणियों तक अट्ठाईस नक्षत्र बताये हैं। यह मन्त्र कहता है कि वे नक्षत्र चन्द्रमा के मार्ग में चक्र बना कर घूमते हैं। इसलिये जिस किसी एक नक्षत्र को ध्रुव मान कर गणना करें तो प्रत्येक अन्तिम नक्षत्र अट्ठाईसवां होता है, जैसे वेद में कृत्तिकाओं से लेकर भरणी, और लोक में अश्विनी से लेकर रेवती अट्ठाईसवां नक्षत्र है। मनुष्यों को योग्य है कि नक्षत्रों की कुचाल से जो दुर्भिक्ष, वायु की अशुद्धि आधिदैविक विपत्तियां पृथिवी पर सूझ पड़ें उनके निवारण के लिये अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करते रहें ॥ २ ॥

महर्षि दयानन्द के अनुसार अर्थ—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका उपासना विषय ॥

हे परमेश्वर ! (अष्टाविंशानि) अट्ठाईस [दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन बुद्धि, चित्त, अहंकार विद्या, स्वभाव, शरीर और बल] (शिवानि) कल्याण कारक और (शग्मानि) सुखकारक होकर (सह) एक साथ (मे) मेरे (योगम्) उपासना योग को (भजन्ताम्) सेवन करें। (योगम्) उस योग को (च) और (क्षेमम्) रक्षा को [अर्थात् योग के द्वारा रक्षा को] (प्र पद्ये) मैं प्राप्त होऊं और (क्षेमम्) रक्षा को (च) और (योगम्) योग को [अर्थात् रक्षा से योग को] (प्र पद्ये) मैं प्राप्त होऊं, [इसलिये मेरा तुझ को] (अहोरात्राभ्याम्) दिन राति (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥

स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु । सुहवमग्ने स्वस्त्यं १ मर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन् ॥ ३ ॥

सामर्थ्यम् । उपासनायोगम् (भजन्तु) विभक्तं कुर्वन्तु । सेवन्ताम् (मे) मह्यम् । मम (योगम्) (प्र पद्ये) प्राप्नुयाम् (क्षेमम्) रक्षासामर्थ्यम् (च) (क्षेमम्) (प्र पद्ये) (योगम्) (च) (नमः) अन्नम्—निघ० २ । ७ । नमस्कारः (अहोरात्राभ्याम्) अहोरात्रे अनुकूलयितुम् । दिवसे रात्रौ च (अस्तु) भवतु ॥

स्वस्तितम् । मे । सु-प्रातः । सु-सायम् । सु-दिवम् । सु-मृगम् । सु-शकुनम् । मे । अस्तु ॥ सु-हवम् । अग्ने । स्वस्ति । अमर्त्यम् । गत्वा । पुनः । आय । अभि-नन्दन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सुप्रातः) सुन्दर प्रातःकाल, (सुसायम्) सुन्दर सायंकाल और (सुदिवम्) सुन्दर दिन (मे) मेरे लिये (सुमृगम्) सुन्दर पशुओं का झुण्ड तथा (सुशकुनम्) सुन्दर पक्षियों का समूह (मे) मेरे लिये (स्वस्तितम्) आनन्द [वा सुन्दर सत्ता] फैलाने वाला (अस्तु) होवे। (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् ! (सुहवम्) सुन्दर ग्रहण योग्य और (अमर्त्यम्) अमर [अनश्वर] (स्वस्ति) आनन्द [वा सुन्दर सत्ता] (गत्वा = गमयित्वा) प्राप्त कराकर (अभिनन्दन्) अभिनन्दन [मान] करता हुआ तू (पुनः) अवश्य करके (आय) प्राप्त हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पदार्थों के ज्ञान और उपयोग से अपने समय को और अपनी सत्ता को सुधारते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त होकर स्थिर सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम् ।
सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान् परा तान्त्सवितः सुव ॥ ४ ॥

अनु-हवम् । परि-हवम् । परि-वादम् । परि-क्षवम् ॥ सर्वैः । मे । रिक्त-कुम्भान् । परा । तान् । सवितः । सुव ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अनुहवम्) विवाद (परिहवम्) बकवाद (परिवादम्)

३—(स्वस्तितम्) स्वस्ति+तनु विस्तारे—ड । आनन्दस्य सुसत्ताया वा विस्तारकम् (मे) मह्यम् (सुप्रातः) शोभनः प्रातःकालः (सुसायम्) शोभनः सायङ्कालः (सुदिवम्) शोभनं दिनम् (सुमृगम्) स नपुंसकम् । पा० २ । ४ । १७ । इति समाहारे नपुंसकम् । शोभनानां पशूनां समाहारः (सुशकुनम्) शोभनानां पक्षिणां समाहारः (मे) मम (अस्तु) भवतु (सुहवम्) हु दानादानादनेषु—अप् । सुग्राह्यम् (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् (स्वस्ति) कल्याणम् । शोभनम् । अस्तित्वम् (अमर्त्यम्) मरणरहितम् । अनश्वरम् (गत्वा) अन्तर्गतण्यर्थः । गमयित्वा (पुनः) अवश्यम् (आय) आङ्+अय गतौ—लोट्, परस्मैपदम् । आगच्छ । प्राप्नुहि (अभिनन्दन्) मानं हर्षं वा कुर्वन् ॥

४—(अनुहवम्) ह्वः संप्रसारणं च न्यभ्युपविषु । पा० ३ । ३ । ७२ ।

अपवाद और (परिक्षवम्) नाक के फुरफुराहट, (तान्) इन (रिक्तकुम्भान्) रीते घड़ों [निकम्मे कामों] को (मे) मेरे (सर्वैः) सब [दोषों] सहित, (सवितः) हे सर्व प्रेरक परमात्मन् ! (परा सुव) दूर कर दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक दोषों को विचार कर परमेश्वर की उपासना करके दूर करे॥ ४ ॥

इस मन्त्र का कुछ मिलान करो—अ० १० । ३ । ६ ॥

अपपापं परिक्षवं पुण्यं भक्षीमहि क्षवम् ।
शिवा ते पाप नासिकां पुण्यगश्चाभि मेहताम् ॥ ५ ॥

अप-पापम् । परि-क्षवम् । पुण्यम् । भक्षीमहि । क्षवम् ॥ शिवा । ते । पाप । नासिकाम् । पुण्य-गः । च । अभि । मेहताम् ॥५॥

भाषार्थ—(अपपापम्) बहुत दोषयुक्त (परिक्षवम्) नाक के फुरफुराहट को [हे परमात्मन् ! दूर कर दे—म० ४], (पुण्यम्) शुद्ध [निर्दोष] (क्षवम्) छींक को (भक्षीमहि) हम भोगें। (पाप) हे पापी ! [रोगी वा दोषी] (ते) तेरी (नासिकाम्) नासिका [आदि इन्द्रियों] को (शिवा) कल्याण कारक [क्रिया] (च) और (पुण्यगः) पवित्रता पहुंचाने वाला [व्यवहार] (अभि) सब ओर से (मेहताम्) सींचे [शोधे] ॥ ५ ॥

अनु+ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च—अप् संप्रसारणं च बाहुलकात्। विवादम् (परिह्वम्) परि+ह्वयतेः—अप् संप्रसारणं च । वक्रवादम् (परिवादम्) अपवादम् (परिक्षवम्) अ० १० । ३ । ६ । टुक्षु नासाशब्दे—अप् । नासातो वायुनिसरणजन्यशब्दम् (सर्वैः) सर्वदोषैः (मे) मम (रिक्तकुम्भान्) शून्य कलशान् । व्यर्थव्यवहारान् (परा) दूरे (तान्) पूर्वोक्तान् (सवितः) हे सर्व-प्रेरक परमात्मन् (सुव) षू प्रेरणे । प्रेरय ॥

५—(अपपापम्) बहुदोषयुक्तम् (परिक्षवम्) म० ४ । नासातो वायु-निसरणजन्यशब्दम्—सवितः परासुव इति पूर्वेणान्वयः (पुण्यम्) पवित्रम् । श्रेयस्करम् । निर्दोषम् (भक्षीमहि) भज सेवायाम्—आशीर्लिङि । सेविषीमहि लप्सीमहि (क्षवम्) नासिकाशब्दम् (शिवा) शुभा क्रिया (ते) तव (पाप) हे पापिन् रोगिन् दोषिन् वा (नासिकाम्) (पुण्यगः) शुद्धिप्रापको व्यवहारः (च) (अभि) सर्वतः (मेहताम्) सिञ्चतु । शोधयतु ॥

भावार्थ—मनुष्य अशुद्धिकारक, रोगजन्य छींक आदि दोषों को हटा-कर उत्तम उत्तम व्यवहारों और चेष्टाओं से इन्द्रियों को प्रबल करके सुखी होवें ॥ ५ ॥

इमा या ब्रह्मणस्पते विषूचीर्वात ईरते ।
सध्रीचीरिन्द्र ताः कृत्वा मह्यं शिवतमास्कृधि ॥ ६ ॥

इमाः । याः । ब्रह्मणः । पते । विषूचीः । वातः । ईरते ॥
सध्रीचीः । इन्द्र । ताः । कृत्वा । मह्यम् । शिव-तमाः । कृधि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणःपते) हे ब्रह्माण्ड के स्वामी परमात्मन् ! (इमाः) इन (याः) जिन (विषूचीः) विविध फैली हुयी [दिशाओं] को (वातः) पवन (ईरते) पहुंचाता है । (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर ! (ताः) उनको (सध्रीचीः) परस्पर पूजनीय (कृत्वा) करके (मह्यम्) मेरे लिये (शिवतमाः) अत्यन्त सुखकारिणी (कृधि) कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—पूर्वादि सब दिशाओं में वायु, जल आदि पदार्थ परिपूर्ण हैं, मनुष्य सर्वत्र परमात्मा के विचार के साथ परस्पर सहाय करके सुख प्राप्त करें ॥६॥

स्वस्ति नो अस्त्वभयं नो अस्तु नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ ७ ॥

स्वस्ति । नः । अस्तु । अभयम् । नः । अस्तु । नमः । अहो-रात्राभ्याम् । अस्तु ॥ ७ ॥

भावार्थ—[हे परमात्मन् !] (नः) हमारे लिये (स्वस्ति) कल्याण [सुन्दर

६—(इमाः) परिदृश्यमानाः (याः) (ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्माण्डस्य स्वामिन् परमात्मन् (विषूचीः) विष्वगञ्चनाः । विविधव्यापिका दिशाः (वातः) वायुः (ईरते) भौवादिकः । गच्छति । प्राप्नोति (सध्रीचीः) सह+अञ्चतेः—क्विन्, ङीप्, सहस्य सध्रि आदेशः । परस्परपूजनीयाः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (ताः) दिशः (कृत्वा) विधाय (मह्यम्) मदर्थम् (शिवतमाः) अत्यर्थं सुखकारिणीः (कृधि) कुरु ॥

७—(स्वस्ति) कल्याणम् । सु ष्ठु अस्तित्वम् (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु)

सत्ता] (अस्तु) होवे (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, [हमें] (अहोरात्राभ्याम्) दोनों दिन राति के लिये (नमः) अन्न (अस्तु) होवे॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी सत्ता को सुधार कर सदा निर्भय होकर अन्न आदि प्राप्त करें ॥ ७ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद—म० २ में आया है ॥

सूक्तम् ९ [शान्तिसूक्तम्] ॥

१—१४ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ १, २, ७ भुरिगनुष्टुप् ; ३, ४, ६, ८, १० अनुष्टुप् ; ५ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ; ९ आर्षी त्रिष्टुप् ; ११ निचृदनुष्टुप् ; १२ निचृद्दृष्टिः ; १३ स्वराडनुष्टुप् ; १४ संकृतिः ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्यों को कर्तव्य का उपदेश ॥

शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम् ।
शान्ता उदुन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥ १ ॥

शान्ता । द्यौः । शान्ता । पृथिवी । शान्तम् । इदम् । उरु । अन्तरिक्षम् ॥ शान्ताः । उदन्वतीः । आपः । शान्ताः । नः । सन्तु । ओषधीः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यौः) प्रकाशमान [सूर्य आदि की विद्या] (शान्ता) शान्तियुक्त, (पृथिवी) चौड़ी [पृथिवी आदि] (शान्ता) शान्तियुक्त, (इदम्) यह (उरु) चौड़ा (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती आकाश (शान्तम्) शान्तियुक्त [होवे] । (उदन्वतीः) उत्तम जल वाली (आपः) फैली हुई नदियां (शान्ताः)

भवतु (अभयम्) भयराहित्यम् (नः) (अस्तु) । अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

१—(शान्ता) शमु उपशमे—क्त। शान्तियुक्ता (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यादिलोकः (शान्ता) (पृथिवी) विस्तीर्णो भूम्यादिलोकः (शान्तम्) शान्तियुक्तम् (इदम्) दृश्यमानम् (उरु) विस्तीर्णम् (अन्तरिक्षम्) मध्ये वर्तमानमाकाशम् (शान्ताः) (उदन्वतीः) अ० १८ । २ । ४८ । उदकस्य उदन् मतौ, प्रशंसायां मतुप् । उदन्वत्यः । प्रशस्तजलाः (आपः) व्यापिका नद्यः (शान्ताः) (नः)

शान्तियुक्त और (ओषधीः) ओषधियां [अन्न सोमलता आदि] (नः) हमारे लिये (शान्ताः) शान्तियुक्त (सन्तु) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि प्रकाशविद्या, भूमिविद्या, आकाशविद्या, जलविद्या, अन्न, ओषधि आदि की अनेक विद्याओं को प्राप्त करके संसार को सुख पहुंचावें ॥ १ ॥

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् ।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥ २ ॥

शान्तानि । पूर्व-रूपाणि । शान्तम् । नः । अस्तु । कृत-अकृतम् ॥ शान्तम् । भूतम् । च । भव्यम् । च । सर्वम् । एव । शम् । अस्तु । नः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पूर्वरूपाणि) पूर्व रूप [आरम्भ के चिह्न] (शान्तानि) शान्तियुक्त, (कृताकृतम्) किया हुआ और न किया हुआ [मन में विचारा हुआ कर्म] (नः) हमारे लिये (शान्तम्) शान्तियुक्त (अस्तु) होवे । (भूतम्) बीता हुआ (च) और (भव्यम्) होने वाला (शान्तम्) शान्तियुक्त (च) और (सर्वम्) सब (एव) ही (नः) हमारे लिये (शम्) शान्तियुक्त (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—यह कार्य कैसे हुआ वा कैसे होगा, हम ने किया है वा करना विचारा है, उस का फल क्या होगा, पूर्वजों के कर्म का क्या फल हुआ, आगे क्या होगा, ऐसा सोचकर मनुष्य उचित कर्तव्य करता हुआ आनन्द प्राप्त करे ॥ २ ॥

अस्मभ्यम् (सन्तु) (ओषधीः) वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति यणादेशाभावे पूर्वसवर्णदीर्घः । ओषध्यः । अन्नसोमलतादयः ॥

२—(शान्तानि) शान्तियुक्तानि । सुखकराणि (पूर्वरूपाणि) प्रथमलक्षणानि । आरम्भचिह्नानि (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) (कृताकृतम्) कृतं निष्पादितम् अकृतमनिष्पादितं मनसि निर्धारितं कर्म (शान्तम्) (भूतम्) अतीतम् (च) (भव्यम्) भविष्यत् । अनागतम् (च) (सर्वम्) (एव) निश्चयेन (शम्) शान्तिकरम् (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् ॥

इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता ।
यथैव ससृजे घोरं तथैव शान्तिरस्तु नः ॥ ३ ॥

इयम् । या । परमे-स्थिनी । वाक् । देवी । ब्रह्म-संशिता ॥
यथा । एव । ससृजे । घोरम् । तथा । एव । शान्तिः । अस्तु । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (या) जो (परमेष्ठिनी) सर्वोत्कृष्ट परमात्मा में ठहरने वाली, (देवी) उत्तमगुण वाली (वाक्) वाणी (ब्रह्मसंशिता) वेदज्ञान से तीक्ष्ण की गयी है, और (यथा) जिस [वाणी] के द्वारा (एव) ही (घोरम्) घोर [भयङ्कर पाप] (ससृजे) उत्पन्न हुआ है, (तथा) उस [वाणी] के द्वारा (एव) ही (नः) हमारे लिये (शान्तिः) शान्ति [धैर्य, आनन्द] (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस वाणी के द्वारा वेदों को विचार कर परमात्मा को पहुंचते हैं, यदि उस वाणी द्वारा कोई अनर्थ होवे, विद्वान् मनुष्य उस भूल को उचित व्यवहार से सुधार कर शान्ति स्थापित करे ॥ ३ ॥

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम् ।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥ ४ ॥

इदम् । यत् । परमे-स्थिनम् । मनः । वाम् । ब्रह्म-संशितम् ॥
येन । एव । ससृजे । घोरम् । तेन । एव । शान्तिः । अस्तु । नः ॥ ४ ॥

३—(इयम्) दृश्यमाना (या) (परमेष्ठिनी) परमे कित् । उ० ४ । १० । परम+ष्ठा गतिनिवृत्तौ—इनि कित्, ङीप्, सप्तम्या अलुक् षत्वं च । परमे सर्वोत्कृष्टे परमात्मनि स्थितिशीला (वाक्) वाणी (देवी) दिव्यगुणा (ब्रह्मसंशिता) ब्रह्मणा वेदज्ञानेन सम्यक् तीक्ष्णीकृता उत्तेजिता (यथा) वाचा (एव) निश्चयेन (ससृजे) सृष्टम् । उत्पन्नम् (घोरम्) भयङ्करं पापम् (तया) वाचा (एव) (शान्तिः) सुखकरी क्रिया । धैर्यम् । आनन्दः (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (यत्) जो (परमेष्ठिनम्) सर्वोत्कृष्ट परमात्मा में ठहरने वाला (वाम्) तुम दोनों [स्त्री पुरुषों] का (मनः) मन (ब्रह्मसंशितम्) वेदज्ञान से तीक्ष्ण किया गया है, और (येन) जिस [मन] के द्वारा (एव) ही (घोरम्) घोर [भयङ्कर पाप] (ससृजे) उत्पन्न हुआ है, (तेन) उस [मन] के द्वारा (एव) ही (नः) हमारे लिये (शान्तिः) शान्ति [धैर्य, आनन्द] (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह मन जो परमात्मा का निवास और वेदज्ञान का कोश है, यदि उस मन में कोई विकार उत्पन्न हो तो हे मनुष्यो ! उस को ठीक करके परस्पर सुख बढ़ाओ ॥ ४ ॥

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि । यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ ५ ॥

इमानि । यानि । पञ्च । इन्द्रियाणि । मनःऽषष्ठानि । मे । हृदि । ब्रह्मणा । सम्ऽशितानि ॥ यैः । एव । ससृजे । घोरम् । तैः । एव । शान्तिः । अस्तु । नः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इमानि) ये (यानि) जो (मनःषष्ठानि) छठे मन सहित (पञ्च) पांच (इन्द्रियाणि) इन्द्रियां [कान, नेत्र, नासिका, जिह्वा और त्वचा ज्ञानेन्द्रियां] (मे) मेरे (हृदि) हृदय में (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (संशितानि) तीक्ष्ण की गयी हैं । और (यैः) जिन [इन्द्रियों] के द्वारा (एव) ही (घोरम्) घोर [भयङ्कर पाप] (ससृजे) उत्पन्न हुआ है, (तैः) उन के द्वारा (एव) ही

४-(इदम्) उपस्थितम् (यत्) (परमेष्ठिनम्) अर्त्तेः किदिच्च । उ० २ । ५१ । परम+ष्ठा गतिनिवृत्तौ—इनन्, कित् । परमे सर्वोत्कृष्टे परमात्मनि स्थितिशीलम् (मनः) अन्तःकरणम् (वाम्) युवयोः । स्त्रीपुरुषयोः (ब्रह्मसंशितम्) ब्रह्मणा वेदज्ञानेन तीक्ष्णीकृतम् उत्तेजितम् । (येन) मनसा (तेन) मनसा । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३ ॥

५—(इमानि) दृश्यमानानि (यानि) (पञ्च) (इन्द्रियाणि) श्रोत्रनेत्रनासिकाजिह्वात्वग्रूपाणि ज्ञानेन्द्रियाणि (मनःषष्ठानि) मनः षष्ठं येषां तानि (मे) मम (हृदि) हृदये (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (संशितानि) तीक्ष्णीकृतानि

(नः) हमारे लिये (शान्तिः) शान्ति [धैर्य्य, आनन्द] (अस्तु) होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मन और सब ज्ञानेन्द्रियां वेदज्ञान से तेजस्वी हुये हैं, यदि उनके विकार से कोई पाप घटना हो जावे विद्वान् पुरुष उसे सुधार कर आपस में सुख भोगें ॥ ५ ॥

शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः॒ शं विष्णुः॒ शं प्र॒जाप॑तिः ।

शं न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒ः शं नो॑ भवत्वर्य॒मा ॥ ६ ॥

शम् । नः॒ । मि॒त्रः । शम् । वरु॑णः । शम् । विष्णुः॑ । शम् । प्र॒जा-प॑तिः ॥ शम् । नः॒ । इन्द्रः॑ । बृह॒स्पतिः॑ । शम् । नः॒ । भ॒व॒तु॒ । अ॒र्य॒मा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (मित्रः) सबका मित्र [परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष] (शम्) शान्तिदायक, (वरुणः) सब में श्रेष्ठ (शम्) शान्तिदायक, (विष्णुः) सब गुणों में व्यापक (शम्) शान्तिदायक, (प्रजापतिः) प्रजापति [प्रजाओं का रक्षक] (शम्) शान्तिदायक [होवे] । (नः) हमारे लिये (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान्, (बृहस्पतिः) बड़ी वेदविद्या का रक्षक (शम्) शान्तिदायक, (नः) हमारे लिये (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने वाला [न्यायकारी परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष] (शम्) शान्तिदायक (भवतु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे सर्वहितकारी, सर्वश्रेष्ठ, सर्वगुण विशिष्ट परमेश्वर सब जगत् की रक्षा करता है, वैसे ही विद्वान् जन परस्पर स्नेह करके संसार का उपकार करें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । ९० । ९ और यजुर्वेद-३६ । ९ ॥

(यैः) इन्द्रियैः (तैः) इन्द्रियैः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

६—(शम्) सुखकारी (नः) अस्मभ्यम् (मित्रः) ञिमिदा स्नेहने-क्र । सर्वस्नेही परमेश्वरो विद्वान् वा (शम्) (वरुणः) सर्वोत्कृष्टः (शम्) (विष्णुः) सर्वगुणेषु व्यापकः (शम्) (प्रजापतिः) प्रजानां पालकः (शम्) (नः) (इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तः (बृहस्पतिः) बृहत्या वाचो विद्यायाः पतिः पालकः (शम्) (नः) (भवतु (अर्यमा) श्रेष्ठानां मानकर्ता न्यायकारी परमेश्वरो मनुष्यो वा ॥

शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः॒ शं वि॒वस्वाँ॒छमन्त॑कः ।
उ॒त्पा॒ताः पार्थि॑वा॒न्तरि॑क्षाः॒ शं नो॑ दि॒विच॑रा ग्र॒हाः ॥ ७

शम् । नः॒ । मि॒त्रः । शम् । वरु॑णः । शम् । वि॒वस्वा॑न् । शम् । अन्त॑कः ॥ उ॒त्ऽपा॒ताः । पार्थि॑वा । आ॒न्तरि॑क्षाः । शम् । नः॒ । दि॒वि॒ऽच॑राः । ग्र॒हाः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (मित्रः) प्राण वायु (शम्) शान्तिदायक, (वरुणः) जल [वा अपान वायु], (शम्) शान्तिदायक (विवस्वान्) विविध चमकने वाला सूर्य (शम्) शान्तिदायक (अन्तकः) अन्त करने वाला [मृत्यु] (शम्) शान्तिदायक [होवे] । (पार्थिवा) पृथिवी पर होने वाले और (आन्तरिक्षाः) अन्तरिक्ष [आकाश] में होने वाले (उत्पाताः) उत्पात [उपद्रव] और (दिविचराः) सूर्य के प्रभाव में घूमने वाले (ग्रहाः) ग्रह [चन्द्र, मङ्गल, बुध आदि] (नः) हमारे लिये (शम्) शान्तिदायक [होवें] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को विद्यापूर्वक वायु जल आदि पदार्थों से उपकार लेकर सुखी होना चाहिये ॥ ७ ॥

शं नो॒ भूमि॒र्वेप्य॑माना॒ शमु॒ल्का निर्ह॑तं॒ च यत् ।
शं गावो॒ लोहि॑तक्षीराः॒ शं भूमि॒रव॑ तीर्य॒तीः ॥ ८ ॥

शम् । नः॒ । भूमि॑ः । वे॒प्य॒मा॒ना । शम् । उ॒ल्का । निः॒ऽह॑तम् । च॒ । यत् ॥ शम् । गाव॑ः । लोहि॑तऽक्षीराः । शम् । भूमि॑ः । अव॑ । ती॒र्य॒तीः ॥ ८ ॥

७—(शम्) शान्तिप्रदः (नः) अस्मभ्यम् (मित्रः) मिनोतेः—क्त्र । प्रेरकः प्राणः (शम्) (वरुणः) जलम् । अपानः (शम्) (विवस्वान्) विविधप्रकाशकः सूर्यः (शम्) (अन्तकः) अन्त+करोतेः—डप्रत्ययः । अन्तकरः । मृत्युः (उत्पाताः) उपद्रवाः (पार्थिवा) विभक्तेर्डा । पार्थिवाः । पृथिव्यां भवाः (आन्तरिक्षाः) आकाशे भवाः (शम्) (नः) (दिविचराः) सूर्यप्रभावे विचरणशीलाः (ग्रहाः) चन्द्रमङ्गलबुधादयः ॥

भाषार्थ--(नः) हमारे लिये (वेप्यमाना) कांपती हुई (भूमिः) भूमि (शम्) शान्तिदायक, (च) और (यत्) जो कुछ (उल्का) उल्काओं से [रेखाकार आकाश से गिरते हुये तेजपुञ्जों, टूटते हुये तारों से] (निर्हतम्) नष्ट किया गया है, [वह] (शम्) शान्तिदायक [होवे] । (लोहितक्षीराः) रुधिर युक्त दूध देने वाली (गावः) गौयें (शम्) शान्तिदायक [होवें] और (अव तीर्यतीः) धसकती हुयी (भूमिः) भूमि (शम्) शान्तिदायक [होवे]॥८॥

भावार्थ—दूरदर्शी मनुष्य भूकम्प, तारे टूटने, रोग के कारण दूध बिगड़ने, दलदल से पृथिवी के बैठ जाने आदि विघ्नों से बचने का उपाय करके सुखी होवें ॥ ८ ॥

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः । शं नो निखाता वल्गाः शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु ॥ ९ ॥

नक्षत्रम् । उल्का । अभि-हतम् । शम् । अस्तु । नः । शम् । नः । अभि-चाराः । शम् । ऊं इति । सन्तु । कृत्याः ॥ शम् । नः । नि-खाताः । वल्गाः । शम् । उल्काः । देशोप-सर्गाः । शम् । ऊं इति । नः । भवन्तु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(उल्का) उल्काओं [टूटते तारों] से (अभिहतम्) नष्ट किया हुआ (नक्षत्रम्) नक्षत्र (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (अस्तु) होवे,

---

८—(शम्) शान्तिप्रदा (नः) अस्मभ्यम् (भूमिः) (वेप्यमाना) कम्पमाना (शम्) (उल्का) उल दाहे—कन्प्रत्ययः, विभक्तेर्डा । उल्काभिः । रेखाकारे गगनात् पतत्तेजःपुञ्जैः (निर्हतम्) विनष्टम् (च) (यत्) यत् किञ्चित् (शम्) (गावः) धेनवः (लोहितक्षीराः) रुधिरयुक्तदुग्धोपेताः (शम्) (भूमिः) (अवतीर्यतीः) तॄ प्लवनतरणयोः—शतृ, ङीप् । बहुवचनं छान्दसम् । अवतीर्यती । अवतीर्यमाणा जलबाहुल्येनाधोगमना ॥

९—(नक्षत्रम्) गमनशीलो लोकः (उल्का) म० ८ । उल्काभिः । रेखाकारे गगनात् पतत्तेजोभिः (अभिहतम्) विनष्टम् (शम्) शान्तिप्रदम् (अस्तु)

(नः) हमारे लिये (अभिचाराः) विरुद्ध आचरण (शम्) शान्तिदायक (उ) और (कृत्याः) हिंसा क्रियायें (शम्) शान्तिदायक (सन्तु) होवें। (निखाताः) खोदे हुये (वल्गाः) गढ़े [सुरङ्ग आदि] (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक, (उल्काः) उल्कायें [टूटते तारे] (शम्) शान्तिदायक, (उ) और (देशोपसर्गाः) देश के उपद्रव (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (भवन्तु) होवें ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष दैवी और मानुषी विपत्तियों से बचने का प्रयत्न करते रहें ॥ ९ ॥

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा ।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥ १० ॥

शम् । नः । ग्रहाः । चान्द्रमसाः । शम् । आदित्यः । च । राहुणा ॥ शम् । नः । मृत्युः । धूम-केतुः । शम् । रुद्राः । तिग्म-तेजसः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(चान्द्रमसाः) चन्द्रमा के (ग्रहाः) ग्रह [कृत्तिका आदि नक्षत्र] (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक [होवें], (च) और (आदित्यः) सूर्य (राहुणा) राहु [ग्रह विशेष] के साथ (शम्) शान्तिदायक [होवे]। (मृत्युः) मृत्युरूप (धूमकेतुः) धूमकेतु [पुच्छल तारा] (नः) हमें (शम्)

(नः) अस्मभ्यम् (अभिचाराः) व्यभिचाराः। विरुद्धाचरणानि (शम्) (उ) चार्थे (कृत्याः) अ० १४। २। ४८। कृञ् हिंसायाम्—क्यप् तुक् च। हिंसाक्रियाः (शम्) (नः) (निखाताः) विदारिताः (वल्गाः) मुदिग्रोर्गग्गौ। उ० १। १२८। वल संवरणे—गप्रत्ययः। गर्ताः। भूमिच्छिद्राणि (शम्) (उल्काः) म० ८। गगनात्पतत्तेजःपुञ्जाः (देशोपसर्गाः) देशोपद्रवाः (शम्) (उ) (नः) (भवन्तु) ॥

१०—(शम्) शान्तिप्रदाः (नः) अस्मभ्यम् (ग्रहाः) कृत्तिकादिनक्षत्रगणाः (चान्द्रमसाः) चन्द्रलोकसम्बन्धिनः (शम्) (आदित्यः) आदीप्यमानः सूर्यः (च) (राहुणा) हसनिजनिचरिचटिरहिभ्यो ञुण्। उ० १। ३। रह त्यागे—ञुण्। ज्योतिश्चक्रस्थेन सूर्यकिरणसम्पर्काभावेन जायमानपृथिवीच्छायाकारकेण ग्रहभेदेन (शम्) (नः) (मृत्युः) मृत्युरूपः (धूमकेतुः) उत्पात-

शान्तिदायक [हो], (तिग्मतेजसः) तीक्ष्ण तेज वाले (रुद्राः) गतिमान् [बृहस्पति आदि ग्रह] (शम्) शान्तिदायक [होवें] ॥ १० ॥

भावार्थ—राहु ग्रह विशेष, प्रकाश को रोककर सूर्य और चन्द्र के ग्रहण का कारण होता है, धूमकेतु अपनी टेढ़ी चाल से अनेक ग्रहों और नक्षत्रों को टकरा कर नाश करता है, मनुष्य ज्योतिष शास्त्र द्वारा दूरदर्शी होकर विघ्नों से बचने का उपाय करें ॥ १० ॥

शं रुद्राः शं वसवः शमादित्याः शमग्नयः ।
शं नो महर्षयो देवाः शं देवाः शं बृहस्पतिः ॥ ११ ॥

शम् । रुद्राः । शम् । वसवः । शम् । आदित्याः । शम् । अग्नयः ॥ शम् । नः । महऽऋषयः । देवाः । शम् । देवाः । शम् । बृहस्पतिः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(रुद्राः) रुद्र [ग्यारह रुद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा] (शम्) शान्तिदायक (वसवः) वसु [आठ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, प्रकाश, चन्द्रमा और तारागण] (शम्) शान्तिदायक (आदित्याः) महीने [चैत्र आदि बारह महीने] (शम्) शान्तिदायक और (अग्नयः) अग्नियां [शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल] (शम्) शान्तिदायक [होवें] । (महर्षयः) महर्षि [बड़े बड़े वेदज्ञाता] (देवाः) विद्वान् लोग

रूपोऽशुभसूचकस्तारापुञ्जभेदः (शम्) (रुद्राः) रु गतौ—क्विप्, तुक् । रोमत्वर्थीयः । गतिमन्तो ग्रहाः (तिग्मतेजसः) तीक्ष्णतापाः ॥

११—(शम्) शान्तिप्रदाः (रुद्राः) रु गतौ—क्विप्, तुक्, रो मत्वर्थीयः गतिमन्तः । प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्या दश प्राणा एकादशो जीवश्चेत्येकादश रुद्राः—दयानन्दकृतभाष्ये, यजु० २।५ (शम्) (वसवः) अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः—दयानन्दभाष्ये, यजु० २।५ (शम्) (आदित्याः) द्वादशमासाः—तत्रैव (शम्) (अग्नयः) शारीरिकात्मिकसामाजिकपराक्रमाः

(नः) हमें (शम्) शान्तिदायक, (देवाः) उत्तम व्यवहार (शम्) शान्तिदायक [होवें] और (बृहस्पतिः) बड़े ब्रह्माण्डों का स्वामी [परमात्मा] (शम्) शान्तिदायक [होवे] ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य रुद्र, वसु और आदित्य संज्ञक पदार्थों को प्रयत्न पूर्वक महर्षि विद्वानों के सत्संग और परमात्मा के विश्वास से अनेक व्यवहारों में प्रयुक्त करके सब जीवों को सुख पहुंचावें ॥ ११ ॥

रुद्र, वसु और आदित्य शब्दों के लिये महर्षि दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य—२। ५। देखो ॥

ब्रह्म॑ प्रजाप॑तिर्धाता लोका वेदाः स॑प्तऋ॒षयो॒ऽग्नयः॑ । तैर्मे॑ कृतं स्व॒स्त्यय॑नमिन्द्रो॑ मे॒ शर्म॑ यच्छतु ब्र॒ह्मा मे॒ शर्म॑ यच्छतु । विश्वे॑ मे॒ दे॒वाः शर्म॑ यच्छन्तु॒ सर्वे॑ मे दे॒वाः शर्म॑ यच्छन्तु ॥१२॥

ब्रह्म॑ । प्र॒जा-प॑तिः । धा॒ता । लो॒काः । वे॒दाः । स॒प्त-ऋ॒षयः॑ । अ॒ग्नयः॑ ॥ तैः । मे॒ । कृ॒तम् । स्व॒स्ति-अय॑नम् । इन्द्रः॑ । मे॒ । शर्म॑ । य॒च्छ॒तु॒ । ब्र॒ह्मा । मे॒ । शर्म॑ । य॒च्छ॒तु॒ ॥ विश्वे॑ । मे॒ । दे॒वाः । शर्म॑ । य॒च्छ॒न्तु॒ । सर्वे॑ । मे॒ । दे॒वाः । शर्म॑ । य॒च्छ॒न्तु॒ ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्म) अन्न, (प्रजापतिः) प्रजापालक [इन्द्रियादि का रक्षक] और (धाता) पोषक [जीवात्मा], (लोकाः) सब लोक [पृथिवी आदि] (वेदाः) ऋग्वेद आदि चारो वेद, (सप्तऋषयः) सात ऋषि [कान, आंख, नाक, जिह्वा त्वचा पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि], और (अग्नयः) अग्नि [शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक पराक्रम] [जो हैं] । (तैः) उन करके

(शम्) (नः) (महर्षयः) महान्तो वेदार्थज्ञातारः (देवाः) विद्वांसः (शम्) (देवाः) उत्तमव्यवहाराः (शम्) (बृहस्पतिः) बृहतां ब्रह्माण्डानां पालकः परमेश्वरः ॥

१२—(ब्रह्म) अन्नम्—निघ० २ । ७ (प्रजापतिः) इन्द्रियादिप्रजानां पालकः (धाता) पोषको जीवात्मा (लोकाः) पृथिव्यादयः (वेदाः) ऋग्वेदादयश्चत्वारो वेदाः (सप्तऋषयः) मनोबुद्धिसहितानि श्रोत्रनेत्रनासिकाजिह्वात्वग्—रूपाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि (अग्नयः) म० ११ (तैः) पूर्वोक्तैः (मे) मह्यम्

(मे) मेरे लिये (स्वस्त्ययनम्) कल्याण का मार्ग (कृतम्) बनाया गया है (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर] (मे) मेरे लिये (शर्म) सुख (यच्छतु) देवे, (ब्रह्मा) ब्रह्मा [सब से बड़ा परमात्मा] (मे) मेरे लिये (शर्म) सुख (यच्छतु) देवे ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की सृष्टि के बीच वेद आदि शास्त्र द्वारा संसार के अन्न आदि पदार्थों को इन्द्रियों और मन बुद्धि द्वारा यथावत् परीक्षा करके काम में लावें, और परमेश्वर को धन्यवाद देते हुये सुख प्राप्त करें ॥ १२ ॥

यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः ।
सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु ॥ १३ ॥

यानि । कानि । चित् । शान्तानि । लोके । सप्त-ऋषयः । विदुः ॥ सर्वाणि । शम् । भवन्तु । मे । शम् । मे । अस्तु । अभयम् । मे । अस्तु ॥ १३॥

भाषार्थ—(यानि) जिन (कानि) किन्हीं (चित्) भी [शान्तानि] शान्तिकर्मों को (लोके) संसार में (सप्तऋषयः) सात ऋषि [कान, आंख, नाक, जिह्वा त्वचा पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि] (विदुः) जानते हैं । (सर्वाणि) वे सब (मे) मेरे लिये (शम्) शान्तिदायक (भवन्तु) होवें, (मे) मेरे लिये (शम्) शान्ति [आरोग्यता धैर्य आदि] (अस्तु) होवे, (मे) मेरे लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे ॥ १३ ॥

(कृतम्) निष्पादितम् (स्वस्त्ययनम्) कल्याणमार्गः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (मे) (शर्म) सुखम् (यच्छतु) ददातु (ब्रह्मा) सर्वेभ्यः प्रवृद्धः परमात्मा । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१३—(यानि कानि) उक्तानुक्तानि (चित्) एव (शान्तानि) शान्तियुक्तानि कर्माणि (लोके) संसारे (सप्तऋषयः) म० १२ । मनोबुद्धिसहितानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि (विदुः) जानन्ति (सर्वाणि) (शम्) शान्तिकराणि (भवन्तु) (मे) मह्यम् (शम्) (मे) (अस्तु) (अभयम्) भयराहित्यम् (मे) (अस्तु) ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि संसार के सब पदार्थों को साक्षात् करके उनसे यथावत् लाभ उठावें और धर्म का आचरण करते हुये धैर्य के साथ निर्भय रहें ॥ १३ ॥

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः । ताभिः शान्तिभिः सर्वं शान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥ १४ ॥

पृथिवी । शान्तिः । अन्तरिक्षम् । शान्तिः । द्यौः । शान्तिः । आपः । शान्तिः । ओषधयः । शान्तिः । वनस्पतयः । शान्तिः । विश्वे । मे । देवाः । शान्तिः । सर्वे । मे । देवाः । शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः । शान्ति-भिः ॥ ताभिः । शान्ति-भिः । सर्वम् । शान्तिभिः । शम् । अयामः । अहम् । यत् । इह । घोरम् । यत् । इह । क्रूरम् । यत् । इह । पापम् । तत् । शान्तम् । तत् । शिवम् । सर्वम् । एव । शम् । अस्तु । नः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(पृथिवी) भूमि (शान्तिः) शान्तिदायक [हो], (अन्तरिक्षम्) मध्यलोक [वायुमण्डल, मेघमण्डल तारागण आदि] (शान्तिः) शान्तिदायक हो, (द्यौः) प्रकाशमान [सूर्य आदि] (शान्तिः) शान्तिदायक हो; (आपः) जल (शान्तिः) शान्तिदायक हो, (ओषधयः) ओषधें [अन्न सोमलता आदि] (शान्तिः) शान्तिदायक हो, (वनस्पतयः) वनस्पतियां [वट-

१४—(पृथिवी) भूमिः (शान्तिः) शान्तिकरी (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकः (शान्तिः) (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यादिः (शान्तिः) (आपः) जलानि (शान्तिः) (ओषधयः) अन्नसोमलताद्याः (वनस्पतयः) वटादिवृक्षाः (शान्तिः) (विश्वे) सर्वे (मे) मह्यम् (देवाः) विद्वांसः (शान्तिः) (सर्वे) (मे) (देवाः) दिव्यपदार्थाः (शान्तिः) (शान्तिः) (शान्तिभिः) सुखदायिकाभिः क्रियाभिः

आदि वृत्त] (शान्तिः) शान्तिदायक हों, (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (मे) मेरे लिये (शान्तिः) शान्तिदायक हों, (सर्वे) सब (देवाः) उत्तम पदार्थ (मे) मेरे लिये (शान्तिः) शान्तिदायक हों, (शान्तिभिः) शान्तियों [सुख-दायक क्रियाओं] के साथ (शान्तिः) शान्ति, (शान्तिः) शान्ति [धैर्य आदि] हो। (ताभिः) उन (शान्तिभिः) शान्तियों [आनन्द क्रियाओं] से, (सर्व= सर्वाभिः) सब (शान्तिभिः) शान्तियों [धैर्य क्रियाओं] से (अहम्=वयम्) हम (शम्) शान्ति (अयामः) पावें, (यत्) जो कुछ (इह) यहां पर (घोरम्) घोर [भयङ्कर] हो, (यत्) जो कुछ (इह) यहां पर (क्रूरम्) क्रूर [निर्दय] हो, और (यत्) जो कुछ (इह) यहां पर (पापम्) पाप [अनिष्ट] हो, (तत्) वह (शान्तम्) शान्तियुक्त हो, (तत्) वह (शिवम्) कल्याण कारक हो, (सर्वम्) सब (एव) ही (नः) हमारे लिये (शम्) शान्तिदायक (अस्तु) हो ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को प्रयत्न करना चाहिये कि पृथिवी आदि पदार्थ सदा सुखदायक होवें ॥ १४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—३६ । १७ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १० [शान्तिसूक्तम्] ॥

१—१० ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ १—५, ६ त्रिष्टुप्; ६, ८, १० निचृत् त्रिष्टुप्; ७ विराट्त्रिष्टुप् ॥

सृष्टिपदार्थेभ्य उपकारग्रहणोपदेशः—सृष्टि के पदार्थों से उपकार लेने का उपदेश ॥

(सर्व) विभक्तेर्लुक् । सर्वाभिः (शान्तिभिः) (शम्) शान्तिम् (अयामः) अय गतौ । प्राप्नुमः (अहम्) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति जसः सुः । वयम् (यत्) यत् किञ्चित् (इह) संसारे (घोरम्) भयङ्करम् (यत्) (इह) (क्रूरम्) निर्दयम् (यत्) (इह) (पापम्) अनिष्टम् (तत्) पूर्वोक्तम् (शान्तम्) (तत्) (शिवम्) कल्याणकरम् (सर्वम्) (एव) निश्चयेन (शम्) शान्तिप्रदम् (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् ॥

शं न॑ इन्द्राग्नी भ॑वतामवो॑भिः शं न॒ इन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या ।
शमिन्द्रासोमा॑ सुवि॒ताय॒ शं योः शं न॒ इन्द्रा॑पूषणा॒ वाज॑सातौ ॥१

शम् । नः । इन्द्राग्नी इति । भवताम् । अवः-भिः । शम् ।
नः । इन्द्रावरुणा । रात-हव्या ॥ शम् । इन्द्रासोमा । सुवि-
ताय । शम् । योः । शम् । नः । इन्द्रापूषणा । वाज-साती ।१॥

भाषार्थ—(इन्द्राग्नी) बिजुली और साधारण अग्नि दोनों (अवोभिः) रक्षा साधनों के साथ (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (भवताम्) हों (रात-हव्या) ग्राह्य पदार्थों के देने हारे (इन्द्रावरुणा) बिजुली और जल दोनों (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक [हों] । (शम्) शान्तिदायक (इन्द्रासोमा) बिजुली और चन्द्रमा (सुविताय) ऐश्वर्य के लिये (शम्) रोगनाशक और (योः) भयनिवारक हों,(इन्द्रापूषणा) बिजुली और पवन (वाजसातौ) पराक्रम के लाभ वा सङ्ग्राम में (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हों ॥१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर की सृष्टि में बिजुली आदि पदार्थों से सदा उपकार लेते रहें ॥ १ ॥

यह सूक्त, मन्त्र १-१० [मन्त्र ८ कुछ भेद से] ऋग्वेद में है—७ । ३५ । १-१०, और महर्षि दयानन्दकृत भाष्य में भी व्याख्यात है; यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—३६ । ११ ॥

१—(शम्) सुखकारकौ (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्राग्नी) विद्युत्पावकौ (भवताम्) (अवोभिः) रक्षासाधनैः (शम्) (नः) (इन्द्रावरुणा) विद्युज्जले (रातहव्या) रातानि दत्तानि हव्यानि ग्राह्याणि वस्तूनि याभ्यां तौ (शम्) सुखकरौ (इन्द्रासोमा) विद्युच्चन्द्रौ (सुविताय) षिञ्—किच्च । उ० ३ । ९५। षू ऐश्वर्ये—इतन् स च कित् । ऐश्वर्याय (शम्) शमु उपशमे—क्विप् । रोगनाशकौ (योः) अ० १ । ६ । १ । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः—विच्, सकारश्छान्दसः,यद्वा । यु-डोसि । शंयोः......शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्-निरु० ४ । २१ । भयनिवारकौ (वाजसातौ) षण संभक्तौ—क्तिन् । पराक्रमस्य लाभे सङ्ग्रामे वा ॥

शं नो॒ भग॒: शमु॑ न॒: शंसो॑ अस्तु॒ शं न॒: पुरं॑धि॒: शमु॑ सन्तु॒ रायः॑ । शं न॑: स॒त्यस्य॑ सु॒यम॑स्य॒ शंस॒: शं नो॑ अर्य॒मा पु॑रुजा॒तो अ॑स्तु ॥ २ ॥

शम् । न॒: । भग॑: । शम् । ऊं॒ इति॑ । न॒: । शंस॑: । अ॒स्तु॒ । शम् । न॒: । पुर॑म्-धि॒: । शम् । ऊं॒ इति॑ । स॒न्तु॒ । राय॑: ॥ शम् । न॒: । स॒त्यस्य॑ । सु॒-यम॑स्य । शंस॑: । शम् । न॒: । अ॒र्य॒मा । पु॒रु॒-जा॒तः । अ॒स्तु॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारा (भगः) ऐश्वर्य (शम्) शान्तिदायक, (उ) और (नः) हमारी (शंसः) स्तुति (शम्) शान्तिदायक (अस्तु) हो (नः) हमारी [पुरंधिः] नगरों की धारण करने हारी बुद्धि (शम्) शान्तिदायक हो, (उ) और (रायः) सब प्रकार के धन (शम्) शान्तिदायक (सन्तु) हों। (नः) हमारा (सत्यस्य) सच्चे (सुयमस्य) सुन्दर नियम का (शंसः) कथन (शम्) शान्तिदायक हो, (पुरुजातः) बहुत प्रसिद्ध (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने हारा [न्यायकारी परमेश्वर] (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (अस्तु) हो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि उनका ऐश्वर्य, उनका कथन, उनका शासन आदि सब कार्य न्याययुक्त हो, जिससे वह जगदीश्वर सदा आनन्द देवे ॥ २ ॥

२—(शम्) शान्तिप्रदः (नः) अस्माकम् (भगः) ऐश्वर्यम् (शम्) (उ) चार्थे (नः) (शंसः) शंसु हिंसास्तुतिकथनेषु—घञ् । स्तुतिः, कथनम् (अस्तु) (शम्) (नः) (पुरंधिः) कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ६३ । पुर्+ डु धाञ् धारणपोषणयोः—किप्रत्ययः, अलुक्समासः । पुरन्धिर्बहुधीः—निरु० ६ । १३ । पुरं गृहं नगरं शरीरं वा दधातीति । नगरस्य धारिका बुद्धिः (शम्) (उ) (सन्तु) (रायः) धनानि (शम्) (नः) (सत्यस्य)-यथार्थस्य (सुयमस्य) शोभननियमस्य (शंसः) कथनम् (शम्) (नः) अस्मभ्यम् (अर्यमा) श्रेष्ठानां मानकर्ता न्यायकारी परमेश्वरः (पुरुजातः) बहुप्रसिद्धः (अस्तु) ॥

शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः । शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥ ३ ॥

शम् । नः । धाता । शम् । ऊं इति । धर्ता । नः । अस्तु । शम् । नः । उरूची । भवतु । स्वधाभिः ॥ शम् । रोदसी इति । बृहती इति । शम् । नः । अद्रिः । शम् । नः । देवानाम् । सु-हवानि । सन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(धाता) पोषण करने वाला [पदार्थ] (नः) हमें (शम्) शान्तिकारक हो, (उ) और (धर्ता) धारण करने वाला [पदार्थ] (नः) हमें (शम्) शान्तिकारक (अस्तु) हो, (उरूची) बहुत फैली हुयी प्रकृति [जगत् सामग्री] (नः) हमें (स्वधाभिः) अपनी धारण शक्तियों से (शम्) शान्तिकारक (भवतु) हो । (बृहती) दोनों बड़े (रोदसी) सूर्य और भूमि, (शम्) शान्तिकारक हों (अद्रिः) मेघ (नः) हमें (शम्) शान्तिकारक हो, (देवानाम्) विद्वानों के (सुहवानि) सुन्दर बुलावे (नः) हमें (शम्) शान्तिकारक (सन्तु) होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि वे धारण पोषण करने वाले पदार्थों के तत्त्व, प्रकृति के स्वभाव, सूर्य, पृथिवी, मेघ आदि के प्रभावों के ज्ञान से उपकारी होकर विद्वानों में प्रतिष्ठा पाकर सुखी होवें ॥ ३ ॥

शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना

३—(शम्) शान्तिकारकः (नः) अस्मभ्यम् (धाता) पोषकः पदार्थः (शम्) (उ) चार्थे (धर्ता) धारकः पदार्थः (नः) (अस्तु) (शम्) (नः) (उरूची) बहुञ्चना । विस्तीर्णव्यापिका प्रकृतिः (भवतु) (स्वधाभिः) आत्मधारणशक्तिभिः (शम्) (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (बृहती) बृहत्यौ । विशाले (शम्) (नः) (अद्रिः) मेघः (शम्) (नः) (देवानाम्) विदुषाम् (सुहवानि) सत्कारेणाह्वानानि (सन्तु) ॥

शम् । शं नः॑ सुकृतां॑ सुकृतानि॑ सन्तु शं न॑ इषिरो अभि वा॑तु वातः॑ ॥ ४ ॥

शम् । नः॒ । अ॒ग्निः । ज्योतिः॑-अनीकः । अ॒स्तु॒ । शम् । नः॒ । मि॒त्रावरु॑णौ । अ॒श्विना॑ । शम् ॥ शम् । नः॒ । सु॒-कृता॑म् । सु॒-कृता॑नि । स॒न्तु॒ । शम् । नः॒ । इ॒षि॒रः । अ॒भि । वा॒तु॒ । वातः॑ ॥ ४

भाषार्थ—(ज्योतिरनीकः) ज्योति को सेना समान रखने वाला (अग्निः) अग्नि (नः) हमें (शम्) शान्तिकारक (अस्तु) हो, (मित्रावरुणौ) दोनों दिन और राति (नः) हमें (शम्) शान्तिकारक हों (अश्विना) दोनों सूर्य और चन्द्रमा (शम्) शान्तिकारक हों। (सुकृताम्) सुकर्मियों के (सुकृतानि) पुण्य कर्म (नः) हमें (शम्) शान्तिकारक (सन्तु) हों, (इषिरः) शीघ्र गामी (वातः) पवन (नः) हमारे लिये (शम्) शान्तिकारक (अभि) सब ओर से (वातु) चले ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अग्नि, दिन राति, सूर्य चन्द्रमा और वायु आदि की गति से विद्वानों के समान उपकार लेते हैं वे सुखी रहते हैं ॥ ४ ॥

शं नो॒ द्यावा॑पृथि॒वी पू॒र्वहू॑तौ॒ शम॒न्तरि॑क्षं दृ॒शये॑ नो अस्तु । शं न॒ ओष॑धीर्व॒निनो॑ भवन्तु॒ शं नो॒ रज॑स॒स्पति॑रस्तु जि॒ष्णुः ॥ ५ ॥

शम् । नः॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । पू॒र्व-हू॑तौ । शम् । अ॒न्तरि॑क्षम् । दृ॒शये॑ । नः॒ । अ॒स्तु॒ ॥ शम् । नः॒ । ओष॑धीः । व॒निनः॑ । भ॒व॒न्तु॒ । शम् । नः॒ । रज॑सः । पतिः॑ । अ॒स्तु॒ । जि॒ष्णुः ॥ ५ ॥

४—(शम्) शान्तिप्रदः (नः) (अग्निः) पावकः (ज्योतिरनीकः) ज्योतिरिवानीकं सैन्यमिव यस्य सः (अस्तु) (शम्) (नः) (मित्रावरुणौ) अहोरात्रे (अश्विना) सूर्याचन्द्रमसौ (शम्) (शम्) (नः) (सुकृताम्) पुण्यकर्मणाम् (सुकृतानि) पुण्यकर्माणि (सन्तु) (शम्) (नः) अस्मभ्यम् (इषिरः) वेगवान् (अभि) सर्वतः (वातु) गच्छतु (वातः) वायुः ॥

भाषार्थ—(पूर्वहूतौ) पहिले बुलावे [अर्थात् कार्य के आरम्भ में] (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हों, (अन्तरिक्षम्) मध्यलोक [मध्यवर्ती अवकाश] (दृशये) देखने के लिये (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (अस्तु) हो । (ओषधीः) ओषधियां [अन्न सोमलता आदि] और (वनिनः) वन के पदार्थ (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (भवन्तु) हों (रजसः) लोक का (पतिः) स्वामी (जिष्णुः) विजयी मनुष्य (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (अस्तु) हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—कार्य के आरम्भ में मनुष्य विचार लें कि सूर्य और भूमि के कारण से ग्रीष्म, वर्षा, शीत आदि ऋतुयें अनुकूल हों, आकाश निर्मल हो, अन्न आदि पदार्थ पुष्कल हों, जिससे मनोरथ सिद्धि में विजय प्राप्त हो ॥ ५ ॥

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः ।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥६॥

शम् । नः । इन्द्रः । वसु-भिः । देवः । अस्तु । शम् । आदित्येभिः । वरुणः । सु-शंसः ॥ शम् । नः । रुद्रः । रुद्रेभिः । जलाषः । शम् । नः । त्वष्टा । ग्नाभिः । इह । शृणोतु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(देवः) प्रकाशमान (इन्द्रः) सूर्य (वसुभिः) अनेक धनों वा किरणों से (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (अस्तु) हो, (सुशंसः) उत्तम गुण वाला (वरुणः) जल (आदित्येभिः) सूर्य के किरणों के साथ (शम्) शान्ति-

---

५—(शम्) शान्तिप्रदौ (नः) अस्मभ्यम् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमिलोकौ (पूर्वहूतौ) प्रथमाह्वाने । कार्यारम्भे (शम्) (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्त्यवकाशः (दृशये) दर्शनाय (नः) (अस्तु) (शम्) (नः) (ओषधीः) अन्नसोमलतादयः (वनिनः) वने भवाः पदार्थाः (भवन्तु) (शम्) (नः) (रजसः) लोकस्य (पतिः) पालकः पुरुषः (अस्तु) (जिष्णुः) विजयी ॥

६—(शम्) शान्तिप्रदः (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) सूर्यः (वसुभिः) धनैः । किरणैः (देवः) प्रकाशमानः (अस्तु) (शम्) (आदित्येभिः) आदित्यस्य । आदित्यकिरणैः (वरुणः) जलसमूहः (सुशंसः) उत्तमगुणयुक्तः

दायक हो। (जलाषः) जीवों की अभिलाषा पूरी करने हारा (रुद्रः) ज्ञानदाता परमेश्वर (रुद्रेभिः) ज्ञानदाता मुनियों द्वारा (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हो, (शम्) शान्तिदायक (त्वष्टा) विश्वकर्मा जगदीश्वर) (ग्नाभिः) [हमारी] वाणियों द्वारा (इह) यहां पर (नः) हमारी [प्रार्थना] (शृणोतु) सुने ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सूर्य वा प्रकाश और जलादि की विद्या में निपुण होके परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त होते हैं, वे सदा सुख पाते हैं ॥ ६ ॥

शं नः॒ सोमो॑ भवतु॒ ब्रह्म॒ शं नः॒ शं नो॒ ग्रावा॑णः॒ शमु॑ सन्तु॒ य॒ज्ञाः। शं नः॒ स्वरू॑णां मि॒तयो॑ भवन्तु॒ शं नः॑ प्र॒स्वः॑ शम्व॑स्तु॒ वेदिः॑ ॥ ७ ॥

शम्। नः॒। सोमः॑। भ॒वतु॒। ब्रह्म॑। शम्। नः॒। शम्। नः॒। ग्रावा॑णः। शम्। ऊँ॒ इति॑। स॒न्तु॒। य॒ज्ञाः ॥ शम्। नः॒। स्वरू॑णाम्। मि॒तयः॑। भ॒वन्तु॒। शम्। नः॒। प्र॒ऽस्वः॑। शम्। ऊँ॒ इति॑। अ॒स्तु॒। वेदिः॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सोमः) परम ऐश्वर्य वाला परमात्मा (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (भवतु) हो, (ब्रह्म) वेद (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हो, (ग्रावाणः) विज्ञानी लोग (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हों, (उ) और (यज्ञाः) यज्ञ [अग्निहोत्र से शिल्प क्रिया तक] (शम्) शान्तिदायक (सन्तु)

(शम्) (नः) (रुद्रः) रुतो ज्ञानस्य राता दाता (रुद्रेभिः) ज्ञानदातृभिर्मुनिभिः (जलाषः) जनी जनने ड + लष वाञ्छायाम्—घञ्। जानां जातानां लषो वाञ्छा यस्मात् सः (शम्) (नः) अस्माकं प्रार्थनाम् (त्वष्टा) विश्वकर्मा सर्वकर्ता (ग्नाभिः) वाग्भिः—निघ० १। ११ (इह) अस्मिन् विषये (शृणोतु) आकर्णयतु ॥

७—(शम्) शान्तिप्रदः (सोमः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (भवतु) (ब्रह्म) वेदः (शम्) (नः) (शम्) (नः) (ग्रावाणः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। गॄ निगरणे, वा गॄ शब्दे विज्ञापने च—क्वनिप्। विज्ञानिनः (शम्) (उ) चार्थे (सन्तु) (यज्ञाः) अग्निहोत्रादयः शिल्पान्ताः (शम्)

हों। (स्वरूणाम्) यूपों [जयस्तम्भों] के (मितयः) फैलाव (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (भवन्तु) हों, (प्रस्वः) ओषधें [अन्न सोम लता आदि] (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक हों, (उ) और (वेदिः) वेदी [यज्ञकुण्ड, चौतरा आदि] (शम्) सुखदायक (अस्तु) हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य परम पिता परमात्मा और परम पवित्र वेदों की शरण लेकर विद्वानों के मेल से यज्ञ और शिल्प विद्या का प्रचार करके संसार को सुख पहुंचावें ॥ ७ ॥

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः। शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥८॥

शम्। नः। सूर्यः। उरु-चक्षाः। उत्। एतु। शम्। नः। भवन्तु। प्र-दिशः। चतस्रः॥ शम्। नः। पर्वताः। ध्रुवयः। भवन्तु। शम्। नः। सिन्धवः। शम्। ऊं इति। सन्तु। आपः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(उरुचक्षाः) दूर तक दिखाने वाला (सूर्यः) सूर्य (नः) हमें (शम्) सुखदायक (उत् एतु) उदय हो, (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) बड़ी दिशायें (नः) हमें (शम्) सुखदायक (भवन्तु) होवें। (ध्रुवयः) दृढ़ (पर्वताः) पहाड़ (नः) हमें (शम्) सुखदायक (भवन्तु) हों, (सिन्धवः)

(नः) (स्वरूणाम्) शॄस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । स्वृ शब्दोपतापयोः—उप्रत्ययः। यूपानाम्। विजयस्तम्भानाम् (मितयः) परिमाणानि। विस्ताराः (भवन्तु) (शम्) (नः) (प्रस्वः) प्र+सूयतेः—क्विप्। प्रकर्षेण सूयमाना जायमाना ओषधयः। अन्नसोमलतादयः (शम्) (उ) (अस्तु) (वेदिः) यज्ञकुण्डः। परिष्कृता चतुरस्रादिरूपा भूमिः ॥

८—(शम्) सुखप्रदः (नः) अस्मभ्यम् (सूर्यः) रविः (उरुचक्षाः) चक्षेर्बहुलं शिच्च। उ० ४। २३३। उरु+चक्षिङ् दर्शने—असि। विस्तीर्णं चक्षो दर्शनं यस्मात् सः (उदेतु) उदयं गच्छतु (शम्) (नः) (भवन्तु) (प्रदिशः) प्रकृष्टाः पूर्वादयो दिशः (चतस्रः) (शम्) (नः) (पर्वताः)

समुद्र वा नदियां (नः) हमें (शम्) सुखदायक हों, (उ) और (आपः) जल [वा प्राण] (शम्) सुखदायक (सन्तु) हों ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्या बल से सूर्य के प्रकाश के समान सब दिशाओं को खोजते, पहाड़ों पर जाते, और नदियों को पार करते और कूप, वृष्टि आदि के जलों से खेती शिल्प आदि में काम लेते हैं, वे संसार में कीर्तिमान् होते हैं ॥ ८ ॥

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः । शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भविचं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥

शम् । नः । अदितिः । भवतु । व्रतेभिः । शम् । नः । भवन्तु । मरुतः । सु-अर्काः ॥ शम् । नः । विष्णुः । शम् । ऊं इति । पूषा । नः । अस्तु । शम् । नः । भवित्रम् । शम् । ऊं इति । अस्तु । वायुः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अदितिः) अखण्ड वेदवाणी (व्रतेभिः) नियमों के साथ (नः) हमें (शम्) सुखदायक (भवतु) हो, (मरुतः) शूर वीर (स्वर्काः) बड़े पण्डित लोग (नः) हमें (शम्) सुखदायक (भवन्तु) हों । (विष्णुः) व्यापक यज्ञ (नः) हमें (शम्) सुखदायक हो, (उ) और (पूषा) पोषण करने वाली पृथिवी (नः) हमें (शम्) सुखदायक (अस्तु) हो, (भवित्रम्)

शैलाः (भुवयः) भुजेः किच्च । उ० ४ । १४२ । भु स्थैर्ये—इप्रत्ययः कित् । स्थिराः (भवन्तु) (शम्) (नः) (सिन्धवः) समुद्रा नद्यो वा (शम्) (उ) (सन्तु) (आपः) जलानि प्राणा वा ॥

९—(शम्) सुखप्रदा (नः) अस्मभ्यम् (अदितिः) अखण्डवेदवाणी (भवतु) (व्रतेभिः) नियमैः (शम्) (नः) (भवन्तु) (मरुतः) शूरवीराः (स्वर्काः) सुपूजनीयाः पण्डिताः (शम्) (नः) (विष्णुः) व्यापको यज्ञः (शम्) (उ) (पूषा) पोषिका पृथिवी—निघ० १ । १ (नः) (अस्तु) (शम्) (नः) (भवित्रम्) अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७२ । भू सत्तायाम्—इत्रप्रत्ययः ।

रहने का घर (नः) हमें (शम्) सुखदायक हो, (उ) और (वायुः) वायु (शम्) सुखदायक (अस्तु) हो ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद वाणी द्वारा उत्तम नियमों को ग्रहण करके विद्वानों के सत्संग से सब पदार्थों से उपकार लेकर पृथिवी पर सुख बढ़ाते रहें ॥ ९ ॥

शं नो॑ दे॒वः स॑वि॒ता त्राय॑माणः॒ शं नो॑ भवन्तू॒षसो॑ विभा॒तीः ।
शं नः॑ प॒र्जन्यो॑ भवतु प्र॒जाभ्यः॒ शं नः॒ क्षेत्र॑स्य॒ पति॑रस्तु श॒म्भुः ॥१०॥

शम् । नः॒ । दे॒वः । स॒वि॒ता । त्राय॑माणः । शम् । नः॒ । भ॒व॒न्तु॒ । उ॒षसः॑ । वि॒ऽभा॒तीः ॥ शम् । नः॒ । प॒र्जन्यः॑ । भ॒व॒तु॒ । प्र॒ऽजाभ्यः॑ । शम् । नः॒ । क्षेत्र॑स्य । पतिः॑ । अ॒स्तु॒ । श॒म्ऽभुः ॥१०॥

भाषार्थ—(देवः) प्रकाशमान (सविता) लोकों का चलाने वाला सूर्य (त्रायमाणः) रक्षा करता हुआ (नः) हमें (शम्) सुखदायक हो, (विभातीः) जगमगाती हुई (उषसः) प्रभात वेलायें (नः) हमें (शम्) सुखदायक (भवन्तु) हों । (पर्जन्यः) सींचने वाला मेघ (नः) हमें और (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (शम्) सुखदायक (भवतु) हो, (शम्भुः) मङ्गल दाता (क्षेत्रस्य) खेत का (पतिः) स्वामी (नः) हमें (शम्) सुखदायक (अस्तु) हो ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य के ताप की अनुकूलता का और मेघ से वृष्टि आदि का विचार करके खेती आदि व्यवहार करें और अन्न आदि की वृद्धि से सुखी होवें ॥ १० ॥

भुवनम् । निवासस्थानम् (शम्) (उ) (अस्तु) (वायुः) पवनः ॥

१०—(शम्) शान्तिप्रदः (नः) अस्मभ्यम् (देवः) प्रकाशमानः (सविता) लोकप्रेरकः सूर्यः (त्रायमाणः) रक्षन् (शम्) (नः) (भवन्तु) (उषसः) प्रभातवेलाः (विभातीः) विभात्यः । विशेषेण दीप्यमानाः (शम्) (नः) (पर्जन्यः) पर्जन्यः । उ० ३ । १०३ । पृषु सेचने—अन्यप्रत्ययः, षस्य जः । वृष्टिप्रदो मेघः (भवतु) (प्रजाभ्यः) प्रजानां हिताय (शम्) (क्षेत्रस्य) क्षि ऐश्वर्य, निवासे च—ष्ट्रन् । शस्योत्पत्तिस्थानस्य (पतिः) स्वामी (अस्तु) (शम्भुः) मङ्गलप्रदः ॥

सूक्तम् ११ [शान्तिसूक्तम्] ॥

१—६ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ १, २, ५, ६ त्रिष्टुप्; ३ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; ४ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

इष्टप्राप्त्युपदेशः—इष्ट की प्राप्ति का उपदेश ॥

शं नः॑ सुत्यस्य॒ पत॑यो भवन्तु॒ शं नो॒ अर्व॑न्तः॒ शमु॑ सन्तु॒ गावः॑ ।
शं न॑ ऋ॒भवः॑ सुकृतः॑ सु॒हस्ताः॒ शं नो॑ भवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥ १ ॥

शम् । नः॒ । सुत्यस्य॑ । पत॑यः । भुवन्तु॒ । शम् । नुः । अर्व॑न्तः । शम् । ऊं॒ इति॑ । सुन्तु॒ । गाव॑ः ॥ शम् । नुः॒ । ऋ॒भवः॑ । सु॒-कृतः॑ । सु॒-हस्ताः॒ । शम् । नः॒ । भुवन्तु॒ । पि॒तरः॑ । हवे॑षु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सत्यस्य) सत्य के (पतयः) पालन करने वाले पुरुष (नः) हमें (शम्) सुखदायक (भवन्तु) हों, (अर्वन्तः) घोड़े (नः) हमें (शम्) सुखदायक, (उ) और (गावः) गौयें और बैल (शम्) सुखदायक (सन्तु) हों । (ऋभवः) बुद्धिमान् (सुकृतः) बड़े काम करने वाले (सुहस्ताः) हस्त क्रिया में चतुर लोग (नः) हमें (शम्) सुखदायक हों, (पितरः) पितर [पिता आदि रक्षक पुरुष] (नः) हमें (हवेषु) बुलावों पर [यज्ञों वा संग्रामों में] (शम्) सुखदायक (भवन्तु) हों ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को सत्यव्रती पुरुषों का अनुकरण करके ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि घोड़े शीघ्र गामी और गौवें दुधैल, बैल रथादि चलाने वाले, बुद्धिमान् लोग हस्त क्रिया में चतुर और कर्तव्य परायण हों ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । ३५ । १२ ॥

१—(शम्) सुखप्रदाः (नः) अस्मभ्यम् (सत्यस्य) यथार्थव्यवहारस्य (पतयः) पालकाः (भवन्तु) (शम्) (नः) (अर्वन्तः) अश्वाः (शम्) (उ) चार्थे (सन्तु) (गावः) धेनवो वृषभाश्च (शम्) (नः) (ऋभवः) मेधाविनः (सुकृतः) महाकर्माणः (सुहस्ताः) हस्तक्रियायां कुशलाः (शम्) (नः) (भवन्तु) (पितरः) पित्रादिरक्षकाः (हवेषु) आह्वानेषु । यज्ञेषु । सङ्ग्रामेषु ॥

शं नो॑ दे॒वा वि॒श्वदे॑वा भवन्तु॒ शं सर॑स्वती स॒ह धी॒भिर॑स्तु ।
शम॑भि॒षाचः॒ शमु॑ राति॒षाचः॒ शं नो॑ दि॒व्याः पार्थि॑वाः शं नो॒
अप्याः॑ ॥ २ ॥

शम् । नः॒ । दे॒वाः । वि॒श्व-दे॑वाः । भ॒वन्तु॒ । शम् । सर॑स्वती ।
स॒ह । धी॒भिः । अ॒स्तु॒ ॥ शम् । अ॒भि॒-साचः॑ । शम् । ऊं॒ इति॑ ।
रा॒ति॒-साचः॑ । शम् । नः॒ । दि॒व्याः । पार्थि॑वाः । शम् । नः॒ ।
अप्याः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विश्वदेवाः) सब विजय चाहने वाले, (देवाः) विद्वान् लोग (नः) हमें (शम्) सुखदायक (भवन्तु) हों, (सरस्वती) विज्ञानवती वेद विद्या (धीभिः सह) अनेक क्रियाओं के साथ (शम्) सुखदायक (अस्तु) हो। (अभिषाचः) सब ओर से मिलनसार लोग (शम्) सुखदायक हों, (उ) और (रातिशाचः) दानों की वर्षा करने हारे (शम्) सुखदायक हों, (दिव्याः) आकाश सम्बन्धी पदार्थ [वायु, मेघ, विमान आदि] और (पार्थिवाः) पृथिवी सम्बन्धी पदार्थ [राज्य, सुवर्ण, अग्नि, रथ आदि] (नः) हमें (शम्) सुखदायक हों, (अप्याः) जल सम्बन्धी पदार्थ [मोती, मूंगा, नौका आदि] (नः) हमें (शम्) सुखदायक हों ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विजयी आप्त विद्वानों को प्राप्त होकर सब विद्याओं की वृद्धि करते हैं, वे ही सब संसार पर शासन करते हैं ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । ३५ ११ ॥

२—(शम्) सुखप्रदाः (नः) अस्मभ्यम् (देवाः) विद्वांसः (विश्वदेवाः) सर्वे विजिगीषवः (भवन्तु) (शम्) (सरस्वती) विज्ञानवती वेदविद्या (सह) साकम् (धीभिः) क्रियाभिः (अस्तु) (शम्) (अभिषाचः) अभि + षच समवाये-ण्वि । सर्वतः संगच्छमानाः पुरुषाः (रातिषाचः) राति + षच सेचने—ण्वि । दानानां वृष्टिकर्तारः (शम्) (नः) (दिव्याः) आकाशसम्बन्धिनो वायुमेघविमानादयः (पार्थिवाः) पृथिव्यां विद्यमाना राज्यसुवर्णादयः (शम्) (नः) (अप्याः) जलसम्बन्धिनो मुक्ताविद्रुमनौकादयः ॥

शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शमहिर्बुध्न्य१: शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥३॥

शम्। नः। अजः। एक-पात्। देवः। अस्तु। शम्। अहिः। बुध्न्यः। शम्। समुद्रः॥ शम्। नः। अपाम्। नपात्। पेरुः। अस्तु। शम्। नः। पृश्निः। भवतु। देव-गोपा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अजः) अजन्मा, (एकपात्) एक डग वाला [एक रस व्यापक], (देवः) प्रकाशमय परमात्मा (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (अस्तु) हो, (अहिः) न मारने वाला, (बुध्न्यः) मूल तत्त्वों में रहने वाला [आदि कारण जगदीश्वर] (शम्) शान्तिदायक हो, (समुद्रः) यथावत् सींचने वाला ईश्वर (शम्) शान्तिदायक हो। (अपाम्) प्रजाओं का (नपात्) न गिराने वाला, (पेरुः) पार लगाने वाला (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (अस्तु) हो, (देवगोपा) प्रकाशमय परमात्मा से रक्षा की गयी (पृश्निः) पूछने योग्य प्रकृति [जगत् सामग्री] (नः) हमें (शम्) शान्तिदायक (भवतु) हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जगत् पिता परमात्मा की महिमा को विचारता हुआ मनुष्य

३—(शम्) शान्तिप्रदः (नः) अस्मभ्यम् (अजः) अजन्मा जगदीश्वरः (एकपात्) सर्वं जगदेकस्मिन् पादे पादगतिप्रमाणे अंशे वा यस्य सः (देवः) प्रकाशमयः परमात्मा (अस्तु) (शम्) (अहिः) आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च। उ० ४। १३८। इति बाहुलकात्, नञ्+हन वधे—इण्, डित्। अहन्ता। अमारकः (बुध्न्यः) बुध्नेषु तत्त्वमूलेषु विद्यमानः (शम्) (समुद्रः) समुद्र आदित्यः, समुद्र आत्मा-निरु० १४। १६। सर्वसेचकः परमात्मा (शम्) (नः) (अपाम्) प्रजानाम् (नपात्) न पातयिता। सर्वदा रक्षकः (पेरुः) मीपीभ्यां रुः। उ० ४। १०१। पीङ् पाने—रुप्रत्ययः। यद्वा पा रक्षणे—रुप्रत्ययः, आकारस्य एकारः। यद्वा पार कर्मसमाप्तौ—उप्रत्ययः आकारस्य एकारः। पानकर्ता। रक्षकः। पारयिता (अस्तु) (शम्) (नः) (पृश्निः) प्रष्टव्या प्रकृतिः। जगत्सामग्री (भवतु) (देवगोपा) देव+गुपू रक्षणे—अच्, टाप्। देवः परमेश्वरो गोपो रक्षको यस्याः सा ॥

प्रकृति के संयोग वियोग को खोज कर अपनी उन्नति करे ॥ ३ ॥

मन्त्र ३—५ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—७ । ३५ । १३—१५ ॥

आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तामिदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः ।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः ॥४

आदित्याः । रुद्राः । वसवः । जुषन्ताम् । इदम् । ब्रह्म । क्रियमाणम् । नवीयः ॥ शृण्वन्तु । नः । दिव्याः । पार्थिवासः । गो-जाताः । उत । ये । यज्ञियासः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आदित्याः) अखण्ड ब्रह्मचारी, (रुद्राः) ज्ञानदाता और (वसवः) श्रेष्ठ विद्वान् लोग (इदम्) इस (क्रियमाणम्) सिद्ध होते हुये (नवीयः) अधिक नवीन (ब्रह्म) धन या अन्न को (जुषन्ताम्) सेवें । (दिव्याः) दिव्य [कामना योग्य] गुण वाले, (पार्थिवासः) पृथिवी के स्वामी (उत) और (गोजाताः) वाणी में प्रसिद्ध [सत्यवक्ता] पुरुष, (ये) जो (यज्ञियासः) पूजा योग्य हैं, (नः) हमारी [प्रार्थना] (शृण्वन्तु) सुनें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य धार्मिक विद्वानों को अच्छे प्रकार प्रसन्न करके मनोरथ सिद्ध करें ॥ ४ ॥

ये देवानामृत्विजो यज्ञियासो मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

ये । देवानाम् । ऋत्विजः । यज्ञियासः । मनोः । यजत्राः । अमृताः । ऋत-ज्ञाः ॥ ते । नः । रासन्ताम् । उरु-गायम् ।

४—(आदित्याः) अदिति—ण्य । अखण्डब्रह्मचारिणः (रुद्राः) रुतो ज्ञानस्य रातारो दातारः (वसवः) श्रेष्ठपुरुषाः (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् (इदम्) (ब्रह्म) धनमन्नं वा (क्रियमाणम्) सम्पाद्यमानम् (नवीयः) अधिकनूतनम् (शृण्वन्तु) (नः) अस्माकं प्रार्थनाम् (दिव्याः) दिवि कमनीये गुणे भवाः (पार्थिवासः) पृथिवीश्वराः (गोजाताः) गवि सत्यवाचि प्रसिद्धाः (उत) अपि (ये) (यज्ञियासः) पूजार्हाः ॥

अद्य । यूयम् । पात । स्वस्ति-भिः । सदा । नः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो लोग (देवानाम्) विद्वानों के बीच (ऋत्विजः) ऋतु ऋतु में यज्ञ [श्रेष्ठव्यवहार] करने हारे, (यज्ञियासः) पूजा योग्य, (मनोः) ज्ञान के (यजत्राः) देने हारे, (अमृताः) अमर [कीर्ति वाले] और (ऋतज्ञाः) सत्य धर्म के जानने हारे हैं। (ते) वे (नः) हमें (अद्य) आज (उरुगायम्) चौड़ा मार्ग [वा बहुत ज्ञान] (रासन्ताम्) देवें, (यूयम्) तुम [विद्वानो] (स्वस्तिभिः) अनेक सुखों से (सदा) सदा (नः) हमारी (पात) रक्षा करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो लोग विद्वानों में महाविद्वान्, जीवनमुक्त, परोपकारी हों, उनकी आज्ञा पालन करके हम सदा सुखी रहें ॥ ५ ॥

तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम् ।
अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय ॥ ६ ॥

तत् । अस्तु । मित्रावरुणा । तत् । अग्ने । शम् । योः । अस्मभ्यम् । इदम् । अस्तु । शस्तम् ॥ अशीमहि । गाधम् । उत । प्रति-स्थाम् । नमः । दिवे । बृहते । सदनाय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणा) हे स्नेही और श्रेष्ठ माता पिता ! दोनो और (अग्ने) हे विद्वान् आचार्य ! (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (तत्) वही (शम्)

५—(ये) महाविद्वांसः (देवानाम्) विदुषां मध्ये (ऋत्विजः) ऋतावृतौ यष्टारः श्रेष्ठकर्मकर्त्तारः (यज्ञियासः) पूजार्हाः (मनोः) ज्ञानस्य (यजत्राः) दातारः (अमृताः) अमराः । कीर्तिमन्तः (ऋतज्ञाः) सत्यधर्मस्य ज्ञातारः (ते) पूर्वोक्ताः (नः) अस्मभ्यम् (रासन्ताम्) ददतु (उरुगायम्) गै शब्दे गाङ् गतौ वा—घञ्, युगागमः विस्तीर्णमार्गम् । बहुज्ञानम् (अद्य) अस्मिन् दिने (यूयम्) (पात) रक्षत (स्वस्तिभिः) कल्याणैः (सदा) (नः) अस्मान् ॥

६—(तत्) वक्ष्यमाणम् (अस्तु) (मित्रावरुणा) हे स्नेहिश्रेष्ठौ माता पितरौ (तत्) (अग्ने) हे विद्वन्नाचार्य (शम्) शान्तिकरम् । रोगनाशकम्

शान्तिदायक [रोगनाशक], (तत्) वही (योः) भयनिवारक (अस्तु) होवे और (इदम्) वही (शस्तम्) बड़ाई योग्य (अस्तु) होवे। [कि] (गाधम्) गम्भीरता, (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा [गौरव] (उत) और (नमः) सत्कार को (दिवे) कामना योग्य (बृहते) विशाल (सदनाय) स्थान के लिये (अशीमहि) हम पावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता और आचार्य आदि विद्वानों की सेवा से उत्तम गुण प्राप्त करके संसार में गम्भीर, प्रतिष्ठित और आदर योग्य होकर उच्च पद पावें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—५ । ४७ । ७ ॥

सूक्तम् १२ ॥

मन्त्रः १॥ उषा देवता ॥ भुरिगार्षी पङ्क्तिश्छन्दः ।

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

उ॒षा अप॒ स्वसु॒स्तमः॒ सं व॑र्तयति वर्त॒निं सु॑जा॒तता॑ ।
अ॒या वाजं॑ दे॒वहि॑तं सनेम॒ मदे॑म श॒तहि॑माः सु॒वीराः॑ ॥ १ ॥

उ॒षाः । अप॑ । स्वसुः॑ । तमः॑ । सम् । व॒र्त॒य॒ति॒ । व॒र्त॒निम् । सु॒ऽजा॒तता॑ ॥ अ॒या । वाज॑म् । दे॒वऽहि॑तम् । स॒ने॒म॒ । मदे॑म । श॒तऽहि॑माः । सु॒ऽवीराः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(उषाः) प्रभात वेला (स्वसुः) [अपनी] बहिन [रात्रि] के (तमः) अन्धकार को (अप = अपवर्तयति) हटा देती है, और (सुजातता)

(योः) सू० १० म० १ । भयनिवारकम् (अस्मभ्यम्) (इदम्) (अस्तु) (शस्तम्) प्रशंसनीयम् (अशीमहि) अशू व्याप्तौ—विधिलिङि विकरणस्य लुक् । अश्नुवीमहि । प्राप्नुयाम् (गाधम्) गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च—घञ् । गाम्भीर्यम् (उत) अपि (प्रतिष्ठाम्) गौरवम् (नमः) सत्कारम् (दिवे) कमनीयाय (बृहते) महते (सदनाय) स्थानाय । अधिकाराय ॥

१—(उषाः) प्रभातवेला (अप) अपवर्तयति । निवारयति (स्वसुः) भगिन्या रात्रेः (तमः) अन्धकारम् (सम्) परस्परम् (वर्तयति) प्रवर्तयति ।

[अपनी] मेलमनसाहत से (वर्तनिम्) [उसके लिये] मार्ग (सम्) मिल कर (वर्तयति) वता देती है। (अया) इस [नीति] से (शतहिमाः) सौ वर्ष जीवते हुये और (सुवीराः) सुन्दर वीरों को रखते हुये हम (देवहितम्) विद्वानों के हितकारी (वाजम्) विज्ञान को (सनेम) बांटें और (मदेम) आनन्द करें ॥ १ ॥

भावार्थ—पृथिवी की गोलाई के कारण आधे भूगोल में एक साथ प्रकाश करने से उषा रात्रि को हटाकर जितनी आगे बढ़ती है, उतना ही स्थान रात्रि को पीछे से देती चलती है और दोनों प्रीति पूर्वक मिलकर जगत् का उपकार करती हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य ज्ञान के प्रचार से परस्पर उपकार करके बड़े बड़े धैर्यवान् बलवानों सहित पूर्ण आयु भोगें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध—ऋग्वेद में है १०। १७२। ४ और उत्तरार्द्ध ऋग्० ६। १७। १५ और सामवेद पू० ५। ७। ७ ॥

सूक्तम् १३ [अप्रतिरथसूक्तम्-युद्ध यात्रा का राग] ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ७, ८, १० त्रिष्टुप्; ३—६ भुरिक् त्रिष्टुप्; ९ निचृत् त्रिष्टुप्; ११ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

सेनापतिकृत्योपदेशः—सेनापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्र॑स्य बा॒हू स्थवि॑रौ॒ वृषा॑णौ चि॒त्रा इ॒मा वृ॑ष॒भौ पा॑रयि॒ष्णू ।
तौ यो॑क्षे प्रथ॒मो योग॒ आग॑ते॒ याभ्यां॑ जि॒तमसु॑राणां॒ स्व॑१र्यत् ॥१॥

इन्द्र॑स्य । बा॒हू इति॑ । स्थवि॑रौ । वृषा॑णौ । चि॒त्रा । इ॒मा । वृ॒ष॒भौ । पा॒र॒यि॒ष्णू इति॑ ॥ तौ । यो॒क्षे॒ । प्र॒थ॒मः । योगे॑ । आ-ग॑ते । याभ्या॑म् । जि॒तम् । असु॑राणाम् । स्वः॑ । यत् ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् पुरुष सेनापति] के

प्रसारयति (वर्तनिम्) वृत्तेश्च। उ० २। १०६। वृतु वर्तने—अनि। मार्गम् (सुजातता) सुजाततया। श्रेष्ठगुणवत्त्वेन (अया) अनया नीत्या (वाजम्) विज्ञानम् (देवहितम्) विद्वद्भ्यो हितकरम् (सनेम) विभजेम (मदेम) आनन्देम (शतहिमाः) शतवर्षजीविनः (सुवीराः) उत्तमवीरयुक्ताः ॥

१—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः सेनापतेः (बाहू) भुजौ (स्थविरौ)

(इमौ) ये दोनों (बाहू) भुजायें (स्थविरौ) पुष्ट, (वृषाणौ) वीर्ययुक्त, (चित्रा) अद्भुत (वृषभौ) श्रेष्ठ और (पारयिष्णू) पार लगाने वाले होवें। (तौ) उन दोनों को (योगे) अवसर (आगते) आने पर (प्रथमः) मुखिया तू (योक्षे) काम में लाता है, (याभ्याम्) जिन दोनों से (असुराणाम्) असुरों [प्राण लेने वाले शत्रुओं] का (यत्) जो (स्वः) सुख है, [वह] (जितम्) जीता जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को सेनापति ऐसा बनाना चाहिये, जो विद्यावान्, धनी, महाप्रतापी, शरीर से पुष्ट, शत्रुओं का दमन करने वाला और प्रजापालक हो ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सामवेद में है—उ० ६। ३। ७॥

आशुः शिशा॑नो वृष॒भो न भी॒मो घ॑नाघ॒नः क्षोभ॑णश्चर्षणी॒नाम्।
सं॒क्रन्द॑नोऽनिमि॒ष ए॑कवी॒रः श॒तं सेना॑ अजयत् सा॒कमिन्द्रः॑ ॥२॥

आशुः। शिशा॑नः। वृ॒ष॒भः। न। भी॒मः। घ॒ना॒घ॒नः। क्षोभ॑णः। च॒र्ष॒णी॒नाम्॥ सम्ऽक्रन्द॑नः। अ॒नि॒ऽमि॒षः। ए॒क॒ऽवी॒रः। श॒तम्। सेनाः। अ॒ज॒य॒त्। सा॒कम्। इन्द्रः॑॥ २॥

भाषार्थ—(चर्षणीनाम्) मनुष्यों में (आशुः) फुरतीले, (शिशानः) तीक्ष्ण, (वृषभः न) बैल के समान (भीमः) भयङ्कर, (घनाघनः) अत्यन्त चोट मारने वाले, (क्षोभणः) हलचल मचाने वाले, (सङ्क्रन्दनः) ललकारने

अजिरशिशिरशिथिल० । उ० १। ५३। ष्ठा गतिनिवृत्तौ—किरच्, वुगागमः। स्थूलौ। पुष्टौ (वृषाणौ) वीर्ययुक्तौ (चित्रा) चित्रौ। श्लाघनीयौ। अद्भुतौ (इमा) इमौ (वृषभौ) श्रेष्ठौ (पारयिष्णू) पारयितारौ (तौ) भुजौ (योक्षे) युजिर् योगे मध्यमपुरुषस्य लटि छान्दसं रूपम्। त्वं युङ्क्षे। प्रयोगे करोषि (प्रथमः) मुख्यः सन् त्वम् (योगे) अवसरे (आगते) प्राप्ते (याभ्याम्) बाहुभ्याम् (जितम्) जयेन प्राप्तम् (असुराणाम) असूनां प्राणानां ग्रहीतॄणां शत्रूणाम् (स्वः) सुखम् (यत्)॥

२—(आशुः) शीघ्रकारी (शिशानः) शो तनूकरणे—कानच्। तीक्ष्णस्वभावः (वृषभः) बलीवर्दः (न) इव (भीमः) भयङ्करः (घनाघनः) हन्तेर्घत्वं च। वा० पा० ६। १। १२। हन हिंसागत्योः—अचि प्रत्यये अत्वमभ्यास-

वाले, (अनिमिषः) पलक न मूंदने वाले, (एकवीरः) एकवीर [अद्वितीय पराक्रमी], (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] ने (शतम्) सौ (सेनाः) सेनाओं को (साकम्) एक साथ (अजयत्) जीता है ॥ २ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! यह पहिले से नियम चला आता है कि युद्ध-कुशल, पराक्रमी अनालसी सेनापति शत्रुओं को नाश करता है, वैसाही तुम भी करो ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० ।१०३ । १, यजुर्वेद १७ । ३३ और सामवेद उ० ६ । ३ । १ ॥

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुनायोध्येन दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।
तदिन्द्रेण जयत तत्संहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥३॥

सम्-क्रन्दनेन । अनि-मिषेण । जिष्णुना । अयोध्येन । दुः-च्यवनेन । धृष्णुना ॥ तत् । इन्द्रेण । जयत । तत् । सहध्वम् । युधः । नरः । इषु-हस्तेन । वृष्णा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(नरः) हे नरो ! [नेता लोगो] (सङ्क्रन्दनेन) ललकारने वाले, (अनिमिषेण) पलक न मूंदने वाले, (जिष्णुना) विजयी, (अयोध्येन) अजेय, (दुश्च्यवनेन) न हटने वाले, (धृष्णुना) निडर [बड़े उत्साही], (इषुहस्तेन) तीर [अस्त्र शस्त्र] हाथ में रखने वाले, (वृष्णा) वीर्यवान, (इन्द्रेण) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] के साथ (युधः) लड़ाकाओं को (तत्) इस

स्यागागमश्च । अतिशयेन महता (क्षोभणः) संचालयिता (चर्षणीनाम्) मनुष्याणाम् (संक्रन्दनः) शत्रूणामाह्वाता (अनिमिषः) अनिमेषचक्षुः । सदा-सावदानः (एकवीरः) अद्वितीयशूरः (शतम्) असंख्याः (सेनाः) (अजयत्) जितवान् (साकम्) सार्धम् (इन्द्रः) महाप्रतापी सेनापतिः ॥

३—(सङ्क्रन्दनेन) आह्वानशीलेन (अनिमिषेण) अनिमिषचक्षुषा । सदा-सावदानेन (जिष्णुना) विजयिना (अयोध्येन) केनापि योद्धुमशक्येन । अजेयेन (दुश्च्यवनेन) दुर्विचाल्येन । दुर्निवार्येण (धृष्णुना) प्रगल्भेन (तत्) अनेन प्रकारेण (इन्द्रेण) महाप्रतापिना सेनापतिना (जयत) (तत्) एवम् (सहध्वम्) अभिभवत (युधः) योद्धॄन् । शत्रून् (नरः) हे नेतारः (इषुहस्तेन)

प्रकार (अयत) तुम जीतो और (तत्) इस प्रकार (सहध्वम्) हराओ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २ में जो सेनापति के लक्षण कहे हैं, वैसे युद्धकुशल, सदासावधान महाप्रतापी पुरुष को सेनानी बनाकर वीर पुरुष शत्रुओं को मारें ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १०३ । २, ३ तथा यजुर्वेद १७ । ३४, ३५ और सामवेद उ० ६ । ३ । १ ॥

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन ।
संसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्यु१ग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥४॥

सः । इषु-हस्तैः । सः । निषङ्गि-भिः । वशी । सम्-स्रष्टा । सः । युधः । इन्द्रः । गणेन ॥ संसृष्ट-जित् । सोम-पाः । बाहु-शर्धी । उग्र-धन्वा । प्रति-हिताभिः । अस्ता ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सः सः) वही (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] (इषुहस्तैः) तीर [अस्त्र शस्त्र] हाथों में रखने वालों, और (निषङ्गिभिः) खड्ग वालों के साथ (वशी) वश में करने वाला, (सः) वही (गणेन) अपने गण [अधिकारी लोगों] सहित (युधः) [अपने] योद्धाओं को (संस्रष्टा) एकत्र करने वाला, (संसृष्टजित्) एकत्र हुये [शत्रुओं] को जीतने वाला, (सोमपाः) ऐश्वर्य की रक्षा करने वाला, (बाहुशर्धी) भुजाओं में बल रखने वाला, (उग्रधन्वा) प्रचंड धनुष वाला, (प्रतिहिताभिः) सन्मुख ठहरायी हुयी [सेनाओं] से (अस्ता) [बैरियों का] गिराने वाला है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो युद्धकुशल मनुष्य अपनी वीर सेनाओं को व्यूह रचना से खड़ा करके शत्रुओं को मारने में समर्थ हो, वही सेनाध्यक्ष बनाया जावे ॥ ४ ॥

इषवो बाणा शस्त्राणि हस्तयोर्यस्य तेन (वृष्णा) वीर्यवता ॥

४—(सः) (इषुहस्तैः) शस्त्रपाणिभिः (सः) (निषङ्गिभिः) खड्गधारिभिः (वशी) वशयिता (संस्रष्टा) संयोजकः (सः) (युधः) स्वयोद्धॄन् (इन्द्रः) महाप्रतापी सेनापतिः (गणेन) अधिकारिसमूहेन (संसृष्टजित्) संयुक्तानां शत्रूणां जेता (सोमपाः) ऐश्वर्यस्य पाता रक्षकः (बाहुशर्धी) बाह्वोः शर्धो बलं यस्य सः (उग्रधन्वा) प्रचण्डधनुर्धरः (प्रतिहिताभिः) प्रत्यक्षेण व्यूहेन स्थिताभिः सेनाभिः (अस्ता) शत्रूणां क्षेप्ता मारयिता ॥

बुलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोविदन् ५

बल-विज्ञायः । स्थविरः । प्र-वीरः । सहस्वान् । वाजी । सहमानः । उग्रः ॥ अभि-वीरः । अभि-सत्वा । सहः-जित् । जैत्रम् । इन्द्र । रथम् । आ । तिष्ठ । गो-विदन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(बलविज्ञायः) बल का जानने हारा, (स्थविरः) पुष्टाङ्ग [वा वृद्ध अर्थात् अनुभवी], (प्रवीरः) बड़ा वीर, (सहस्वान्) बड़ा बली, (वाजी) बड़ा ज्ञानी [वा अन्न वाला], (सहमानः) हराने वाला, (उग्रः) प्रचण्ड, (अभिवीरः) सब ओर वीरों को रखने वाला, (अभिसत्वा) सब ओर युद्धकुशल विद्वानों के रखने वाला, (सहोजित्) बल से जीतने वाला, (गोविदन्) पृथिवी के देशों [वा वाणियों] को जानने वाला होकर, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी सेनापति] (जैत्रम्) विजयी (रथम्) रथ पर (आ तिष्ठ) बैठ ५

भावार्थ—अपने और शत्रु के बल को जानने वाला सेनाध्यक्ष अपने युद्धकुशल वीरों और युद्ध सामग्री के साथ चढ़ाई करे ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १०३ । ५; यजुर्वेद १७ । ३५ और सामवेद—उ० ६ । ३ । २ ॥

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।

५—(बलविज्ञायः) कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इत्यण् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युगागमः । बलस्य ज्ञाता (स्थविरः) म० १ । पुष्टाङ्गः । बलविद्यावृद्धः (प्रवीरः) प्रकृष्टो वीरः शूरः (सहस्वान्) महाबली (वाजी) ज्ञानवान् । अन्नवान् (सहमानः) अभिभवनशीलः (उग्रः) तीव्रतेजाः (अभिवीरः) अभितो वीरा यस्य सः (अभिसत्वा) अ० ५ । २० । ८ । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—कनिप्, दस्य तः । अभितः सत्वानो युद्धविद्वांसो यस्य सः (सहोजित्) बलेन जेता (जैत्रम्) जेतृ-अण् प्रज्ञादिः । जेतारम् । विजयिनम् (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् सेनापते (रथम्) युद्धयानम् (आ तिष्ठ) आरोह (गोविदन्) गाः पृथिवीदेशान् वाचो वा जानन् सन् ॥

ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥६॥
इमम् । वीरम् । अनु । हर्षध्वम् । उग्रम् । इन्द्रम् । सखायः । अनु । सम् । रभध्वम् ॥ ग्राम-जितम् । गो-जितम् । वज्र-बाहुम् । जयन्तम् । अज्म । प्र-मृणन्तम् । ओजसा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सखायः) हे मित्रो ! (इमम्) इस (वीरम् अनु) वीर [सेनापति] के साथ (हर्षध्वम्) हर्ष करो, (ग्रामजितम्) शत्रुओं के समूह को जीतने वाले, (गोजितम्) उन की भूमि को जीतने वाले, (वज्रबाहुम्) भुजाओं में शस्त्र रखने वाले, (जयन्तम्) विजयी, (ओजसा) [अपने शरीर, बुद्धि और सेना के] बल से (अज्म) संग्राम को (प्रमृणन्तम्) मिटाने वाले, (उग्रम्) तेजस्वी (इन्द्रम् अनु) इन्द्र [महाप्रतापी सेनाध्यक्ष] के साथ (सम्) अच्छे प्रकार (रभध्वम्) उद्योग करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—युद्धकुशल सैनिक लोग चतुर सेनापति के अनुगामी होकर शत्रुओं का राज्य आदि लेकर प्रजापालन करें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १०३ । ६, यजुर्वेद १७ । ३८ और सामवेद, उ० ६ । ३ । २ । और ऊपर आचुका है-अथ० ६ । ९७ । ३ ॥

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदाय उग्रः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयोध्यो३ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥७॥
अभि । गोत्राणि । सहसा । गाहमानः । अदायः । उग्रः ।

६—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ६ । ९७ । ३ (इमम्) प्रसिद्धम् (वीरम्) सेनाध्यक्षम् (अनु) अनुसृत्य (हर्षध्वम्) हर्षं प्राप्नुत (उग्रम्) प्रचण्डम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं सेनाध्यक्षम् (सखायः) हे सुहृद्गणाः (अनु) अनुगत्य (सम्) सम्यक् (रभध्वम्) रभ राभस्ये । उद्योगं कुरुत (ग्रामजितम्) शत्रुसमूहजेतारम् (गोजितम्) शत्रुभूमिविजयिनम् (वज्रबाहुम्) वज्राः शस्त्राणि बाह्वोर्यस्य तम् (जयन्तम्) जि जये—झच् । विजयिनम् (अज्म) संग्रामम् (प्रमृणन्तम्) विनाशयन्तम् (ओजसा) स्वस्य शरीरबुद्धिसेनाबलेन ॥

शत-मन्युः । इन्द्रः ॥ दुः-च्यवनः । पृतनाषाट् । अयोध्यः । अस्माकम् । सेनाः । अवतु । प्र । युत्-सु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(गोत्राणि) शत्रुकुलों को (सहसा) बल से (अभि) सब ओर से (गाहमानः) गाहता हुआ [मथता हुआ] (अदायः) अखण्ड, (उग्रः) प्रचण्ड, (शतमन्युः) सैकड़ों प्रकार क्रोध वाला, (दुश्च्यवनः) न हटने वाला, (पृतनाषाट्) सेनाओं का हराने वाला, (अयोध्यः) अजेय (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] (अस्माकम्) हमारी (सेनाः) सेनाओं को (युत्सु) युद्धों में (प्र) प्रयत्न से (अवतु) बचावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपनी अचूक बुद्धि और श्रेष्ठ गुणों से शत्रुओं को हराकर प्रजा की रक्षा कर सके, लोग उसी को सेनापति बनावें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १०३ । ७, यजु० १७ । ३९ । और साम०, उ० ६ । ३ । ३ ॥

बृह॑स्पते॒ परि॑ दीया॒ रथे॑न रक्षो॒हामित्राँ॑ अप॒बाध॑मानः ।
प्र॒भ॒ञ्जञ्छत्रू॑न् प्रमृ॒णन्न॒मित्रा॑न॒स्माक॑मेध्यवि॒ता त॒नूना॑म् ॥ ८ ॥

बृह॑स्पते । परि॑ । दी॒य॒ । रथे॑न । र॒क्षः॒-हा । अ॒मित्रा॑न् । अ॒प॒-बाध॑मानः ॥ प्र॒-भ॒ञ्जन् । शत्रू॑न् । प्र॒-मृ॒णन् । अ॒मित्रा॑न् । अ॒स्माक॑म् । ए॒धि॒ । अ॒वि॒ता । त॒नूना॑म् ॥ ८ ॥

७—(अभि) सर्वतः (गोत्राणि) गुधृवीपचि० । उ० ४ । १६७ । गुङ् शब्दे—त्रप्रत्ययः । शत्रुकुलानि (सहसा) बलेन (गाहमानः) विलोडयन् (अदायः) दाप् लवने, दो अवखण्डने वा—घञ् युगागमः । अखण्डः (उग्रः) प्रचण्डः (शतमन्युः) शतधाकोपयुक्तः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनेशः (दुश्च्यवनः) छन्दसि गत्यर्थेभ्यः । पा० ३ । ३ । १२९ । दुर्+च्युङ् गतौ—युच् । दुर्निवार्यः (पृतनाषाट्) छन्दसि सहः । पा० ३ । २ । ६३ । पृतना+षह अभिभवे—ण्वि । सहेः साडः सः । पा० ८ । ३ । ५६ । इति मूर्धन्यादेशः । सेनानामभिभविता (अयोध्यः) योद्धुमशक्यः । अजेयः । अबाध्यः (अस्माकम्) (सेनाः) (अवतु) रक्षतु (प्र) प्रयत्नेन (युत्सु) युद्धेषु ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़े बड़े पुरुषों के रक्षक] (रक्षोहा) राक्षसों [दुष्टों] का मारने वाला, (अमित्रान्) अमित्रों [वैरियों] को (अपबाधमानः) हटा देने वाला होकर (रथेन) रथ समूह से (परि) सब ओर से (दीय) नाश कर । (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रभञ्जन्) कुचलता हुआ और (अमित्रान्) अमित्रों को (प्रमृणन्) मार डालता हुआ तू (अस्माकम्) हमारे (तनूनाम्) शरीरों का (अविता) रक्षक (एधि) हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—अनुभवी योद्धाओं को उत्साह देने, वैरियों को मारने, और प्रजा के बचाने में योग्य पुरुष ही सेनापति होवे ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १०३ । ४ । यजु० १७ । ३६ और साम०—उ० ६ । ३ । २ ॥

इन्द्रं एषां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः । देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मुरुतो यन्तु मध्ये ॥ ९ ॥

इन्द्रः । एषाम् । नेता । बृहस्पतिः । दक्षिणा । यज्ञः । पुरः । एतु । सोमः ॥ देव-सेनानाम् । अभि-भञ्जतीनाम् । जयन्तीनाम् । मरुतः । यन्तु । मध्ये ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी मुख्य सेनापति] (एषाम्) इन [वीरों] का (नेता) नेता [होवे], (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े अधिकारों

८—(बृहस्पते) हे बृहतां महतां पुरुषाणां रक्षक (परि) सर्वतः (दीय) दीङ् क्षये, छान्दसो दीर्घः । नाशय (रथेन) युद्धरथसमूहेन (रक्षोहा) रक्षसां दुष्टानां हन्ता (अमित्रान्) अमेर्द्विषति चित् । उ० ४ । १७४ । अम पीडने—इत्र, चित् । पीडकान् । शत्रून् (अपबाधमानः) निवारयन् सन् (प्रभञ्जन्) प्रकर्षेण मर्दयन् (शत्रून्) (प्रमृणन्) अतिशयेन मारयन् (अमित्रान्) (अस्माकम्) (एधि) भव (अविता) रक्षकः (तनूनाम्) शरीराणाम् ॥

९—(इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तो मुख्यसेनापतिः (एषाम्) वीराणाम् (नेता) नायकः (बृहस्पतिः) बृहतामधिकाराणां रक्षकः सेनानायकः (दक्षिणा)

का स्वामी सेना नायक] (दक्षिणा) दाहिनी ओर और (यज्ञः) पूजनीय, (सोमः) सोम [प्रेरक, उत्साहक सेनाधिकारी] (पुरः) आगे (एतु) चले। (मरुतः) मरुद्गण [शूरवीर पुरुष] (अभिभञ्जतीनाम्) कुचल डालती हुयी, (जयन्तीनाम्) विजयिनी (देवसेनानाम्) विजय चाहने वालों की सेनाओं के (मध्ये) बीच में (यन्तु) चलें ॥ ६ ॥

भावार्थ—व्यूह रचना में अपनी अपनी सेना लेकर मुख्य सेनापति की दाहिनी ओर को बृहस्पति नाम सेनाधिकारी हो, सोम नाम सेनाध्यक्ष सब से आगे और अन्य मरुद्गण शूरवीर योद्धा बीच में रहें। इसी प्रकार चक्रव्यूह, पद्मव्यूह आदि अनेक व्यूह रचनाओं से शत्रुओं को जीतें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १०३ । ८, यजु० १७ । ४० और साम०, उ० ६ । ३ । ३ ॥

इन्द्र॑स्य॒ वृष्णो॒ वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ आदि॒त्यानां॑ म॒रुतां॒ शर्ध॑ उ॒ग्रम् ।
म॒हाम॑नसां भुवनच्य॒वानां॒ घोषो॑ दे॒वानां॒ जय॑ता॒मुद॑स्थात् ॥१०॥

इन्द्र॑स्य । वृष्णः॑ । वरु॑णस्य । राज्ञः॑ । आ॒दि॒त्याना॑म् । म॒रुता॑म् । शर्धः॑ । उ॒ग्रम् ॥ म॒हा-म॑नसाम् । भु॒व॒न-च्य॒वाना॑म् । घोषः॑ । दे॒वाना॑म् । जय॑ताम् । उत् । अ॒स्था॒त् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(वृष्णः) वीर्यवान् (इन्द्रस्य) इन्द्र [महाप्रतापी मुख्य सेनापति] का, (वरुणस्य) वरुण [श्रेष्ठ गुणी मन्त्री]

दक्षिण—आच् । दक्षिणहस्तदिशायाम् (यज्ञः) पूजनीयः (पुरः) अग्रे (एतु) गच्छतु (सोमः) प्रेरकः सेनाध्यक्षः (देवसेनानाम्) विजिगीषूणां सेनानाम् (अभिभञ्जतीनाम्) सर्वतो मर्दयन्तीनाम् (जयन्तीनाम्) तॄभूवहिवसि० । उ० ३ । १२८ । जि जये—झच्, ङीप् गौरादित्वात् । विजयिनीनाम् (मरुतः) अ० १ । २० । १ । मृग्रोरुति । उ० १ । ९४ । मृङ् प्राणत्यागे—उति । मारयन्ति शत्रून् ये । शूरपुरुषाः (यन्तु) गच्छन्तु (मध्ये) ॥

१०—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः सेनापतेः (वृष्णः) वीर्यवतः (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य मन्त्रिणः (राज्ञः) शासकस्य (आदित्यानाम्) अखण्डव्रतानाम् (मरुताम्)

(राज्ञः) राजा [शासक] का, (आदित्यानाम्) अखण्डव्रती (मरुताम्) मरुद्गणों [शत्रुनाशक वीरों] का (शर्धः) बल (उग्रम्) उग्र [प्रचण्ड] होवे । (महामनसाम्) बड़े मन वाले, (भुवनच्यवानाम्) संसार को हिला देने वाले, (जयताम्) जीतते हुये (देवानाम्) विजय चाहने वाले वीरों का (घोषः) जय जयकार (उत् अस्थात्) ऊंचा उठा है ॥ १० ॥

भावार्थ--सेनापति, सेनाध्यक्ष और सब शूर वीर सेनादल, अस्त्र शस्त्र मारू बाजे आदि के साथ जय जय ध्वनि करते हुये शत्रुओं को जीतें ॥ १० ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १०३ । ८, यजु० १७ । ४१ और साम०, उ० ६ । ३ । ३ ॥

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मान् देवासोऽवता हवेषु ॥ ११ ॥

अस्माकम् । इन्द्रः । सम्-ऋतेषु । ध्वजेषु । अस्माकम् । याः । इषवः । ताः । जयन्तु ॥ अस्माकम् । वीराः । उत्-तरे । भवन्तु । अस्मान् । देवासः । अवत । हवेषु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ध्वजेषु) ध्वजाओं के (समृतेषु) मिल जाने पर (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] (अस्माकम्) हमारा है, (अस्माकम्) हमारे (याः) जो (इषवः) बाण हैं, (ताः) वे (जयन्तु) जीतें । (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर (उत्तरे) अधिक ऊंचे (भवन्तु) होवें, (देवासः) हे देवो ! [विजय चाहने वाले शूरो] (हवेषु) ललकार के स्थानों [सङ्ग्रामों] में

म० ८ । शत्रुमारकाणां वीराणाम् (शर्धः) बलम् (उग्रम्) प्रचण्डम् (महामनसाम्) उदारचित्तानाम् । परमोत्साहिनाम् (भुवनच्यवानाम्) संसार-चालकानाम् (घोषः) जयध्वनिः (देवानाम्) विजिगीषूणाम् (जयताम्) विजयं कुर्वताम् (उत्) ऊर्ध्वम् (अस्थात्) स्थितवान् ॥

११—(अस्माकम्) (इन्द्रः) मुख्यसेनाध्यक्षः-अस्तीति शेषः (समृतेषु) शत्रुभिः संगतेषु (ध्वजेषु) पताकासु (अस्माकम्) (याः) (इषवः) बाणाः (जयन्तु) उत्कर्षं प्राप्नुवन्तु (अस्माकम्) (वीराः) (उत्तरे) उच्चतराः (भवन्तु) (अस्मान्) (देवासः) हे विजिगीषवः शूराः (अवत) रक्षत (हवेषु)

(अस्मान्) हमें (अवत) बचाओ ॥ ११ ॥

भावार्थ—जब युद्ध होने लगे और दोनों ओर की ध्वजायें परस्पर मिल जावें, सब वीर पुरुष मुख्य सेनापति की जय मनाते हुये, अस्त्र शस्त्र चलाते हुये आगे बढ़ें और शत्रुओं को मारकर प्रजा की रक्षा करें ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १०३ । ११, यजु० १७ । ४३ और साम०, उ० ६ । ३ । ४ ॥

सूक्तम् १४ ॥

मन्त्रः १ ॥ इन्द्रो देवता ॥ निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विजयप्राप्त्युपदेशः—विजय प्राप्ति का उपदेश ॥

इदमुच्छ्रेयोऽवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् । असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ॥ १ ॥

इदम् । उत्-श्रेयः । अव-सानम् । आ । अगाम् । शिवे इति । मे । द्यावापृथिवी इति । अभूताम् ॥ असपत्नाः । प्र-दिशः । मे । भवन्तु । न । वै । त्वा । द्विष्मः । अभयम् । नः । अस्तु ॥ १

भाषार्थ—[हे इन्द्र ! महाप्रतापी राजन्] (इदम्) यह (उच्छ्रेयः) अत्युत्तम (अवसानम्) विश्राम (आ अगाम्) मैं ने पाया है, (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (मे) मेरे लिये (शिवे) मङ्गलकारी (अभूताम्) हुई हैं। (मे) मेरी (प्रदिशः) दिशायें (असपत्नाः) विना शत्रु (भवन्तु) होवें, (त्वा) तुझ से (वै) निश्चय करके (न द्विष्मः) हम विरोध नहीं करते, (नः) हमारे

स्पर्धास्थानेषु । संग्रामेषु ॥

१—(इदम्) (उच्छ्रेयः) प्रशस्यतरम् (अवसानम्) विरामम् । विश्रामम् (आ अगाम्) प्राप्तवानस्मि (शिवे) मङ्गलप्रदे (मे) मह्यम् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (अभूताम्) (असपत्नाः) शत्रुरहिताः (प्रदिशः) सर्वा दिशाः (मे) मम (भवन्तु) (न) निषेधे (वै) निश्चयेन (त्वा) त्वाम् (द्विष्मः)

लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में प्रजा को सुख मिले, सूर्य और पृथिवी मङ्गलकारी हों अर्थात् जहां वृष्टि और अन्न आदि की उपज ठीक होती हो, वहां प्रजागण चोर उचक्के आदि दुष्टों से रक्षित रहकर राजभक्ति करते रहें ॥ १ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१–६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्या बृहती; २,५ विराडार्षी बृहती; ३ भुरिग् विराडार्षी पङ्क्तिः; ४ विराट् त्रिष्टुप्; ६ त्रिष्टुप् ॥

राजकर्त्तव्योपदेशः—राजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

यत॑ इन्द्र॒ भया॑महे॒ ततो॑ नो॒ अभ॑यं कृधि ।
मघ॑वञ्छ॒ग्धि तव॒ त्वं न॑ ऊ॒तिभि॒र्वि द्विषो॒ वि मृधो॑ जहि ॥ १ ॥

यतः॑ । इ॒न्द्र॒ । भया॑महे । ततः॑ । नः॒ । अभ॑यम् । कृ॒धि॒ ॥ मघ॑वन् । श॒ग्धि । तव॑ । त्वम् । नः॒ । ऊ॒ति-भिः॑ । वि । द्विषः॑ । वि । मृधः॑ । ज॒हि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यतः) जिस से (भयामहे) हम डरते हैं, (ततः) उस से (नः) हमें (अभयम्) अभय (कृधि) कर दे । (मघवन्) हे महाधनी ! (त्वम्) तू (तव) अपनी (ऊतिभिः) रक्षाओं से (नः) हमें (शग्धि) शक्ति दे, (द्विषः) द्वेषियों को और (मृधः) सङ्ग्रामों को (वि) विशेष करके (विजहि) विनाश कर दे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिये कि प्रजा को जिन शत्रुओं से भय हो,

विरोधयामः (अभयम्) भयराहित्यम् (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) ॥

१—(यतः) यस्मात् कारणात् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (भयामहे) बिभीमः (ततः) तस्मात् कारणात् (नः) अस्मभ्यम् (अभयम्) भयराहित्यम् (कृधि) कुरु (मघवन्) हे बहुधनवन् (शग्धि) शक्लेर्लोट् । शक्तिं देहि (तव) स्वकीयाभिः (त्वम्) (नः) अस्मभ्यम् (ऊतिभिः) रक्षाभिः (वि) विशेषेण (द्विषः) द्वेष्टॄन् । द्रोहिणः (मृधः) संग्रामान्—निघ० २ । १७ । (वि जहि) विनाशय ॥

उन को नाश करके प्रजा में शान्ति स्थापित करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८। ६१ [वा सायणभाष्य ५०] । १३, सामपू० ३। ६। २ तथा उ० ५। २। १५ ॥

इन्द्रं वयमनूराधं हवामहेऽनु राध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा ।
मा नः सेना अररुषीरुप गुर्विषूचीरिन्द्र द्रुहो वि नाशय ॥ २ ॥

इन्द्रम् । वयम् । अनु-राधम् । हवामहे । अनु । राध्यास्म । द्वि-पदा । चतुः-पदा ॥ मा । नः । सेनाः । अररुषीः । उप । गुः । विषूचीः । इन्द्र । द्रुहः । वि । नाशय ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अनुराधम्) अनुकूल सिद्धि करने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [महा प्रतापी राजा] को (वयम्) हम (हवामहे) बुलाते हैं, (द्विपदा) दो पाये के साथ और (चतुष्पदा) चौपाये के साथ (अनु) निरन्तर (राध्यास्म) हम सिद्धि पावें । (अररुषीः) लालची (सेनाः) सेनायें [चोर आदि] (नः) हम को (मा उप गुः) न पहुंचें (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (विषूचीः) फैली हुयी (द्रुहः) द्रोह रीतों को (विनाशय) मिटा दे ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण महाप्रतापी विद्वान् पुरुष को राजा बना कर अपने मनुष्यों, पशुओं और सम्पत्ति की रक्षा करें ॥ २ ॥

इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः । स रक्षिता चरमतः स मध्यतः स पश्चात् स पुरस्तान्नो अस्तु ॥ ३ ॥

इन्द्रः । त्राता । उत । वृत्र-हा । परस्फानः । वरेण्यः ॥ सः ।

२—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (वयम्) (अनुराधम्) अनुकूला राधा सिद्धिर्यस्मात्तम् (हवामहे) आह्वयामः (अनु) निरन्तरम् (राध्यास्म) सम्पन्ना भूयास्म (द्विपदा) पादद्वयोपेतेन मनुष्यादिना (चतुष्पदा) पादचतुष्टयोपेतेन गवादिना सह (नः) अस्मान् (सेनाः) शत्रुसेनाः (अररुषीः) नञ् पूर्वाद् रातेः क्वसु, ङीपि सम्प्रसारणं पूर्वसवर्णदीर्घश्च । अदात्र्यः । कृपणाः (मा उप गुः) मोपगच्छन्तु । समीपं मा प्राप्नुवन्तु (विषूचीः) विष्वगञ्चनाः । सर्वतो व्याप्ताः (द्रुहः) द्रुह्यन्ती रीतीः (विनाशय) विजहि ॥

र॒क्षि॒ता । च॒र॒म॒तः । सः । म॒ध्य॒तः । सः । प॒श्चात् । सः । पु॒रः-स्तात् । नः॒ । अ॒स्तु॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] (त्राता) रक्षक, (उत) और (वृत्रहा) शत्रुनाशक, (परस्फानः) श्रेष्ठों का बढ़ाने वाला और (वरेण्यः) स्वीकार करने योग्य है। (सः) वह (चरमतः) अन्त में, (सः) वह (मध्यतः) मध्य में, (सः) वह (पश्चात्) पीछे से, (सः) वह (पुरस्तात्) आगे से (नः) हमारा (रक्षिता)रक्षक (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—न्यायशील बलवान् राजा सब प्रकार से सब दिशाओं में प्रजा की रक्षा करे। आध्यात्मिक पक्ष में (इन्द्रः) का अर्थ "परमेश्वर" है ॥ ३॥

उ॒रुं नो॑ लो॒कमनु॑ नेषि वि॒द्वान्त्स्व१॒र्यज्ज्योति॒रभ॑यं स्व॒स्ति ।
उ॒ग्रा त॑ इन्द्र॒ स्थवि॑रस्य बा॒हू उप॑ क्षयेम शर॒णा बृ॒हन्ता॑ ॥४॥

उ॒रुम् । नः॒ । लो॒कम् । अनु॑ । ने॒षि॒ । वि॒द्वान् । स्वः॑ । यत् । ज्योतिः॑ । अभ॑यम् । स्व॒स्ति ॥ उ॒ग्रा । ते॒ । इ॒न्द्र॒ । स्थवि॑रस्य । बा॒हू इति॑ । उप॑ । क्ष॒ये॒म॒ । श॒र॒णा । बृ॒हन्ता॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विद्वान्) जानकार तू (नः) हमें (उरुम्) चौड़े (लोकम्) स्थान में (अनुनेषि) निरन्तर ले चलता है, (यत्) जो (स्वः) सुखप्रद, (ज्योतिः) प्रकाशमान, (अभयम्) निर्भय और (स्वस्ति) मङ्गल दाता

३—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा परमेश्वरो वा (त्राता) रक्षकः (उत) अपि च (वृत्रहा) शत्रुनाशकः (परस्फानः) स्फायी वृद्धौ—ल्युट्, यलोपश्छान्दसः, अन्तर्गतण्यर्थः। पराणां श्रेष्ठानां वर्धकः (वरेण्यः) वरणीयः स्वीकरणीयः (सः) (रक्षिता) पालकः (चरमतः) अन्ते (सः) (मध्यतः) मध्ये (सः) (पश्चात्) पृष्ठदेशे (सः) (पुरस्तात्) अग्रदेशे (नः) अस्मस्यम् (अस्तु) ॥

४—(उरुम्) विस्तृतम् (नः) अस्मान् (लोकम्) स्थानम् (अनु) (निरन्तरम्) (नेषि) शपो लुक्। नयसि। प्रापयसि (विद्वान्) जानन् (स्वः) सुखप्रदम् (ज्योतिः) प्रकाशमानम् (अभयम्) निर्भयम् (स्वस्ति) मङ्गल-

[अच्छी सत्ता वाला है] । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (स्थविरस्य ते) तुझ दृढ़ स्वभाव वाले के (उग्रा) प्रचण्ड, (शरणा) शरण देने वाले, (बृहन्ता) विशाल (बाहू) दोनों भुजाओं का (उप) आश्रय लेकर (क्षयेम) हम रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—नीति कुशल राजा प्रजाओं को उन्नत करके बल और पराक्रम से अपनी शरण में रक्खे ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ४७ । ८ ॥

अभ॑यं नः कर॒त्य॒न्तरि॑क्ष॒मभ॑यं॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे इ॒मे ।
अभ॑यं प॒श्चादभ॑यं पु॒रस्ता॑दु॒त्तरा॑दध॒रादभ॑यं नो अस्तु ॥ ५ ॥

अभ॑यम् । नः॒ । क॒र॒ति॒ । अ॒न्तरि॑क्षम् । अभ॑यम् । द्यावा॑पृ॒थि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । इ॒मे इति॑ ॥ अभ॑यम् । प॒श्चात् । अभ॑यम् । पु॒रस्ता॑त् । उ॒त्-त॒रा॒त् । अ॒ध॒रा॒त् । अभ॑यम् । नः॒ । अ॒स्तु॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(नः) हमें (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक (अभयम्) अभय (करति) करे, (इमे) यह (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (अभयम्) अभय [करें] । (पश्चात्) पश्चिम में वा पीछे से (अभयम्) अभय हो, (पुरस्तात्) पूर्व में वा आगे से (अभयम्) अभय हो, (उत्तरात्) उत्तर में वा ऊपर से और (अधरात्) दक्षिण वा नीचे से (अभयम्) अभय

प्रदम् । सुसत्तायुक्तम् (उग्रा) प्रचण्डौ (ते) तव (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् राजन् (स्थविरस्य) स्थिरस्वभावस्य (बाहू) भुजौ (उप) उपेत्य । आश्रित्य (क्षयेम) निवसेम (शरणा) शरणौ (बृहन्ता) विशालौ ॥

५—(अभयम्) भयराहित्यम् (नः) अस्मभ्यम् (करति) लेटि अडागमः । कुर्यात् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकः (अभयम्) कुर्यातामिति शेषः (द्यावापृथिवी) सूर्यपृथिव्यौ (उभे) (इमे) (अभयम्) (पश्चात्) पश्चिमस्यां दिशि पृष्ठदेशे वा (अभयम्) (पुरस्तात्) पूर्वस्यां दिशि, अग्रदेशे वा (अभयम्) (उत्तरात्) उत्तरस्यां दिशि, उपरिदेशे वा (अधरात्) दक्षिणस्यां दिशि, अधो-

(नः) हमारे लिये (अस्तु) हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो राजा, विमान, अस्त्र शस्त्र द्वारा आकाश से प्रजा की रक्षा करता है और सूर्य द्वारा हुई वृष्टि के प्रवाह का प्रबन्ध करके पृथिवी को उपजाऊ बनाता है, वह प्रजा को सुख पहुंचाकर बली होता है।

आध्यात्मिक पक्ष में यह भावार्थ है कि हम सब पुरुषार्थ करके परमात्मा के अनुग्रह से सब कालों और सब स्थानों में निर्भय रहें ॥ ५ ॥

अभ॑यं मि॒त्रादभ॑यम॒मित्रा॒दभ॑यं ज्ञा॒तादभ॑यं पु॒रो यः । अभ॑यं नक्त॒मभ॑यं॒ दिवा॑ नः सर्वा॒ आशा॒ मम॑ मि॒त्रं भ॑वन्तु ॥ ६ ॥

अभ॑यम् । मि॒त्रात् । अभ॑यम् । अ॒मित्रा॑त् । अभ॑यम् । ज्ञा॒तात् । अभ॑यम् । पु॒रः । यः ॥ अभ॑यम् । नक्त॑म् । अभ॑यम् । दिवा॑ । नः॒ । सर्वा॑ः । आशा॑ः । मम॑ । मि॒त्रम् । भ॒व॒न्तु॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मित्रात्) मित्र से (अभयम्) अभय और (अमित्रात्) अमित्र [पीड़ा देने हारे] से (अभयम्) अभय हो, (ज्ञातात्) जानकर से (अभयम्) अभय और (यः) जो (पुरः) सामने है [उससे भी] (अभयम्) अभय हो। (नः) हमारे लिये (नक्तम्) रात्रि में (अभयम्) अभय और (दिवा) दिन में (अभयम्) अभय हो, (मम) मेरी (सर्वाः) सब (आशाः) आशायें (मित्रम्) मित्र (भवन्तु) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि सर्वदा सब प्रकार चौकस रहकर परमात्मा के विश्वास से और राजा के सुप्रबन्ध से अपनी रक्षा करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् १६ ॥

१, २ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १ निचृदनुष्टुप्; २ अतिशक्वरी ॥

देशे वा (अभयम्) (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) ॥

६—(अभयम्) भयराहित्यम् (मित्रात्) सुहृदः सकाशात् (अभयम्) (अमित्रात्) अम पीडने—इत्रप्रत्ययः। पीडकात् (अभयम्) (ज्ञातात्) परिचितात् (अभयम्) (पुरः) पुरस्तात् (यः) (अभयम्) (नक्तम्) रात्रौ (अभयम्) (दिवा) दिने (नः) अस्मभ्यम् (सर्वाः) (आशाः) दीर्घाकाङ्क्षाः (मित्रम्) (भवन्तु) ॥

अभयस्य रक्षणस्य चोपदेशः—अभय और रक्षा का उपदेश ॥

असपत्नं पुरस्तात् पश्चान्नो अभयं कृतम् ।
सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः ॥ १ ॥

असपत्नम् । पुरस्तात् । पश्चात् । नः । अभयम् । कृतम् ॥
सविता । मा । दक्षिणतः । उत्तरात् । मा । शची-पतिः ॥१॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (मा) मुझ को (पुरस्तात्) सामने [वा पूर्व दिशा] से (पश्चात्) पीछे [वा पश्चिम] से, (दक्षिणतः) दाहिनी ओर [वा दक्षिण] से और (मा) मुझको (उत्तरात्) बाईं ओर [वा उत्तर] से (सविता) सर्व प्रेरक राजा और (शचीपतिः) वाणियों वा कर्मों का पालने वाला [मन्त्री], तुम दोनों (असपत्नम्) शत्रुरहित और (अभयम्) निर्भय (कृतम्) करो ॥ १ ॥

भावार्थ—जहां पर राजा और मन्त्री अपनी वाणी और कर्म में पक्के होते हैं, उस राज्य में प्रजागण शत्रुओं से सुरक्षित रहते हैं ॥ १ ॥

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः ।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम् ।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म ॥२

दिवः । मा । आदित्याः । रक्षन्तु । भूम्याः । रक्षन्तु । अग्नयः ॥
इन्द्राग्नी इति । रक्षताम् । मा । पुरस्तात् । अश्विनौ ।

१—(असपत्नम्) शत्रुरहितम् (पुरस्तात्) अग्रे । पूर्वस्यां दिशि (पश्चात्) पश्चाद् भागे पश्चिमस्यां दिशि (नः) अस्मभ्यम्) (अभयम्) (कृतम्)लोटि छान्दसं रूपम् । युवां कुरुतम् (सविता) सर्वप्रेरको राजा (मा) माम् (दक्षिणतः) दक्षिणभागे । दक्षिणस्यां दिशि (उत्तरात्) उपरिभागे । उत्तरस्यां दिशि (मा) माम् (शचीपतिः) शची वाङ्नाम-निघ० १ । ११ कर्मनाम—निघ० २ । १ । वाणीनां कर्मणां वा पालको मन्त्री ॥

अभितः । शर्म । यच्छताम् ॥ तिरश्चीन् । अघ्न्या । रक्षतु ।
जात-वेदाः । भूत-कृतः । मे । सर्वतः । सन्तु । वर्म ॥ २ ॥

भाषार्थ—(आदित्याः) अखण्डव्रती शूर (मा) मुझे (दिवः) आकाश से (रक्षन्तु)बचावें, (अग्नयः) ज्ञानी पुरुष (भूम्याः) भूमि से (रक्षन्तु) बचावें। (इन्द्राग्नी) बिजुली और अग्नि [के समान तेजस्वी और व्यापक राजा और मन्त्री दोनों] (मा) मुझे (पुरस्तात्) सामने से (रक्षताम्) बचावें, (अश्विनौ) सूर्य और चन्द्रमा [के समान ठीक मार्ग चलने वाले वे दोनों] (अभितः) सब ओर से (शर्म) सुख (यच्छताम्) देवें । (जातवेदाः) बहुत धन वाली (अघ्न्या) अटूट [राजनीति] (तिरश्चीन् = तिरश्चिभ्यः) आड़े चलने वाले [वैरियों] से [मुझे] (रक्षतु) बचावे, (भूतकृतः) उचित कर्म करने वाले पुरुष (मे) मेरे लिये (सर्वतः) सब ओर से (वर्म) कवच (सन्तु)होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जो राजा और राजपुरुष आकाश में वायु यान द्वारा चलने वाले वीरों से और पृथिवी पर अश्ववार आदि से अस्त्र शस्त्र द्वारा शत्रुओं का नाश करते हैं, वही प्रजा की रक्षा कर सकते हैं ॥ २ ॥

सूक्तम् १७ [पर्यायसूक्तम्] ॥

१—१० ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १ स्वराडार्षी त्रिष्टुप्; २, ३, ४, ८ आर्षी जगती; ५, ६ भुरिगार्षी जगती; ७ अतिजगती; ९ स्वराट् शक्करी; १० निचृदतिजगती ॥

२—(दिवः) आकाशात् (मा) माम् (आदित्याः) अखण्डब्रह्मचारिणः शूराः (रक्षन्तु) पान्तु (भूम्याः) (रक्षन्तु) (अग्नयः) ज्ञानिनः पुरुषाः (इन्द्राग्नी) विद्युदग्निवत्तेजस्विव्यापकौ राजमन्त्रिणौ (रक्षताम्) (मा) माम् (पुरस्तात्) पुरोभागे (अश्विनौ) सूर्याचन्द्रमसाविव सन्मार्गगन्तारौ (अभितः) सर्वतः (यच्छताम्) दत्ताम् (तिरश्चीन्) ऋत्विग्दधृक्०—इति क्विन् (?) । उ० ४ । १३४ । तिरस्+चर गतौ—इण्, डित् । सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । पञ्चम्याः शस् । तिरश्चिभ्यः । तिर्यग्गतिभ्यः शत्रुभ्यः (अघ्न्या) अहन्तव्या राजनीतिः (रक्षतु) (जातवेदाः) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च । उ० ४ । २२७ । जात+विद्लृ लाभे—असि । वेदो धननाम—निघ० २ । १० । जातं प्रसिद्धं वेदो धनं यस्याः सा (भूतकृतः) भूतस्योचितस्य कर्तारः (मे) मम (सर्वतः) (सन्तु) (वर्म) कवचम् । रक्षासाधनम् ॥

रक्षाकरणोपदेशः—रक्षा करने का उपदेश ॥

अग्निर्मा पातु वसुभिः पुरस्तात् तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि । स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ १ ॥

अग्निः । मा । पातु । वसु-भिः । पुरस्तात् । तस्मिन् । क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ॥ सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (वसुभिः) श्रेष्ठ गुणों के साथ (मा) मुझे (पुरस्तात्) पूर्व वा सामने से (पातु) बचावे, (तस्मिन्) उसमें [उस परमेश्वर के विश्वास में] (क्रमे) मैं पद बढ़ाता हूं, (तस्मिन्) उसमें (श्रये) आश्रय लेता हूं, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति [वा दुर्गरूप परमेश्वर] को (प्र) अच्छे प्रकार (एमि) प्राप्त होता हूं । (सः) वह [ज्ञानस्वरूप परमेश्वर] (मा) मुझे (रक्षतु) बचावे, (सः) वह (मा) मुझे (गोपायतु) पाले, (तस्मै) उस को (आत्मानम्) अपना आत्मा [मन सहित देह और जीव] (स्वाहा) सुन्दर वाणी [दृढ़ प्रतिज्ञा] के साथ (परि

१—(अग्निः) ज्ञानस्वरूपः परमेश्वरः (मा) माम् (पातु) रक्षतु (वसुभिः) श्रेष्ठगुणैः (पुरस्तात्) पूर्वस्यां दिशि, अभिमुखीभूतायां वा (तस्मिन्) ज्ञानस्वरूपे परमेश्वरे (क्रमे) क्रमु पादविक्षेपे । पादं विक्षिपामि (तस्मिन्) (श्रये) श्रिञ् सेवायाम् । आश्रयामि (ताम्) प्रसिद्धाम् (पुरम्) पुर अग्रगमने—क्विप् । अग्रगामिनीं दुर्गरूपां वा शक्तिं परमात्मानम् (प्र) प्रकर्षेण (एमि) गच्छामि । प्राप्नोमि (सः) ज्ञानस्वरूपपरमेश्वरः (मा) (रक्षतु) (सः) (मा) (गोपायतु) पालयतु (तस्मै) परमेश्वराय (आत्मानम्) स्वात्मानम् । मनःसहितं देहं जीवं च (परि ददे) समर्पयामि (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सु+आङ्+ह्वेञ् आह्वाने—डा, वलोपः । स्वाहा वाङ्नाम—निघ० १ ।

ददे) मैं सौंपता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा पालने में आत्मसमर्पण करते हैं, वे प्रत्येक स्थान पर उस परमात्मा की छत्र छाया में ऐसे सुरक्षित रहते हैं, जैसे शूरवीर पुरुष दुर्ग में सुरक्षित होते हैं ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान करो—अ० ३ । २७ । १—६ तथा १२ । ३ । २४ ॥

वायुर्मान्तरिक्षेणैतस्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि । स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ २ ॥

वायुः । मा । अन्तरिक्षेण । एतस्याः । दिशः । पातु । तस्मिन् । क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ॥ सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वायुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (अन्तरिक्षेण) मध्यलोक के साथ [पवन, मेघ आदि के साथ] (मा) मुझे (एतस्याः) इस [बीच वाली] (दिशः) दिशा से (पातु) बचावे, (तस्मिन्) उस में......[म० १] ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ २ ॥

सोमो मा रुद्रैर्दक्षिणाया दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि । स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ३ ॥

सोमः । मा । रुद्रैः । दक्षिणायाः । दिशः । पातु । तस्मिन् ।

११—। सुवाणया । दृढप्रतिश्रया ॥

२—(वायुः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (अन्तरिक्षेण) मध्यलोकेन (एतस्याः) मध्यवर्तिन्याः (दिशः) दिशायाः सकाशात् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ॥ सः ।
मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् ।
परि । ददे । स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमः) सब का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर (रुद्रैः) दुष्ट नाशक गुणों के साथ (मा) मुझे (दक्षिणायाः) दक्षिण वा दाहिनी (दिशः) दिशा से (पातु) बचावे, (तस्मिन्) उस में .....[म०१] ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ३ ॥

वरुणो मादित्यैरेतस्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये
तां पुरं प्रैमि । स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं
परि ददे स्वाहा ॥ ४ ॥

वरुणः । मा । आदित्यैः । एतस्याः । दिशः । पातु ।
तस्मिन् । क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ॥
सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मा-
नम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वरुणः) सब में उत्तम परमेश्वर (आदित्यैः) प्रकाशमान गुणों के साथ (मा) मुझे (एतस्याः) इस [बीच वाली] (दिशः) दिशा से (पातु) बचावे, (तस्मिन्) उस में......[म०१] ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ समान है ॥ ४ ॥

३—(सोमः) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (रुद्रैः) रुङ् गतौ वधे च–क्विप् तुक्, च + रु वधे–डप्रत्ययः । दुष्टनाशकैर्गुणैः (दक्षिणायाः) दक्षिणस्याः । दक्षिणहस्तस्थितायाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(वरुणः) सर्वोत्तमः परमेश्वरः (आदित्यैः) म० ३।८।१ । आङ् + दीपी दीप्तौ—यक्, पृषोदरादिरूपम् । आदीप्यमानैः प्रकाशमानैर्गुणैः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सूर्यो मा द्यावापृथिवीभ्यां प्रतीच्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि । स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ५ ॥

सूर्यः । मा । द्यावापृथिवीभ्याम् । प्रतीच्याः । दिशः । पातु । तस्मिन् । क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ॥ सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सूर्यः) सर्वप्रेरक परमात्मा (द्यावापृथिवीभ्याम्) दोनों सूर्य और पृथिवी के साथ (मा) मुझे (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशः) दिशा से (पातु) बचावे, (तस्मिन्) उसमें......[म०१] ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ५ ॥

आपो मौषधीमतीरेतस्या दिशः पान्तु तासु क्रमे तासु श्रये तां पुरं प्रैमि । ता मा रक्षन्तु ता मा गोपायन्तु ताभ्य आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ६ ॥

आपः । मा । ओषधी-मतीः । एतस्याः । दिशः । पान्तु । तासु । क्रमे । तासु । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ॥ ताः । मा । रक्षन्तु । ताः । मा । गोपायन्तु । ताभ्यः । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ओषधीमतीः) ओषधियों [अन्न सोम रस आदि] वाली (आपः) श्रेष्ठ गुणों में व्याप्त प्रजायें [उत्पन्न जीव] (मा) मुझे (एतस्याः)

५—(सूर्यः) सुवतेः क्यप् । सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्यभूमिभ्याम् (प्रतीच्याः) पश्चिमायाः । पश्चाद् भवायाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(आपः) आप्लृ व्याप्तौ—क्विप्, आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये–यजु० ६ । २७ (मा) माम् (ओषधीमतीः) ओषधीमत्यः । अन्नसोमरसादियुक्ताः

इस [बीच वाली] (दिशः) दिशा से (पान्तु) बचावें, (तासु) उनमें [प्रजाओं के विश्वास में] (क्रमे) मैं पद बढ़ाता हूं, (तासु) उन में (श्रये) आश्रय लेताहूं, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति [वा दुर्गरूप परमेश्वर] को (प्र) अच्छे प्रकार (एमि) मैं प्राप्तहोता हूं । (ताः) वे [प्रजायें](मा) मुझे (रक्षन्तु) बचावें, (ताः) वे (मा) मुझे (गोपायन्तु) पालें, (ताभ्यः) उन को (आत्मानम्) अपना आत्मा [मन सहित देह और जीव] (स्वाहा) सुन्दर वाणी [दृढ़ प्रतिज्ञा] के साथ (परि ददे) मैं सौंपता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ६ ॥

वि॒श्वक॑र्मा मा स॒प्तऋ॒षिभि॒रुदी॑च्या दि॒शः पा॑तु तस्मि॑न् क्रमे॒ तस्मि॑ञ्छ्रये॒ तां पुरं॒ प्रैमि॑ । स मा॑ रक्षतु॒ स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ ददे॒ स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

वि॒श्व-क॑र्मा । मा॒ । स॒प्तऋ॒षि-भिः॑ । उदी॑च्याः । दि॒शः । पा॒तु॒ । तस्मि॑न् । क्र॒मे॒ । तस्मि॑न् । श्र॒ये॒ । ताम् । पुर॑म् । प्र । ए॒मि॒ ॥ सः । मा॒ । र॒क्ष॒तु॒ । सः । मा॒ । गो॒पा॒य॒तु॒ ॥ तस्मै॑ । आ॒त्मान॑म् । परि॑ । द॒दे॒ । स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(विश्वकर्मा) विश्वकर्मा [सब कर्म करने वाला परमेश्वर (सप्तऋषिभिः) सात ऋषियों सहित [कान, आंख, नाक, जिह्वा, त्वचा, पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि सहित] (मा) मुझे (उदीच्याः) उत्तर वा बायीं (दिशः) दिशा से (पातु) बचावे, (तस्मिन्) उस में...... [म० १] ॥ ७ ॥

(पान्तु) रक्षन्तु (तासु) अप्सु । प्रजासु (ताः) आपः । प्रजाः (रक्षन्तु) (गोपायन्तु) पालयन्तु (ताभ्यः) प्रजाभ्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(विश्वकर्मा) सर्वकर्मकर्ता परमेश्वरः (सप्तऋषिभिः) ऋत्यकः । पा० ६।१।१२८। इति, प्रकृतिभावः । मनोबुद्धिसहितैः श्रोत्रनेत्र-

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ७ ॥

इन्द्रो मा मरुत्वानेतस्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि । स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ८ ॥

इन्द्रः । मा । मरुत्-वान् । एतस्याः । दिशः । पातु । तस्मिन् । क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ॥ सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(मरुत्वान्) शूरों का अधिष्ठाता (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा] (मा) मुझे (एतस्याः) इस [बीच वाली] (दिशः) दिशा से (पातु) बचावे, (तस्मिन्) उस में .....[म० १] ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ८ ॥

प्रजापतिर्मा प्रजननवान्त्सह प्रतिष्ठाया ध्रुवाया दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि । स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ९ ॥

प्रजा-पतिः। मा । प्रजनन-वान् । सह । प्रति-स्थायाः। ध्रुवायाः। दिशः । पातु । तस्मिन् । क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ॥ सः । मा । रक्षतु । सः। मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(प्रजननवान्) सृजन सामर्थ्य वाला (प्रजापतिः) प्रजापति

नासिकाजिह्वात्वग्रूपैःपञ्चज्ञानेन्द्रियैः (उदीच्याः) उत्तरस्याः । वामभागस्थायाः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

८—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (मा) (मरुत्वान्) अ० १ । २० । १ । मरुतः शत्रुमारकाः शूराः, तैस्तद्वान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(प्रजापतिः) प्रजापालकः परमात्मा (प्रजननवान्) उत्पादन-

[प्रजाओंका पालक परमेश्वर] (मा) मुझे (प्रतिष्ठायाः=प्रतिष्ठया) प्रतिष्ठा [गौरव] के (सह) साथ (ध्रुवायाः) स्थिर वा नीचे वाली (दिशः) दिशा से (पातु) बचावे, (तस्मिन्) उस में... ..[म-०१] ॥-९ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ९ ॥

बृहस्पतिर्मा विश्वैर्देवैरूर्ध्वाया दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि । स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ १० ॥

बृहस्पतिः । मा । विश्वैः । देवैः । ऊर्ध्वायाः । दिशः । पातु । तस्मिन् । क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ॥ सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ १० ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी का रक्षक परमात्मा] (विश्वैः) सब (देवैः) उत्तम गुणों के साथ (मा) मुझे (ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिशः) दिशा से (पातु) बचावे, (तस्मिन्) उस में [उस परमेश्वर के विश्वास में] (क्रमे) मैं पद बढ़ाता हूं, (तस्मिन्) उस में (श्रये) आश्रय लेता हूं, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति [वा दुर्गरूप परमेश्वर] को (प्र) अच्छे प्रकार (एमि) प्राप्त होता हूं । (सः) वह [ज्ञानस्वरूप परमेश्वर] (मा) मुझे (रक्षतु) बचावे, (सः) वह (मा) मुझे (गोपायतु) पाले, (तस्मै) उसको (आत्मानम्) अपना आत्मा [मन सहित देह और जीव] (स्वाहा) सुन्दर वाणी [दृढ़ प्रतिज्ञा] के साथ (परि ददे) मैं सौंपता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ १० ॥

सामर्थ्योपेतः (सः) (प्रतिष्ठायाः) तृतीयार्थे षष्ठी । प्रतिष्ठया । गौरवेण (ध्रुवायाः) स्थिरायाः । अधोभवायाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१०—(बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाण्या रक्षकः परमात्मा (विश्वैः) सर्वैः (देवैः) श्रेष्ठगुणैः सह (ऊर्ध्वायाः) उपरिस्थितायाः । शिष्टं पूर्ववत् ॥

सूक्तम् १८ [पर्यायसूक्तम्] ॥

१—१० ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १ साम्नी त्रिष्टुप्; २, ३, ६ आर्च्यनुष्टुप्; ४ भुरिगार्च्यनुष्टुप्; ५ स्वराडार्च्यनुष्टुप्; ७, ६, १० प्राजापत्या त्रिष्टुप्; ८ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप् ॥

रक्षाप्रयत्नोपदेशः—रक्षा के प्रयत्न का उपदेश ॥

अ॒ग्निं ते वसु॑वन्तमृच्छन्तु ।

ये मा॑घा॒यवः॒ प्राच्या॑ दि॒शो॒ऽभि॒दासा॑त् ॥ १ ॥

अ॒ग्निम् । ते । वसु॑-वन्तम् । ऋ॒च्छ॒न्तु ॥ ये । मा॒ । अ॒घ॒-यवः॑ ।

प्राच्याः॑ । दि॒शः । अ॒भि॒-दासा॑त् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ते) वे [दुष्ट] (वसुवन्तम्) श्रेष्ठ गुणों के स्वामी (अग्निम्) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर की (ऋच्छन्तु) सेवा करें । (ये) जो (अघायवः) बुरा चीतने वाले (मा) मुझे (प्राच्याः) पूर्व वा सामने वाली (दिशः) दिशा से (अभिदासात्) सताया करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि पापी लोग दुष्टाचरण छोड़कर सर्व-नियन्ता परमेश्वर की आज्ञा में रह कर सर्वत्र सब को सुख देवें ॥ १ ॥

इस सूक्त के मन्त्रों को यथाक्रम गत सूक्त के मन्त्रों से मिलाओ ॥

१—(अग्निम्) ज्ञानस्वरूपं परमेश्वरम् (ते) अघायवः (वसुवन्तम्) संज्ञायाम् । पा० ८ । २ । ११ । इति मतोर्वः । श्रेष्ठगुणस्य स्वामिनम् (ऋच्छन्तु) ऋच्छतिः परिचरणकर्मा—निघ० ३ । ५ । परिचरन्तु । सेवन्ताम् (ये) (मा) माम् (अघायवः) अघ—क्यच् परेच्छायाम् । अश्वाघस्यात् । पा० ७ । ४ । ३७ । इत्यात्वम् । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति उप्रत्ययः । पापमिच्छन्तः । जिघांसवः (प्राच्याः) पूर्वस्याः । अभिमुखीभूतायाः (दिशः) (अभिदासात्) लेटि बहुवचनस्यैकवचनम् । सर्वतो दासेयुः । हिंस्युः ॥

वायुं ते॒ऽन्तरि॑क्षावन्तमृच्छन्तु ।
ये मा॑घायव॑ एतस्या॑ दि॒शो॑ऽभि॒दासा॑त् ॥ २ ॥

वायुम् । ते । अ॒न्तरि॑क्ष-वन्तम् । ऋ॒च्छन्तु॒ ॥ ये । मा॒ । अ॒घ-यवः॑ । ए॒तस्याः॑ । दि॒शः । अ॒भि-दासा॑त् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ते) वे [दुष्ट] (अन्तरिक्षवन्तम्) मध्यलोक के स्वामी (वायुम्) सर्वव्यापक परमेश्वर की (ऋच्छन्तु) सेवा करें । (ये) जो (अघायवः) बुरा चीतने वाले (मा) मुझे (एतस्याः) इस [बीच वाली] (दिशः) दिशा से (अभिदासात्) सताया करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ २ ॥

सोमं॑ ते रु॒द्रव॑न्तमृच्छन्तु ।
ये मा॑घायवो॒ दक्षि॑णाया दि॒शो॑ऽभि॒दासा॑त् ॥ ३ ॥

सोम॑म् । ते । रु॒द्र-व॑न्तम् । ऋ॒च्छन्तु॒ ॥ ये । मा॒ । अ॒घ-यवः॑ । दक्षि॑णायाः । दि॒शः । अ॒भि-दासा॑त् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ते) वे [दुष्ट] (रुद्रवन्तम्) दुष्टनाशक गुणों के स्वामी (सोमम्) सब के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर की (ऋच्छन्तु) सेवा करें । (ये) जो (अघायवः) बुरा चीतने वाले (मा) मुझे (दक्षिणायाः) दक्षिण वा दाहिनी (दिशः) दिशा से (अभिदासात्) सताया करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ३ ॥

वरु॑णं त आदि॒त्यव॑न्तमृच्छन्तु ।
ये मा॑घायव॑ एतस्या॑ दि॒शो॑ऽभि॒दासा॑त् ॥ ४ ॥

२—(वायुम्) सर्वव्यापकं परमात्मनम् (अन्तरिक्षवन्तम्) मध्यलोकस्य स्वामिनम् (एतस्याः) मध्यवर्तमानायाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(सोमम्) सर्वोत्पादकं परमात्मानम् (रुद्रवन्तम्) रुङ् हिंसायाम्—क्विप् तुक् च + रुङ् हिंसायाम्—ड । रुद्राणां दुष्टनाशकगुणानां स्वामिनम् (दक्षिणायाः) दक्षिणस्याः । दक्षिणहस्तभवायाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

वरुणम् । ते । आदित्य-वन्तम् । ऋच्छन्तु ॥ ये । मा ।
अघ-यवः । एतस्याः । दिशः । अभि-दासात् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ते) वे [दुष्ट] (आदित्यवन्तम्) प्रकाशमान गुणों के स्वामी (वरुणम्) सब में उत्तम परमेश्वर की (ऋच्छन्तु) सेवा करें। (ये) जो (अघायवः) बुरा चीतने वाले (मा) मुझे (एतस्याः) इस [बीच वाली] (दिशः) दिशा से (अभिदासात्) सताया करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ४ ॥

सूर्यं ते द्यावापृथिवीवन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायवः प्रतीच्या दिशोऽभिदासात् ॥ ५ ॥

सूर्यम् । ते । द्यावापृथिवी-वन्तम् । ऋच्छन्तु ॥ ये । मा ।
अघ-यवः । प्रतीच्याः । दिशः । अभि-दासात् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ते) वे [दुष्ट] (द्यावापृथिवीवन्तम्) सूर्य और पृथिवी के स्वामी (सूर्यम्) सर्व प्रेरक परमात्मा की (ऋच्छन्तु) सेवा करें। (ये) जो (अघायवः) बुरा चीतने वाले (मा) मुझे (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशः) दिशा से (अभिदासात्) सताया करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ५ ॥

अपस्त ओषधीमतीर्ऋच्छन्तु ।
ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ ६ ॥

अपः । ते । ओषधी-मतीः । ऋच्छन्तु ॥
ये । मा । अघ-यवः । एतस्याः । दिशः । अभि-दासात् ॥६॥

४—(वरुणम्) सर्वोत्तमं परमेश्वरम् (आदित्यवन्तम्) प्रकाशमान-गुणानां स्वामिनम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(सूर्यम्) सर्वप्रेरकं परमात्मानम् (द्यावापृथिवीवन्तम्) छन्दसीरः। पा० ८।२।१५। मतुपो मस्य वः। सूर्यपृथिव्योः स्वामिनम् (प्रतीच्याः) पश्चिमायाः। पृष्ठतः स्थितायाः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(ते) वे [दुष्ट] (ओषधीमतीः) ओषधियों [अन्न सोम-लता आदि] वाली (अपः) श्रेष्ठ गुणों में व्याप्त प्रजाओं की (ऋच्छन्तु) सेवा करें। (ये) जो (अघायवः) बुरा चीतने वाले (मा) मुझे (एतस्याः) इस [बीच वाली] (दिशः) दिशा से (अभिदासात्) सताया करें ॥६॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ६ ॥

सूचना—(अपः) शब्द के लिये गत सूक्त का मन्त्र ६ देखो ॥

विश्वकर्माणं ते सप्तऋषिवन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायव उदीच्या दिशोऽभिदासात् ॥ ७ ॥

विश्व-कर्माणम् । ते । सप्तऋषि-वन्तम् । ऋच्छन्तु ॥ ये ।
मा । अघ-यवः । उदीच्याः । दिशः । अभि-दासात् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ते) वे [दुष्ट] (सप्तऋषिवन्तम्) सात ऋषियों [हमारे कान आंख, नाक, जिह्वा, त्वचा, पांच ज्ञानेन्द्रियों मन, बुद्धि] के स्वामी (विश्वकर्माणम्) विश्वकर्मा [सब के बनाने वाले परमेश्वर] की (ऋच्छन्तु) सेवा करें। (ये) जो (अघायवः) बुरा चीतने वाले (मा) मुझे (उदीच्याः) उत्तर वा बायीं (दिशः) दिशा से (अभिदासात्) सताया करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ७ ॥

इन्द्रं ते मरुत्वन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ ८ ॥

इन्द्रम् । ते । मरुत्-वन्तम् । ऋच्छन्तु ॥
ये । मा । अघ-यवः । एतस्याः । दिशः । अभि-दासात् ॥८॥

६—(अपः) सू० १७ म० ६। आप्ताः प्रजाः (ओषधीमतीः) अन्नसोम-लतायुक्ताः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(विश्वकर्माणम्) सर्वस्रष्टारं परमेश्वरम् (सप्तऋषिवन्तम्) सू० १७ । म० ७ । छन्दसीरः । पा० ८ । २।१५ । मतुपो वः । मनोबुद्धिसहितपञ्चज्ञानेन्द्रियाणां स्वामिनम् (उदीच्याः) उत्तरस्याः वामस्थायाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(ते) वे [दुष्ट] (मरुत्वन्तम्) शूरों के स्वामी (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा] की (ऋच्छन्तु) सेवा करें। (ये) जो (अघायवः) बुरा चीतने वाले (मा) मुझे (एतस्याः) इस [बीच वाली] (दिशः) दिशा से (अभिदासात्) सताया करें ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ८ ॥

प्रजापतिं ते प्रजननवन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायवो ध्रुवाया दिशोऽभिदासात् ॥ ९ ॥

प्रजा-पतिम् । ते । प्रजनन-वन्तम् । ऋच्छन्तु ॥
ये । मा । अघ-यवः । ध्रुवायाः । दिशः । अभि-दासात् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(ते) वे [दुष्ट] (प्रजननवन्तम्) सृजन सामार्थ्य के स्वामी (प्रजापतिम्) प्रजापति [प्रजाओं के पालक परमेश्वर] की (ऋच्छन्तु) सेवा करें। (ये) जो (अघायवः) बुरा चीतने वाले (मा) मुझे (ध्रुवायाः) स्थिर वा नीचे वाली (दिशः) दिशा से (अभिदासात्) सताया करें ॥ ९ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ समान है ॥ ९ ॥

बृहस्पतिं ते विश्वदेववन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायव ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासात् ॥ १० ॥

बृहस्पतिम् । ते । विश्वदेव-वन्तम् । ऋच्छन्तु ॥ ये । मा ।
अघ-यवः । ऊर्ध्वायाः । दिशः । अभि-दासात् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(ते) वे [दुष्ट] विश्वदेववन्तम्) सब उत्तम गुण रखने

८—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (मरुत्वन्तम्) मरुतां शत्रुमारकाणां शूराणां स्वामिनम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(प्रजापतिम्) सर्वपालकं परमात्मानम् (प्रजननवन्तम्) सृजनसामर्थ्यस्वामिनम् (ध्रुवायाः) स्थिरायाः । अधःस्थितायाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१०—(बृहस्पतिम्) बृहत्या वेदवाण्या रक्षकं परमात्मानम्

वाले (बृहस्पतिम्) बृहस्पति [वेदवाणी के रक्षक परमात्मा] की (ऋच्छन्तु) सेवा करें। (ये) जो (अघायवः) बुरा चीतने वाले (मा) मुझे (ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिशः) दिशा से (अभिदासात्) सताया करें ॥१०॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ १० ॥

सूक्तम् १८ [पर्यायसूक्तम्] ॥

१—११ । मन्त्रोक्ता देवताः । १, ६ भुरिगार्षी बृहती; २, ४—७ निचृदार्षी पङ्क्तिः; ३ आर्षी बृहती; ८, ११ आर्षी पङ्क्तिः; १० स्वराडार्षी बृहती ॥

रक्षाप्रयत्नोपदेशः—रक्षा के प्रयत्न का उपदेश ॥

मित्रः पृथिव्योदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ १ ॥

मित्रः । पृथिव्या । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ॥ ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मित्रः) मित्र [हितकारी मनुष्य] (पृथिव्या) पृथिवी के साथ (उत् अक्रामत्) ऊंचा चढ़ा है, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति [वा दुर्ग रूप परमेश्वर] की ओर (वः) तुम्हें (प्र) आगे (नयामि) लिये चलता हूं। (ताम्) उस [शक्ति] में (आ विशत) तुम घुस जाओ, (ताम्) उस में (प्र विशत) तुम भीतर जाओ, (सा) वह [शक्ति] (वः)

(विश्वदेववन्तम्) सर्वश्रेष्ठगुणयुक्तम् (ऊर्ध्वायाः) उपरिस्थितायाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(मित्रः) ञिमिदा स्नेहे—क्त्र । स्नेही पुरुषः (पृथिव्या) भूमिराज्या-विना सह (उदक्रामत्) उत्क्रान्तवान् । उच्चपदं प्राप्तवान् (ताम्) प्रसिद्धाम् (पुरम्) पुर अग्रगमने—क्विप् । अग्रगामिनीं दुर्गरूपां वा शक्तिं परमात्मानं प्रति (प्र) अग्रे (नयामि) गमयामि (वः) युष्मान् (ताम्) शक्तिम् (आ विशत) आभिमुख्येन मध्ये गच्छत (ताम्) (प्र विशत) प्रवेशेन प्राप्नुत (सा)

तुम्हें (शर्म) सुख (च-च) और (वर्म) कवच [रक्षा साधन] (यच्छतु) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य रत्नों को धारण करने वाली पृथिवी का मान करते और परमात्मा में पूर्ण विश्वास रखते हैं, वे ही सुरक्षित रहकर उन्नति करते हैं ॥ १ ॥

वायुर्न्तरिक्षेणोदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ २ ॥

वायुः । अन्तरिक्षेण । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ॥ ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वायुः) वायु [पवन] (अन्तरिक्षेण) आकाश के साथ (उत् अक्रामत्) ऊपर चढ़ा है, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति..... [मन्त्र १] ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वायु आकाश में होकर प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करके आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर में श्रद्धा करके विद्या और बल में आगे बढ़ें ॥ २ ॥

सूर्यो दिवोदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ३ ॥

सूर्यः । दिवा । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ॥ ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ३ ॥

शक्तिः (वः) युष्मभ्यम् (शर्म) सुखम् (च च) समुच्चये (वर्म) कवचम् रक्षासाधनम् (यच्छतु) ददातु ॥

२—(वायुः) वातः । पवनः (अन्तरिक्षेण) आकाशेन । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(सूर्यः) सूर्य (दिवा) प्रकाश के साथ (उत् अक्रामत्) ऊंचा चढ़ा है, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति······[मन्त्र १] ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य के समान प्रतापी होकर परमात्मा का स्मरण करता हुआ पुरुषार्थ करे ॥ ३ ॥

चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ४ ॥

चन्द्रमाः । नक्षत्रैः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ॥ ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(चन्द्रमाः) चन्द्रमा (नक्षत्रैः) नक्षत्रों के साथ (उत् अक्रामत्) ऊंचा चढ़ा है, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति······[मन्त्र १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा और नक्षत्रों के विषय में सू० ७ और सूक्त ८ मन्त्र १, २ देखो । मनुष्य चन्द्रमा के समान परमात्मा के नियम में चलकर परोपकार करे ॥ ४ ॥

सोम ओषधीभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ५ ॥

सोमः । ओषधीभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ॥ ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ५ ॥

३—(सूर्यः) रविः (दिवा) प्रकाशेन सह । अन्यद् गतम् ॥

४—(चन्द्रमाः) चन्द्रमाह्लादं माति निर्मिमीते सः । आह्लादकश्चन्द्रलोकः (नक्षत्रैः) गमनशीलैस्तारागणैः—पश्यत सूक्तम् ७ तथा ८ म० १, २ । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—(सोमः) सोम रस (ओषधीभिः) ओषधियों [अन्नादि] के साथ (उत् अक्रामत्) ऊँचा चढ़ा है, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति⋯⋯[म० १] ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे सोमरस उत्तम महौषध दूसरी ओषधियों के साथ में उपकारी होता है, वैसे ही परमेश्वर भक्त विद्वान् पुरुष अन्य मनुष्यों के मेल से उपकार करे ॥ ५ ॥

यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ६ ॥

यज्ञः । दक्षिणाभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ॥ ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ६ ॥

भावार्थ—(यज्ञः) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] (दक्षिणाभिः) दक्षिणाओं [योग्य दानों] के साथ (उत् अक्रामत्) ऊँचा चढ़ा है, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति⋯⋯[मन्त्र १] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम उत्तम काम सुपात्रों के सत्कार से सिद्ध होते हैं, वैसे ही मनुष्यों को ईश्वर भक्ति के साथ लोगों का मान करके बड़े बड़े काम करने चाहियें ॥ ६ ॥

समुद्रो नदीभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ७ ॥

समुद्रः । नदीभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ॥ ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ७ ॥

५—(सोमः) सोमरसः (ओषधीभिः) अन्नादिभिः । अन्यद् गतम् ॥

६—(यज्ञः) पूजनीयव्यवहारः (दक्षिणाभिः) योग्यदानैः । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(समुद्रः) समुद्र [जल समूह] (नदीभिः) नदियों के साथ (उत् अक्रामत्) ऊंचा चढ़ा है, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति......[मन्त्र १] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे समुद्र ईश्वर नियम से नदियों के मेल से बड़ा होता है, वैसे ही मनुष्य मिलकर उन्नति करें ॥ ७ ॥

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ८ ॥

ब्रह्म । ब्रह्मचारि-भिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ॥ ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्म) वेदज्ञान (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्मचारियों [वीर्यनिग्रह से ईश्वर और वेद को प्राप्त होने वालों] के साथ (उत् अक्रामत्) ऊंचा चढ़ा है, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति......[मन्त्र १] ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्य के उत्तम नियमों के पालन से संसार का उपकार करते हैं, वैसे ही सब मनुष्यों को करना चाहिये ॥ ८ ॥

इन्द्रो वीर्ये३णोदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ९ ॥

इन्द्रः । वीर्येण । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ॥ ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् पुरुष] (वीर्येण) वीरता से (उत् अक्रामत्) ऊंचा चढ़ा है, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति

७—(समुद्रः) जलौघः (नदीभिः) । सरिद्भिः । अन्यद् गतम् ॥

८—(ब्रह्म) वेदज्ञानम् (ब्रह्मचारिभिः) वीर्यनिग्रहेण परमेश्वरस्य वेदस्य च प्राप्तये अभ्यासिभिः । अन्यद् गतम् ॥

९—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (वीर्येण) वीरकर्मणा । अन्यद्

......[मन्त्र १] ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमेश्वर की भक्ति के साथ प्रतापी वीरों के समान वीर कर्म करके उन्नति करनी चाहिये ॥ ९ ॥

देवा अमृतेनोदक्रामंस्तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ १० ॥

देवाः । अमृतेन । उत् । अक्रामन् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ॥ ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ १० ॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग (अमृतेन) अमरपन [पुरुषार्थ वा मोक्ष सुख] के साथ (उत् अक्रामन्) ऊंचे चढ़े हैं, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति......[मन्त्र १] ॥ १० ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पुरुपार्थ करके उच्च पद पाते हैं, वैसे ही सब मनुष्य विद्वान् होकर उन्नति करते रहें ॥ १० ॥

प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः । तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ११ ॥

प्रजा-पतिः । प्र-जाभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ॥ ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) प्रजापति [प्रजापालक मनुष्य] (प्रजाभिः) प्रजाओं के साथ (उत् अक्रामत्) ऊंचा चढ़ा है, (ताम्) उस (पुरम्) अग्रगामिनी शक्ति की ओर (वः) तुम्हें (प्र) आगे (नयामि) लिये चलता हूं । (ताम्) उस [शक्ति] में (आ विशत) तुम घुस जाओ, (ताम्) उस में (प्र

गतम् ॥

१०—(देवाः) विद्वांसः (अमृतेन) अमरत्वेन । पुरुषार्थेन । मोक्षसुखेन । अन्यद् गतम् ॥

११—(प्रजापतिः) प्रजापालकः पुरुष (प्रजाभिः) सन्तानैः । जनताभिः ।

विशत) तुम भीतर जाओ, (सा) वह [शक्ति] (वः) तुम्हें (शर्म) सुख (च च) और (वर्म) कवच [रक्षासाधन] (यच्छतु) देवे ॥ ११ ॥

भावार्थ—प्रजापालक पुरुष उत्तम सन्तानों और जनताओं के साथ आगे बढ़ते हैं, वैसे ही सब मनुष्यों को परस्पर सहाय करके सब की उन्नति से अपनी उन्नति करनी चाहिये ॥ ११ ॥

सूक्तम् २० ॥

१—४ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १ आर्षी त्रिष्टुप्; २ निचृज् जगती; ३ आर्ष्यनुष्टुप्; ४ निचृदनुष्टुप् ॥

रक्षाप्रयत्नोपदेशः—रक्षा के प्रयत्न का उपदेश ॥

अप न्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः। सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान् परि पातु मृत्योः ॥ १ ॥

अप। नि॒ऽअ॒धुः। पौरुषेयम्। व॒धम्। यम्। इ॒न्द्रा॒ग्नी इति॑। धा॒ता। स॒वि॒ता। बृह॒स्पतिः॑ ॥ सोमः॑। राजा॑। वरु॑णः। अ॒श्विना॑। य॒मः। पू॒षा। अ॒स्मान्। परि॑। पा॒तु॒। मृ॒त्योः ॥१॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (पौरुषेयम्) पुरुषों में विकार करने वाले (वधम्) हथियार को (अप) छिपा कर (न्यधुः) उन [शत्रुओं] ने जमा रक्खा है, [उस] (मृत्योः) मृत्यु [मृत्यु के कारण] से (इन्द्राग्नी) बिजुली और अग्नि दोनों [के सामन व्यापक और तेजस्वी], (धाता) धारण करने वाला, (सविता) आगे चलाने वाला, (बृहस्पतिः) बड़ी विद्याओं का रक्षक, (सोमः)

अन्यद् गतम् ॥

१—(अप) अपगूढम्। अप्रकाशम् (न्यधुः) निहितवन्तः। नीचैः स्थापितवन्तः शत्रवः (पौरुषेयम्) पुरुषाद् वधविकारसमूहतेनकृतेषु। वा० पा० ५।१।१०। पुरुष—ढञ्। पुरुषाणां विकर्तारं नाशकम् (वधम्) हननसाधनं शस्त्रास्त्रादिकपम् (यम्) (इन्द्राग्नी) विद्युत्पावकाविव व्यापकस्तेजस्वी च (धाता) धारकः (सविता) प्रेरकः (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां पालकः

ऐश्वर्यवान्, (राजा) राजा [शासक] (वरुणः) श्रेष्ठ, (अश्विना) सूर्य और चन्द्रमा दोनों [के समान नियम पर चलने वाला], (यमः) न्यायकारी (पूषा) पोषण करने वाला [शूर पुरुष] (अस्मान्) हमें (परि) सब ओर से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—यदि शत्रु, चोर, डाकू आदि छल कपट से सुरंग आदि लगा कर प्रजा को दुःख देवें, शूर प्रतापी राजा उन को रोक कर प्रजा की रक्षा करे ॥ १ ॥

यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापतिर्मातरिश्वा प्रजाभ्यः । प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु ॥ २ ॥

यानि । चकार । भुवनस्य । यः । पतिः । प्रजा-पतिः । मातरिश्वा । प्र-जाभ्यः ॥ प्र-दिशः । यानि । वसते । दिशः । च । तानि । मे । वर्माणि । बहुलानि । सन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(भुवनस्य) संसार का (यः) जो (पतिः) पति [परमात्मा] है, [उस] (प्रजापतिः) प्रजापति, (मातरिश्वा) आकाश में व्यापक [परमात्मा] ने (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये (यानि) जिन [रक्षा साधनों] को (चकार) बनाया है । और (यानि) जो (प्रदिशः) दिशाओं (च) और (दिशः) मध्य दिशाओं को (वसते) ढकते हैं [रक्षित करते हैं], (तानि)

(सोमः) ऐश्वर्यवान् (राजा) शासकः (वरुणः) श्रेष्ठः (अश्विना) सूर्याचन्द्रमसाविव नियमवान् पुरुषः (यमः) न्यायकारी (पूषा) पोषकः (अस्मान्) प्रजागणान् (परि) सर्वतः (पातु) (रक्षतु) (मृत्योः) तस्माद् मरणकारणात् ॥

२—(यानि) वर्माणि । रक्षासाधनानि (चकार) रचितवान् (भुवनस्य) संसारस्य (यः) (पतिः) स्वामी (प्रजापतिः) प्रजापालकः (मातरिश्वा) टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन् । मातरि आकाशे श्वयति व्याप्नोतीति परमात्मा (प्रजाभ्यः) (प्रदिशः) प्राच्यादिदिशाः (यानि) वर्माणि (वसते) आच्छादयन्ति । रक्षन्ति (दिशः) मध्यवर्तिनीर्दिशाः (च) (तानि) (मे)

वे (वर्माणि) कवच [रक्षा साधन) (मे) मेरे लिये (बहुलानि) बहुत से (सन्तु) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जगत्पालक परमेश्वर ने मनुष्य के लिये सब दिशाओं में रक्षा के साधन उपस्थित किये हैं मनुष्य प्रयत्न पूर्वक उन्हें प्राप्त करके सुखी होवें ॥२

यत् ते तनूष्वनह्यन्त देवा द्युराजयो देहिनः ।
इन्द्रो यच्चक्रे वर्म तदस्मान् पातु विश्वतः ॥ ३ ॥

यत् । ते । तनूषु । अनह्यन्त । देवाः । द्यु-राजयः । देहिनः ॥
इन्द्रः । यत् । चक्रे । वर्म । तत् । अस्मान् । पातु । विश्वतः ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जिस [कवच] को (तनूषु) शरीरों पर (ते) उन (द्युराजयः) व्यवहारों में ऐश्वर्यवान्, (देहिनः) शरीरधारी (देवाः) विद्वानों ने (अनह्यन्त) बांधा है । और (यत्) जिस (वर्म) कवच [रक्षासाधन] को (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर] ने (चक्रे) बनाया है, (तत्) वह [कवच] (अस्मान्) हमें (विश्वतः) सब ओर से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् लोगों ने परमेश्वरकृत नियमों को मान कर सब की रक्षा की है, वैसे ही मनुष्यों को विद्वान् होकर परस्पर रक्षा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।
वर्म मे विश्वे देवाः क्रन् मा मा प्रापत् प्रतीचिका ॥ ४ ॥

मह्यम् (वर्माणि) कवचानि । रक्षासाधनानि (बहुलानि) प्रभूतानि (सन्तु) भवन्तु ॥

३—(यत्) वर्म (ते) प्रसिद्धाः (तनूषु) शरीरेषु (अनह्यन्त) णह बन्धने—लङ् । धृतवन्तः (देवाः) विद्वांसः (द्युराजयः) दिवु व्यवहारे—क्विप्+राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—इन् । व्यवहारेषु समर्थाः (देहिनः) शरीरिणः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः (यत्) (चक्रे) कृतवान् (वर्म) कवचम् । रक्षासाधनम् (तत्) (अस्मान्) उपासकान् (पातु) (विश्वतः) सर्वतः ॥

वर्म । मे । द्यावापृथिवी इति । वर्म । अहः । वर्म । सूर्यः ॥ वर्म । मे । विश्वे । देवाः । क्रन् । मा । मा । प्र । आपत् ॥ प्रतीचिका ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरे लिये (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि ने (वर्म) कवच, (अहः) दिन ने (वर्म) कवच, (सूर्यः) सूर्य ने (वर्म) कवच, (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम पदार्थों ने (वर्म) कवच (मे) मेरे लिये (क्रन्) किया है, (मा) मुझ को (प्रतीचिका) उलटी चलने वाली [विपत्ति] (मा प्र आपत्) कभी न प्राप्त हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य संसार के बीच सब पदार्थों से सर्वदा उपकार लेते हैं, वह सुखी रहते हैं ॥ ४ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २१ ॥

मन्त्रः १ ॥ वाग् देवता ॥ साम्नी बृहती छन्दः ॥

महाशान्त्युपदेशः—महाशान्ति के लिये उपदेश ॥

गायत्र्युं१ष्णिगनुष्टुब् बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब् जगत्यै ॥ १ ॥

गायत्री । उष्णिक् । अनु-स्तुप् । बृहती । पङ्क्तिः । त्रि-स्तुप् । जगत्यै ॥ १ ॥

भाषार्थ—(गायत्री) गायत्री [गानेयोग्य] (उष्णिक्) उष्णिक्

४-(वर्म) कवचम् (मे) मह्यम् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (वर्म) (अहः) दिनम् (वर्म) (सूर्यः) भास्करः (वर्म) (मे) (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यपदार्थाः (क्रन्) छान्दसो लुङ् । अकार्षुः (मा) निषेधे (मा) माम् (प्र आपत्) अप्नोतेर्लुङ् । प्राप्नोतु (प्रतीचिका) प्रतीची-कन् स्वार्थे । केऽणः । पा० ७ । ४ । १३ । इति ह्रस्वः । प्रतिकूलाञ्चना विपत्तिः ॥

१—(गायत्री) अ० ८ । ६ । १४ । अमिनक्षियजि० । उ० ३ । १०५ । गै गाने-अत्रन्, णित्, युक् लोप् च । गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ७।१२।

[बड़े स्नेह वाली],(बृहती) बृहती [बढ़ती हुयी], (पङ्क्तिः) पङ्क्ति [विस्तार-वाली], (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् [तीन कर्म, उपासना, ज्ञान से सत्कार की गयी], (अनुष्टुप्) अनुष्टुप् [निरन्तर पूजने योग्य वेद वाणी] (जगत्यै) जगती [चलते हुये जगत् के हित के लिये] है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमेश्वरोक्त वेदवाणी द्वारा कर्म, उपासना और ज्ञान में तत्पर होकर संसार का हित करना चाहिये ॥ १ ॥

सूचना—गायत्री २४, उष्णिक् २८, अनुष्टुप् ३२, बृहती ३६, पङ्क्ति ४०, त्रिष्टुप् ४४ और जगती ४८ अक्षर के छन्द विशेष भी हैं, परन्तु इस पक्ष में अर्थ की सङ्गति विचारणीय है ॥

सूक्तम् २२ ॥

१-२१ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १ साम्न्युष्णिक् ; २, ६, १४-१६, २० दैवी पङ्क्तिः; ३ , १६ प्राजापत्या गायत्री; ४ , ७ , ११ , १७ दैवी जगती; ५ , १२ , १३ दैवी त्रिष्टुप् ;८-१० आसुरी जगती ; १८ आर्युनुष्टुप् ; २१ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

महाशान्त्युपदेशः—महाशान्ति के लिये उपदेश ॥

गानयोग्या । छन्दोविशेषोऽपि (उष्णिक्) ऋत्विग्दधृक्स्रग् दिगुष्णिग्० । पा० ३ । २ । ५६ । उत्+ष्णिह प्रीतौ स्नेहने च-क्विन् । उष्णिगुत्स्नाता भवति, स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मण उष्णीषिणी वेत्यौपमिकमुष्णीषं स्नायतेः—निरु०७ । १२ । उत्कर्षेण स्नेहिनी । प्रीतिमती (अनुष्टुप्) अ० ८ । ६ । १४ । अनु+ष्टुभ पूजायाम्—क्विप् । स्तोभतिरर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । अनुष्टुब् वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । निरन्तरं स्तुतियोग्या वेदवाणी । छन्दोविशेषोऽपि (बृहती) अ० १ । १७ । ४ । वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्० । उ० २ । ८४ । बृह वृद्धौ-अति, ङीष् । बृहती परिबर्हणात्—निरु०७।१२। प्रवर्धमाना । छन्दोविशेषोऽपि(पङ्क्तिः) अ० ६ । १० । २१ । पचि व्यक्तीकरणे-क्तिन् । पङ्क्तिः पञ्चपदा-निरु० ७ । १२ । विस्तारवती । छन्दो विशेषोऽपि (त्रिष्टुप्)अ० ८ । ६ ।१४ । त्रि+ष्टुभ पूजायाम्-क्विप् । स्तोभतिरर्चतिकर्मा- निघ० ३ । १४ । त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा-निरु० ७। १२ । त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैः पूजिता । छन्दोविशेषोऽपि (जगत्यै) अ० ८ । ६ । १४ । वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच् । उ० २ । ८४ । गम्लृ गतौ-अति, ङीप्, जगते संसारहिताय । जगतीति छन्दो विशेषोऽपि ॥

आङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा ॥ १ ॥

आङ्गिरसानाम् । आद्यैः । पञ्च । अनु-वाकैः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आङ्गिरसानाम्) अङ्गिरा [सर्वज्ञ परमेश्वर] के बनाये [ज्ञानों] के (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश पञ्चभूतों] से सम्बन्ध वाले (आद्यैः) आदि में [इस सृष्टि के पहिले] वर्तमान (अनुवाकैः) अनुकूल वेदवाक्यों के साथ (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वरीय ज्ञान वेदों द्वारा पृथिवी आदि पदार्थों को यथावत् जानकर अपनी वाणी को सुफल करें ॥ १ ॥

षष्ठाय स्वाहा ॥ २ ॥ षष्ठाय । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(षष्ठाय) छठे [पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश पञ्च भूतों की अपेक्षा छठे परमात्मा] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ २ ॥

भावार्थ—पृथिव्यादि पञ्चभूतों के नियन्ता परमेश्वर की उपासना सब मनुष्य करें । अथर्व० ८ । ६ । ४ । भी देखो ॥ २ ॥

सप्तमाष्टमाभ्यां स्वाहा ॥३॥ सप्तम-अष्टमाभ्याम् । स्वाहा ॥३॥

भाषार्थ—(सप्तमाष्टमाभ्याम्) सातवें के लिये और आठवें के लिये [भावार्थ देखो] (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—यहां सातवां और आठवां पद परमेश्वर के दो गुणों का नाम

१—(आङ्गिरसानाम्) अङ्गिरस्—अण् । अङ्गिरसा सर्वज्ञेन परमात्मना कृतानां ज्ञानानाम् (आद्यैः) सृष्टेः प्राग् वर्तमानैः (पञ्च) विभक्तेर्लुक् । पञ्चभिः पृथिव्यादिपञ्चभूतसम्बन्धिभिः (अनुवाकैः) अनुकूलवेदवाक्यैः सह (स्वाहा) अ० १६ । १७ । १ । सुवाणी ॥

२—(षष्ठाय) पृथिव्यादिपञ्चभूतापेक्षया षट्संख्यापूरकाय परमेश्वराय ॥

३—(सप्तमाष्टमाभ्याम्) सप्तमश्चाष्टमश्च तौ ताभ्याम् । षड्वर्गेण काम-क्रोधलोभमोहमदमात्सर्यैः पृथग्भूताय सप्तमाय, श्रोत्रनेत्रनासिकाजिह्वात्वग्-मनश्चित्तैः पृथग् वर्तमानाय अष्टमाय च परमेश्वराय ॥

है। परमेश्वर षड्वर्ग अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य से अलग सातवां है। तथा कान, आंख, नाक जिह्वा, त्वचा पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन और चित्त से पृथक् होने से उसको आठवां माना है। उसकी उपासना हमें सदा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

नीलनखेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ नील-नखेभ्यः । स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नीलनखेभ्यः) निश्चित ज्ञान प्राप्त कराने वाले [परमेश्वर के गुणों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ ४ ॥

हरितेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ हरितेभ्यः । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हरितेभ्यः) स्वीकार करने योग्य [परमेश्वर के गुणों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ५ ॥

क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥ क्षुद्रेभ्यः । स्वाहा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(क्षुद्रेभ्यः) सूक्ष्म गुणों के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ६ ॥

यह मन्त्र आगे है—अथर्व० १९। २२। २१ ॥

पर्यायिकेभ्यः स्वाहा ॥७॥ पर्यायिकेभ्यः । स्वाहा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(पर्यायिकेभ्यः) पर्याय [अनुक्रम] वाले गुणों के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ७ ॥

४—(नीलनखेभ्यः) नि+इल गतौ—क+णख गतौ—क। इला वाङ्नाम—निघ० १। ११। नीलानां निश्चितज्ञानानां नखेभ्यः प्रापकेभ्यः परमात्मगुणेभ्यः ॥

५—(हरितेभ्यः)हृश्याभ्यामितन्। उ० ३। ९३। हृञ् स्वीकारे—इतन्। स्वीकरणीयेभ्यः परमेश्वरगुणेभ्यः ॥

६—(क्षुद्रेभ्यः) स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदि०। उ० २। १३। क्षुदिर् संपेषणे-रक्। सूक्ष्मगुणेभ्यः ॥

७—(पर्यायिकेभ्यः) अत इनिठनौ। पा० ५। २। ११५। पर्याय-ठन्। अनुक्रमयुक्तेभ्यः ॥

प्र॒थ॒मेभ्यः॑ श॒ङ्खेभ्यः॒ स्वाहा॑ ।८। प्र॒थ॒मेभ्यः॑ । श॒ङ्खेभ्यः॑ । स्वाहा॑ ॥८॥

भाषार्थ—(प्रथमेभ्यः) पहिले [सृष्टि से पहिले वर्तमान] (शङ्खेभ्यः) विचार योग्य गुणों के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ८ ॥

द्वि॒तीये॑भ्यः श॒ङ्खेभ्यः॒ स्वाहा॑ ।९। द्वि॒तीये॑भ्यः । श॒ङ्खेभ्यः॑ । स्वाहा॑ ।९

भाषार्थ—(द्वितीयेभ्यः) दूसरे [सृष्टि के आदि की अपेक्षा अन्त में विद्यमान] (शङ्खेभ्यः) दर्शनीय गुणों के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर-वाणी] हो ॥ ९ ॥

तृ॒तीये॑भ्यः श॒ङ्खेभ्यः॒ स्वाहा॑ ।१०। तृ॒तीये॑भ्यः । श॒ङ्खेभ्यः॑ । स्वाहा॑ ।१०

भाषार्थ—(तृतीयेभ्यः) तीसरे [आदि और अन्त की अपेक्षा मध्य में वर्तमान] (शङ्खेभ्यः) शान्तिदायक गुणों के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १० ॥

उ॒पो॒त्त॒मेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ११ ॥ उ॒प॒-उ॒त्त॒मेभ्यः॑ । स्वाहा॑ ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(उपोत्तमेभ्यः) श्रेष्ठों के समीपवर्ती [ब्रह्मचारी आदि पुरुषों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ११ ॥

उ॒त्त॒मेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ १२ ॥ उ॒त्ऽत॒मेभ्यः॑ । स्वाहा॑ ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(उत्तमेभ्यः) अत्यन्त श्रेष्ठ [पुरुषों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १२ ॥

८—(प्रथमेभ्यः) सृष्टेः पूर्ववर्तमानेभ्यः (शङ्खेभ्यः) शमेः खः । उ० १।१०२ । शम आलोचने दर्शने च, शमु उपशमे च-खप्रत्ययः । आलोचनीयेभ्यो गुणेभ्यः ॥

९—(द्वितीयेभ्यः) सृष्टेराद्यपेक्षया अन्ते वर्तमानेभ्यः (शङ्खेभ्यः) म० ८ । दर्शनीयगुणेभ्यः ॥

१०—(तृतीयेभ्यः) आद्यन्तापेक्षया मध्ये वर्तमानेभ्यः (शङ्खेभ्यः) म० ८ । शान्तिप्रदगुणेभ्यः ॥

११—(उपोत्तमेभ्यः) श्रेष्ठानां समीपवर्तिभ्यो ब्रह्मचार्यादिभ्यः ॥

१२—(उत्तमेभ्यः) अतिश्रेष्ठपुरुषेभ्यः ॥

उत्तरेभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥ उत्-तरेभ्यः । स्वाहा ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(उत्तरेभ्यः) अधिकतर ऊंचे [पुरुषों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १३ ॥

ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥ ऋषि-भ्यः । स्वाहा ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(ऋषिभ्यः) ऋषियों [वेदव्याख्याता मुनियों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १४ ॥

शिखिभ्यः स्वाहा ॥१५॥ शिखि-भ्यः । स्वाहा ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(शिखिभ्यः) शिखाधारियों [चोटी वालों, अथवा चोटी वाले पर्वतादि के समान ऊंचे ब्रह्मज्ञानियों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १५ ॥

गणेभ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥ गणेभ्यः । स्वाहा ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(गणेभ्यः) समूहों के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर-वाणी] हो ॥ १६ ॥

महागणेभ्यः स्वाहा ॥ १७ ॥ महा-गणेभ्यः । स्वाहा ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(महागणेभ्यः) बड़े समूहों के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १७ ॥

सर्वेभ्योऽङ्गिरोभ्यो विदगणेभ्यः स्वाहा ॥ १८ ॥

सर्वेभ्यः । अङ्गिरः-भ्यः । विद्-गणेभ्यः । स्वाहा ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(सर्वेभ्यः) सब (अङ्गिरोभ्यः) विज्ञानी (विदगणेभ्यः)

१३—(उत्तरेभ्यः) अधिकतरोन्नतपुरुषेभ्यः ॥

१४—(ऋषिभ्यः) वेदार्थदर्शकेभ्यो मुनिभ्यः ॥

१५—(शिखिभ्यः) व्रीह्यादिभ्यश्च । पा० ५ । २ । ११६ । शिखा—इनि । शिखाधारिभ्यः, यद्वा शिखरयुक्तपर्वतादितुल्योन्नतेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः ॥

१६—(गणेभ्यः) समूहेभ्यः ॥

१७—(महागणेभ्यः) महासमूहेभ्यः ॥

१८—(सर्वेभ्यः) समस्तेभ्यः(अङ्गिरोभ्यः) विज्ञानिभ्यः (विदगणेभ्यः)

पण्डित समूहों के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी) हो ॥ १८ ॥

पृथक्सहस्राभ्यां स्वाहा॥१९॥ पृथक्-सहस्राभ्याम् । स्वाहा॥१९॥

भाषार्थ—(पृथक्सहस्राभ्याम्) पृथक् पृथक् और सहस्रों वाले दोनों [समूहों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १९ ॥

भावार्थ—मनुष्य पृथक् पृथक् होकर और सामाजिक समुदाय बनाकर हितकारी कर्म करें करावें ॥ १९ ॥

ब्रह्मणे स्वाहा ॥ २० ॥ ब्रह्मणे । स्वाहा ॥ २० ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणे) वेदज्ञान के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदविद्या के उपदेश से परस्पर हित करते कराते रहें ॥ २० ॥

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान ।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः २१

ब्रह्म-ज्येष्ठा । सम् -भृता । वीर्याणि । ब्रह्म । अग्रे । ज्येष्ठम् । दिवम् । आ । ततान ॥ भूतानाम् । ब्रह्मा । प्रथमः । उत । जज्ञे । तेन । अर्हति । ब्रह्मणा । स्पर्धितुम् । कः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(संभृता) यथावत् भरे हुये (वीर्याणि) वीर कर्म (ब्रह्मज्येष्ठा) ब्रह्म [परमात्मा] को ज्येष्ठ [महाप्रधान रखने वाले] हैं, (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ [सर्वप्रधान] (ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] ने (अग्रे) पहिले (दिवम्)

विद ज्ञाने-क । पण्डितसमूहेभ्यः ॥

१९—(पृथक्सहस्राभ्याम्) व्यक्तिजन्यसहस्रजन्याभ्यां समूहाभ्याम् ॥

२०—(ब्रह्मणे) वेदज्ञानाय ॥

२१—(ब्रह्मज्येष्ठा) ब्रह्म परमात्मा ज्येष्ठो महाप्रधानो येषां तानि (संभृता) सम्यक् पोषितानि (वीर्याणि) वीरकर्माणि (ब्रह्म) प्रवृद्धः परमात्मा (अग्रे) सृष्टिपूर्वम् (ज्येष्ठम्) सर्वप्रधानम् (दिवम्) दिवु गतौ-क । ज्ञानम् (आ)

ज्ञान को (आ) सब ओर (ततान) फैलाया है । (उत) और (ब्रह्मा) वह ब्रह्मा [सब से बड़ा, सर्वजनक परमात्मा] (भूतानाम्) प्राणियों में (प्रथमः) पहिला (जज्ञे) प्रकट हुआ है, (तेन) इस लिये (ब्रह्मणा) ब्रह्मा [महान् परमात्मा] के साथ (कः) कौन (स्पर्धितुम्) झगड़ने को (अर्हति) समर्थ है ? ॥ २१ ॥

भावार्थ—संसार में सब प्रकार के पराक्रम और बल सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के सामर्थ्य से हैं, उस महावृद्ध, सर्वजनक से तुल्य वा अधिक कोई भी नहीं है । सब मनुष्य उसकी उपासना कर के सुख प्राप्त करें ॥ २१ ॥

मन्त्र २०,२१ आगे हैं-अथर्व० १६ । २३ । २९, ३० ॥

सूक्तम् २३ ॥

१-३० ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ आसुरी बृहती; २-७, २०, २३, २७ दैवी त्रिष्टुप्; ८, १०-१२, १४, १६ प्राजापत्या गायत्री; ६,१३,१८, २२, २६,२८ दैवी जगती ; १७, १९, २१, २४, २५, २९ दैवी पङ्क्तिः; ३० निचृत् त्रिष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्मविद्या का उपदेश ॥

आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥

आथर्वणानाम् । चतुःऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आथर्वणानाम्) अथर्वा [निश्चल ब्रह्म] के बताये ज्ञानों के (चतुर्ऋचेभ्यः) चार [धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष] की स्तुति योग्य विद्या वाले

समन्तात् (ततान) विस्तारितवान् (भूतानाम्) प्राणिनां मध्ये (ब्रह्मा) सर्वेभ्यः प्रवृद्धः परमात्मा (प्रथमः) आद्यः (उत) अपि (प्रथमोत) रोर्यत्वे तस्य लोपे पुनः सन्धिश्छान्दसः संहितायाम् (जज्ञे) प्रादुर्बभूव (तेन) कारणेन (अर्हति) समर्थो भवति (ब्रह्मणा) परमात्मना सह (स्पर्धितुम्) स्पर्धामभिभवेच्छां कर्त्तुम् (कः) कः पुरुषः । न कोऽपीत्यर्थः ॥

१—(आथर्वणानाम्) अथर्वन्-अण् । अथर्वणा निश्चलब्रह्मणा प्रोक्तानां ज्ञानानाम् (चतुर्ऋचेभ्यः) ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे। पा०५ । ४। ७४ । इति चतुर्+ ऋच्—अप्रत्ययः समासान्तः । ऋच स्तुतौ-क्विप् । ऋग्वाक् नाम—निघ० १ ।

[वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमेश्वरोक्त ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद द्वारा श्रेष्ठ विद्यायें प्राप्त करके इस जन्म और पर जन्म का सुख भोगना चाहिये ॥ १ ॥

यही भावार्थ आगे मन्त्र २९ तक समझें और "निश्चल ब्रह्म के बताये ज्ञानों के "—इन पदों की अनुवृत्ति जानें ॥

पञ्चर्चेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥ पञ्च-ऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पञ्चर्चेभ्यः) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश पांच तत्त्वों] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ २ ॥

षडृचेभ्यः स्वाहा ॥ ३ ॥ षट्-ऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(षडृचेभ्यः) छह [वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् हेमन्त, शिशिर, छह ऋतुओं] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ३ ॥

सप्तर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ सप्त-ऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सप्तर्चेभ्यः) सात [दो कान दो, नथने, दो आंखें और एक-मुख-अथर्व० १० । २ । ६ इन की] स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ४ ॥

---

११ । चतुर्णां धर्मार्थकाममोक्षाणाम् ऋक् स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः (स्वाहा) अ० १६ । १७ । १ । सुवाणी ॥

२-(पञ्चर्चेभ्यः) म० १ । पञ्चानां पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः ॥

३—(षडृचेभ्यः) म० १० । षण्णां वसन्तादिषड् ऋतूनां स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः । वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः । वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इन्नु रन्त्यः । साम० पू०६ । १३ । २ । इति षड् ऋतवः ॥

४—(सप्तर्चेभ्यः) म० १ । कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्—अथर्व० १० । २ । ६ । इत्येतेषां स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः ॥

अष्टर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ अष्ट-ऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अष्टर्चेभ्यः) आठ [यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि, आठ योग के अङ्गों] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ५ ॥

नवर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥ नव-ऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(नवर्चेभ्यः) नव [दो कान, दो आंख, दो नथने, एक मुख, एक पायु, एक उपस्थ, नवद्वारपुर शरीर] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ६ ॥

दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥ दश-ऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(दशर्चेभ्यः) दस [दान, शील, क्षमा, वीरता, ध्यान, बुद्धि, सेना, उपाय, दूत और ज्ञान इन दस बलों] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ७ ॥

एकादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥ एकादश-ऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(एकादशर्चेभ्यः) ग्यारह [प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय दस प्राण और ग्यारहवें जीवात्मा]

५—(अष्टर्चेभ्यः) म० १ । अष्टानां यमनियमादीनां स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि । पातञ्जलयोगदर्शने, २ । २९ ॥

६—(नवर्चेभ्यः) म० १ । नवद्वारपुरस्य शरीरस्य स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः । द्वे श्रोत्रे चक्षुषी नासिके च मुखमेकं द्वे पायूपस्थे—इति शरीरस्य नवछिद्ररूपाणि द्वाराणि ॥

७—(दशर्चेभ्यः) म० १ । दशानां दशबलानां स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः । दानशीलक्षमावीर्यध्यानप्रज्ञाबलानि च । उपायः प्रणिधिर्ज्ञानं दश बुद्धबलानि वै—इति शब्दस्तोममहानिधौ ॥

८—(एकादशर्चेभ्यः) म० १ ॥ प्राणापानोदानव्यानसमाननागकूर्म-

की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ८ ॥

द्वादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥९॥ द्वादश-ऋचेभ्यः । स्वाहा ॥९॥

भाषार्थ—(द्वादशर्चेभ्यः) बारह [चैत्र आदि बारह महीनों] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ९ ॥

त्रयोदशर्चेभ्यःस्वाहा॥१०॥ त्रयोदश-ऋचेभ्यः । स्वाहा ॥१०॥

भाषार्थ—(त्रयोदशर्चेभ्यः) तेरह [उछालना, गिराना, सकोड़ना, फैलाना और चलना पांच कर्म तथा छोटाई, हलकायी, प्राप्ति, स्वतन्त्रता, बड़ाई, ईश्वरपन, जितेन्द्रियता और सत्य संकल्प आठ ऐश्वर्य इन तेरह] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १० ॥

चतुर्दशर्चेभ्यः स्वाहा॥११॥ चतुर्दश-ऋचेभ्यः । स्वाहा ॥११॥

भाषार्थ—(चतुर्दशर्चेभ्यः) चौदह [कान, आंख, नासिका, जिह्वा, त्वचा-पांच ज्ञानेन्द्रिय, और वाक्, हाथ, पांव, पायु, उपस्थ पांच कर्मेन्द्रिय, तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ११ ॥

कृकलदेवदत्तधनञ्जया इति दश प्राणा एकादशो जीवात्मा, एतेषां स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः ॥

९—(द्वादशर्चेभ्यः) म० १। चैत्रादिद्वादशमासानां स्तुत्या विद्या येषु तेभ्यो वेदेभ्यः ॥

१०—(त्रयोदशर्चेभ्यः) म० १ उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि-वैशेषिके १।१।७। अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा। ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता ॥ १ " इत्यष्टैश्वर्याणि। इत्येतेषां त्रयोदशानां स्तुत्या विद्या येषु तेभ्यो वेदेभ्यः ॥

११—(चतुर्दशर्चेभ्यः) म० १। मनोबुद्धि चित्ताहङ्कारसहितानां दशेन्द्रियाणां स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः ॥

पञ्चदशर्चेभ्यः स्वाहा॥१२॥ पञ्चदश-ऋचेभ्यः। स्वाहा॥१२॥

भावार्थ—(पञ्चदशर्चेभ्यः) पन्द्रह [शुक्ल, नील, पीत रक्त, हरित, कपिश, चित्र ये सात रूप, तथा मधुर आम्ल, लवण, कटु कषाय, तिक्त ये छह रस और सुरभि, असुरभि दो प्रकार का गन्ध, इन पन्द्रह] की स्तुति योग्य विद्या-वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १२ ॥

षोडशर्चेभ्यः स्वाहा॥१३॥ षोडश-ऋचेभ्यः। स्वाहा॥१३॥

भावार्थ—(षोडशर्चेभ्यः) सोलह [प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, प्रकाश, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम-इन सोलह कलाओं] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १३ ॥

टिप्पणी—प्रश्नोपनिषद् में सोलह कलायें इस प्रकार हैं [स प्राणम-सृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्। मनोऽन्नमन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोका लोकेषु च नाम च ॥ प्रश्न ६ श्लोक ४] उस [पुरुष] ने प्राण, प्राण से श्रद्धा [आस्तिक बुद्धि], आकाश, वायु, प्रकाश, जल, पृथिवी, इन्द्रिय [ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय] मन और अन्न को, अन्न से वीर्य, तप, मन्त्रों [ऋग्वेदादि चार वेदों] कर्म और लोकों, और लोकों में नाम को उत्पन्न किया ॥

सप्तदशर्चेभ्यः स्वाहा॥१४॥ सप्तदश-ऋचेभ्यः। स्वाहा॥१४॥

भावार्थ—(सप्तदशर्चेभ्यः) सत्तरह [चार दिशा, चार विदिशा, एक ऊपर की ओर एक नीचे की दस दिशायें-सत्त्व, रज, और तम तीन गुण-

१२—(पञ्चदशर्चेभ्यः) म० १ । शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशाचित्र-सप्तरूपाणि, मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तषड्रसाः, सुरभिश्चासुरभिश्चेति गन्धौ । इत्येतेषां पञ्चदशानां स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः ॥

१३—(षोडशर्चेभ्यः) म० १ । प्रश्नोपनिषदि प्रश्ने ६ श्लोके ४ प्रतिपा-दितानां प्राणश्रद्धादिषोडशकलानां स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः ॥

१४—(सप्तदशर्चेभ्यः) म० १ । चतस्रो दिशाश्चतस्रो मध्यदिशा एको-परिस्था, एकाधोभवेति दश दिशाः, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः, ईश्वरो जीवः

ईश्वर, जीव, प्रकृति और संसार] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १४ ॥

अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा ।१५। अष्टादश-ऋचेभ्यः । स्वाहा॥१५॥

भावार्थ—(अष्टादशर्चेभ्यः) अठारह [धैर्य, सहन, मन का रोकना, चोरी न करना, शुद्धता, जितेन्द्रियता बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोध न करना, ये दस धर्म—मनु० ६ । ९२, तथा ब्राह्मण, गौ, अग्नि, सुवर्ण, घृत, सूर्य, जल, राजा ये आठ मङ्गल-शब्दकल्पद्रुमकोश, इन अठारह] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १५ ॥

एकोनविंशतिः स्वाहा ।१६। एकोनविंशतिः । स्वाहा ॥ १६ ॥

भावार्थ—(एकोनविंशतिः) उन्नीस [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चार वर्ण-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, चार आश्रम-सत्संग, सुनना, विचारना, ध्यान करना, चार कर्म-अप्राप्त की इच्छा, प्राप्त की रक्षा, रक्षित का बढ़ाना, बढ़े हुये का सन्मार्ग में व्यय करना चार पुरुषार्थ-मन, बुद्धि और अहङ्कार इन उन्नीस स्तुति योग्य विद्याओं के लिये] (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १६ ॥

प्रकृतिः संसारश्चेति सप्तदशानां स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः ॥

१५—(अष्टादशर्चेभ्यः) म ०१ । धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः । धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्—मनु० ६ । ९२। लोकेऽस्मिन् मङ्गलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः । हिरण्यं सर्पिरादित्य आपो राजा तथाऽष्टमः ॥ १ ॥ इति शब्दकल्पद्रुमकोशः । एतेषामष्टादशानां स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः ॥

१६—(एकोनविंशतिः) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । चतुर्थीस्थाने प्रथमा विशेषणपदलोपश्च । एकोनविंशतये ऋग्भ्यः । चत्वारो वर्णाश्चत्वार आश्रमाः सत्संगश्रवणमननिदिध्यासनानि चत्वारि कर्माणि, अलब्धस्य लिप्सा लब्धस्य रक्षणं रक्षितस्य वृद्धिर्वृद्धस्य सन्मार्गे व्ययकरणम्, मनो-बुद्ध्यहंकाराश्चेत्यूनविंशतिर्विद्यास्ताभ्यः ॥

विंशतिः स्वाहा ॥ १७ ॥ विंशतिः । स्वाहा ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(विंशतिः) बीस [पांच सूक्ष्म भूत, पांच स्थूल भूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, और पांच कर्मेन्द्रिय-इन बीस स्तुति योग्य विद्याओं के लिये] (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १७ ॥

महत्काण्डाय स्वाहा ॥१८॥ महत्-काण्डाय । स्वाहा ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(महत्काण्डाय) बड़े [धर्मात्माओं] के संरक्षक [वेद] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १८ ॥

तृचेभ्यः स्वाहा ॥ १९ ॥ तृचेभ्यः । स्वाहा ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(तृचेभ्यः) तीन [भूत, भविष्यत्, वर्तमान] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥१९॥

एकर्चेभ्यः स्वाहा ॥ २० ॥ एक-ऋचेभ्यः स्वाहा ॥ २० ॥

भाषार्थ—(एकर्चेभ्यः) एक [परमात्मा] की स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ २० ॥

क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥ २१ ॥ क्षुद्रेभ्यः । स्वाहा ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(क्षुद्रेभ्यः) सूक्ष्मज्ञान वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ २१ ॥

१७—(विंशतिः) यथा म० १६, चतुर्थीस्थाने प्रथमा, विशेषणपदलोपश्च । पञ्च सूक्ष्मभूतानि, पञ्च स्थूलभूतानि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि चेति विंशतिर्विद्यास्ताभ्यः ॥

१८—(महत्काण्डाय) कादिभ्यः कित् । उ० १ । ११५ । कमु कन वा कान्तौ—डप्रत्ययो दीर्घश्च, यद्वा कडि भेदने संरक्षणे च—घञ् । महतां विदुषां संरक्षकाय वेदाय ॥

१९—(तृचेभ्यः) म० १ । त्रयाणां भूतभविष्यद्वर्तमानानां स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः ॥

२०—(एकर्चेभ्यः) म० १ । एकस्य परमात्मनः स्तुत्या विद्या येषु वेदेषु तेभ्यः ॥

२१—(क्षुद्रेभ्यः) म० १९ । २२ । ६ । सूक्ष्मज्ञानयुक्तेभ्यो वेदेभ्यः ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० १९ । २२ । ६ ॥

एकानृचेभ्यः स्वाहा ॥२२॥ एक-अनृचेभ्यः । स्वाहा ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(एकानृचेभ्यः) एक [परमात्मा] की अत्यन्त ही स्तुति योग्य विद्या वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥२२॥

रोहितेभ्यः स्वाहा ॥२३॥ रोहितेभ्यः । स्वाहा ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(रोहितेभ्यः) प्रकट होते हुये धार्मिक गुण युक्त [वेदों] के लिये (स्वाहा) (सुन्दर वाणी] हो ॥ २३ ॥

सूर्याभ्यां स्वाहा ॥ २४ ॥ सूर्याभ्याम् स्वाहा ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(सूर्याभ्याम्) दो प्रेरकों [परमात्मा और जीवात्मा] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ २४ ॥

व्रात्याभ्यां स्वाहा ॥ २५ ॥ व्रात्याभ्याम् । स्वाहा ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(व्रात्याभ्याम्) मनुष्यों के हितकारी दोनों [बल और पराक्रम] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ २५ ॥

प्राजापत्याभ्यां स्वाहा॥२६। प्राजा-पत्याभ्याम् । स्वाहा ॥२६॥

भाषार्थ—(प्राजापत्याभ्याम्) प्रजापति [परमात्मा] को पूजनीय मानने वाले दोनों [कार्य और कारण] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ २६ ॥

२२—(एकानृचेभ्यः) म० १ । नास्ति ऋक् स्तुत्या विद्या यस्याः सकाशादिति अनृचः । एकस्य परमेश्वरस्य अतिशयेन स्तुत्यविद्यायुक्तेभ्यो वेदेभ्यः ॥

२३—(रोहितेभ्यः) रुहेरश्च लो वा । उ० ३ । ९४ । रुह प्रादुर्भावे—इतन् । प्रादुर्भावशीलेभ्यो धार्मिकगुणयुक्तेभ्यो वेदेभ्यः ॥

२४—(सूर्याभ्याम्) प्रेरकाभ्यां परमात्मजीवात्मभ्याम् ॥

२५—(व्रात्याभ्याम्) अ० १५ । १ । १ । व्रात—यत् । व्राताः, मनुष्य-नाम—निघ० २ । ३ । मनुष्येभ्यो हिताभ्यां बलपराक्रमाभ्याम् ॥

२६—(प्राजापत्याभ्याम्) प्रजापतिः परमात्मा देवता पूजनीयो ययोस्ताभ्यां कार्यकारणाभ्याम् ॥

विषासह्यै स्वाहा ॥ २७ ॥ वि-ससह्यै । स्वाहा ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(विषासह्यै) सदा विजयिनी [वेदविद्या] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ २७ ॥

मङ्गलिकेभ्यः स्वाहा ॥२८॥ मङ्गलिकेभ्यः । स्वाहा ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(मङ्गलिकेभ्यः) मङ्गल वाले [वेदों] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ २८ ॥

ब्रह्मणे स्वाहा ॥ २९ ॥ ब्रह्मणे । स्वाहा ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणे) वेदज्ञान के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ २९ ॥

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान ।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ॥ ३० ॥

ब्रह्म-ज्येष्ठा । सम्-भृता । वीर्याणि । ब्रह्म । अग्रे । ज्येष्ठम् । दिवम् । आ । ततान ॥ भूतानाम् । ब्रह्मा । प्रथमः । उत । जज्ञे । तेन । अर्हति । ब्रह्मणा । स्पर्धितुम् । कः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—(संभृता) यथावत् भरे हुये (वीर्याणि) वीर कर्म (ब्रह्म-ज्येष्ठा) ब्रह्म [परमात्मा] को ज्येष्ठ [महाप्रधान रखने वाले] हैं, (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ [महाप्रधान] (ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] ने (अग्रे) पहिले (दिवम्) ज्ञान को (आ) सब ओर (ततान) फैलाया है। (उत) और (ब्रह्मा) वह ब्रह्मा [सब से बड़ा सर्वजनक परमात्मा] (भूतानाम्) प्राणियों में (प्रथमः)

२७—(विषासह्यै) सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ। वा० पा० ३। २। १७१। षह अभिभवे—कि। अलोपयलोपौ। विविधं पुनः पुनः सोढ्री तस्यै सदाविजयिन्यै वेदविद्यायै ॥

२८—(मङ्गलिकेभ्यः) अत इनिठनौ। पा० ५। २। ११५। मङ्गल—ठन्। मङ्गलयुक्तेभ्यो वेदेभ्यः ॥

२९—(ब्रह्मणे) वेदज्ञानाय ॥

३०—अयं मन्त्रो व्याख्यातः। कां० १९। २२। २१ ॥

पहिला (जज्ञे) प्रकट हुआ है, (तेन) इस लिये (ब्रह्मणा) ब्रह्मा [महान् परमात्मा] के साथ (कः) कौन (स्पर्धितुम्) झगड़ने को (अर्हति) समर्थ है ? ॥ ३० ॥

भावार्थ—संसार में सब प्रकार के पराक्रम वा बल सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के सामर्थ्य से हैं, उस महावृद्ध सर्वजनक से तुल्य वा अधिक कोई भी नहीं है। सब मनुष्य उसकी उपासना करके सुख प्राप्त करें ॥ ३० ॥

मन्त्र २९, ३० आ चुके हैं–अ० १९ । २२ । २०, २१ ॥

सूक्तम् २४ ॥

१–८ ॥ ब्रह्मणस्पतिर्देवता ॥ १–३ अनुष्टुप्; ४—६ त्रिष्टुप्; ७ गायत्री; ८ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

येनं देवं संवितारं परि देवा अधारयन् ।
तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन ॥ १ ॥

येनं । देवम् । सवितारम् । परि । देवाः । अधारयन् ॥
तेनं । इमम् । ब्रह्मणः । पते । परि । राष्ट्राय । धत्तन ॥ १ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [नियम] से (देवम्) विजय चाहने वाले (सवितारम्) प्रेरक [पुरुष] को (देवाः) विद्वानों ने (परि) सब ओर से (अधारयन्) धारण किया है [स्वीकार किया है]। (तेन) उस [नियम] से (इमम्) इस [पराक्रमी] को (राष्ट्राय) राज्य के लिये, (ब्रह्मणः पते) हे वेद के रक्षक ! [और तुम सब] (परि) सब ओर से (धत्तन) धारण करो ॥ १ ॥

१—(येन) नियमेन (देवम्) विजिगीषुम् (सवितारम्) प्रेरकम् (परि) सर्वतः (देवाः) विद्वांसः (अधारयन्) धारितवन्तः। स्वीकृतवन्तः (तेन) नियमेन (इमम्) पराक्रमिणम् (ब्रह्मणस्पते) हे वेदस्य रक्षक यूयं च सर्वे (परि) (राष्ट्राय) राज्याय (धत्तन) तस्य तनप्। धारयत। स्वीकुरुत ॥

भावार्थ—जैसे प्रजागण सदा से सदाचारी पराक्रमी पुरुष को राजा बनाते आये हैं, वैसे ही विद्वान् प्रजा के प्रतिनिधि पुरुष प्रजा की सम्मति से राजा बनावें ॥ १ ॥

परीममिन्द्रमायुषे मुहे क्षुत्राय धत्तन ।
यथैनं जरसे नयां ज्योक् क्षुत्रेऽधि जागरत् ॥ २ ॥

परि । इमम् । इन्द्रम् । आयुषे । मुहे । क्षुत्राय । धत्तन ॥
यथा । एनम् । जरसे । नयाम् । ज्योक् । क्षुत्रे । अधि । जागरत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (इमम्) इस (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् पुरुष] को (मद्दे) बड़े (आयुषे) जीवन के लिये और (क्षत्राय) राज्य के लिये (परि) सब प्रकार (धत्तन) धारण करो । (यथा) जिससे (एनम्) इस [पुरुष] को (जरसे) स्तुति के लिये (नयाम्) मैं ले चलूं, और वह (ज्योक्) बहुत काल तक (क्षत्रे) राज्य के भीतर (अधि) अधिकार पूर्वक (जागरत्) जागता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रजापालक, महाप्रतापी पुरुष को प्रजागण राजा स्वीकार करें, वह अपनी योग्यता से कीर्तिमान् होकर प्रजा को सावधानी से सदा पालता रहे ॥ २ ॥

परीमं सोममायुषे मुहे श्रोत्राय धत्तन ।
यथैनं जरसे नयां ज्योक् श्रोत्रेऽधि जागरत् ॥ ३ ॥

परि । इमम् । सोमम् । आयुषे । मुहे । श्रोत्राय । धत्तन ॥

२—(परि) सर्वतः (इमम्) (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (आयुषे) जीवनाय (मद्दे) महते (क्षत्राय) राज्याय (धत्तन) धारयत (यथा) येन प्रकारेण (एनम्) (जरसे) जॄ स्तुतौ—असुन् । जरतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । स्तुत्यै (नयाम्) लेट् । प्रापयेयम् (ज्योक्) चिरकालम् (क्षत्रे) राज्ये (अधि) अधिकृत्य (जागरत्) लेट् । जागृयात् । सावधानो भवेत् ॥

यथा । एनम् । जरसे । नयाम् । ज्योक् । श्रोत्रे । अधि । जागरत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजागणो !] (इमम्) इस (सोमम्) चन्द्रमा [समान शान्तिकारक पुरुष] को (महे) बड़े (आयुषे) जीवन के लिये और (श्रोत्राय) सुनवायी के लिये (परि) सब प्रकार (धत्तन) धारण करो। (यथा) जिस से (एनम्) इस [पुरुष] को (जरसे) स्तुति के लिये (नयाम्) मैं ले चलूं, और वह (ज्योक्) बहुत काल तक (श्रोत्रे) सुनवायी में (अधि) अधिकार पूर्वक (जागरत्) जागता रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजागणों को उचित है कि जिस पुरुष को राजा बनावें, उस से सदा प्रीति रक्खें जिस से वह स्तुति प्राप्त करके प्रजा के दुःखों को सदा सुने और दूर करे ॥ ३ ॥

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥४॥

परि । धत्त । धत्त । नः । वर्चसा । इमम् । जरा-मृत्युम् । कृणुत । दीर्घम् । आयुः ॥ बृहस्पतिः । प्र । अयच्छत् । वासः । एतत् । सोमाय । राज्ञे । परि-धातवै । ऊं इति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (नः) हमारे लिये (इमम्) इस [पराक्रमी] को (परि धत्त) [वस्त्र] पहिराओ और (वर्चसा) तेज के साथ (धत्त) पुष्ट करो और (जरामृत्युम्) बुढ़ापे [अर्थात् निर्बलता] को मृत्यु समान त्याज्य मानने वाला [अथवा स्तुति के साथ मृत्यु वाला] (दीर्घम्) बड़ी (आयुः) आयु (कृणुत) करो । (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े बड़े विद्वानो

३—(सोमम्) चन्द्रसमानशान्तिप्रदं पुरुषम् (श्रोत्राय) श्रवणकरणाय (श्रोत्रे) श्रवणकरणे । अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

४—(जरामृत्युम्) जरा निर्बलता मृत्युर्दुःखमिव त्याज्यं यस्य तम् । यद्वा जरया स्तुत्या मरणयुक्तम् (सोमाय) सोमः सूर्यः प्रसवनात्—निरु० १४ ।

के रक्षक पुरोहित] ने (एतत्) यह (वासः) वस्त्र (सोमाय) सूर्यसमान (राज्ञे) राजा को (उ) ही (परिधातवे) धारण करने के लिये (प्र अयच्छत्) दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सुनीतिज्ञ पुरुष को मनुष्य वस्त्र आदि पहिना कर राजसिंहासन पर सुशोभित करें और सब विद्वान् लोग प्रतिष्ठा के साथ उसे राज्य करने के लिये उत्साह देवें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अथर्व० २ । १३ । २ ॥

जुरां सु गंच्छु परि धत्स्व वासो भवां गृष्टीनामंभिशस्तिपा उं । शुतं च जीवं शुरदंः पुरूची रायश्च पोषंमुपुसंव्ययस्व ॥५॥

जुराम् । सु । गुच्छु । परि । धुत्स्व । वासंः । भवं । गृष्टीनाम् । अुभिशुस्ति-पाः । ऊं इति । शुतम् । चु । जीवं । शुरदंः । पुरूचीः । रायः । चु । पोषंम् । उपु-संव्ययस्व ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (जराम्) स्तुति को (सु) अच्छे प्रकार (गच्छ) प्राप्त हो, (वासः) वस्त्र को (परि धत्स्व) पहिन, (उ) और (गृष्टीनाम्) ग्रहण करने योग्य गौओं की (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षा करने वाला (भव) हो । (च) और (पुरूचीः) बहुत पदार्थों से व्याप्त (शतम्) सौ (शरदः) शरद ऋतुओं तक (जीव) तू जीवित रह, (च) और

---

१२ । सूर्यवत्तेजस्विने । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० २ । १३ । २ ॥

५—अयं मन्त्रो भेदेन गतः—अ० २ । १३ । ३ (जराम्) स्तुतिम् । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ (सु) पूजायाम् (गच्छ) प्राप्नुहि (परि धत्स्व) परिधारय (वासः) वस्त्रम् (भव) (गृष्टीनाम्) ग्रह उपादाने क्तिच्, पृषोदरादिरूपम् । ग्राह्यानां गवाम् (अभिशस्तिपाः) हिंसाभयाद् रक्षकः (उ) च (शतम्) बहोः (जीव) प्राणान् धारय (शरदः) ऋतुविशेषान् । संवत्सरान् (पुरूचीः) पुरु+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । बहुविधान् पदार्थान् व्याप्नुवती

(रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि [वृद्धि] को (उपसंव्ययस्व), अपने सब ओर धारण कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग राजा को अलंकृत करते हुये आशीर्वाद दें कि वह गौ आदि उपकारी जीवों की सदा रक्षा करे और धन धान्य बढ़ाकर पूर्ण आयु भोगे ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अथर्व० २ । १३ । ३ ॥

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्वापीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूचीर्वसूनि चारुर्वि भजासि जीवन् ॥६॥

परि । इदम् । वासः । अधिथाः । स्वस्तये । अभूः । वापीनाम् । अभिशस्ति-पाः । ऊं इति ॥ शतम् । च । जीव । शरदः । पुरूचीः । वसूनि । चारुः । वि । भजासि । जीवन् ६॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (इदम्) इस (वासः) वस्त्र को (स्वस्तये) आनन्द बढ़ाने के लिये (परि अधिथाः) तू ने धारण किया है, (उ) और (वापीनाम्) बोने की भूमियों [खेती आदि अथवा बावड़ी, कूप आदि] का (अभिशस्तिपाः) खण्डन से बचाने वाला (अभूः) तू हुआ है । (च) और (पुरूचीः) बहुत पदार्थों से व्याप्त (शतम्) सौ (शरदः) शरद ऋतुओं तक (जीव) तू जीवित रह और (चारुः) शोभायमान होकर (जीवन्) जीता हुआ तू (वसूनि) धनों को (वि भजासि) बांटता रह ॥ ६॥

(रायः) धनस्य (पोषम्) पुष्टिम् । वृद्धिम् (उपसंव्ययस्व) व्येञ् आच्छादने । परिधत्स्व ॥

६—(इदम्) उपस्थितम् (वासः) वस्त्रम् (परि अधिथाः) आच्छादितवानसि (स्वस्तये) आनन्दवर्धनाय (अभूः) (वापीनाम्) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । डुवप बीजतन्तुसन्ताने—इञ् प्रत्ययः । वपन्ति बीजं विस्तारयन्ति यत्र तासां भूमीनाम् । कूपादिजलाशयभेदानाम् (अभिशस्तिपाः) खण्डनाद् रक्षकः (वसूनि) धनानि (चारुः) शोभनः (वि भजासि) भजतेर्लेटि आडागमः । विभक्तानि कुरु (जीवन्) प्राणान् धारयन् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ५ ॥

भावार्थ—राजा शासनपद ग्रहण करके सब की भलाई का प्रयत्न करता हुआ प्रजा को धनी बना कर कीर्तिमान् होवे ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० २ । १३ । ३ ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥७॥

योगे-योगे । तवः-तरम् । वाजे-वाजे । हवामहे ॥ सखायः । इन्द्रम् । ऊतये ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(योगेयोगे) अवसर अवसर पर और (वाजेवाजे) सङ्ग्राम सङ्ग्राम के बीच (तवस्तरम्) अधिक बलवान् (इन्द्रम्) इन्द्र [परमैश्वर्यवान् पुरुष] को (ऊतये) रक्षा के लिये (सखायः) मित्र लोग हम (हवामहे) पुकारते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण विद्वान् पुरुषार्थी राजा के साथ मित्रता करके शत्रु से अपनी रक्षा का उपाय करें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । ३० । ७, यजु० ११ । १४ तथा साम० पू० २ । ७ । ९ और उ० । १ । २ । ११ और आगे है-अथर्व । २० । २६ । १ ॥

हिरण्यवर्णो अजरः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व । तद्ग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ॥ ८ ॥

हिरण्य-वर्णः । अजरः । सु-वीरः । जरा-मृत्युः । प्र-जया । सम् । विशस्व ॥ तत् । अग्निः । आह । तत् । ऊं इति । सोमः । आह । बृहस्पतिः । सविता । तत् । इन्द्रः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुषार्थी !] (हिरण्यवर्णः) कमनीय वा तेजस्वी रूप वाला, (अजरः) फुरतीला [वा अनिर्बल] (सुवीरः) बड़े वीरों

७—(योगेयोगे) प्रत्यवसरम् (तवस्तरम्) तव इति बलनाम-निघ० ३ । ९ । अस्मायामेधास्रजो विनिः । पा० ५ । २ । १२१ । तवस्-विनि, तत-स्तरप्, विनेश्छान्दसो लोपः । तवस्वितरम् । बलवत्तरम् (वाजेवाजे) प्रतिसंग्रामम् (हवामहे) आह्वयामः (सखायः) वयं सुहृदः सन्तः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (ऊतये) अवनाय । रक्षणाय ॥

८—(हिरण्यवर्णः) हिरण्यः कमनीयस्तेजोमयो वा वर्णो रूपं यस्य सः

वाला, (जरामृत्युः) बुढ़ापे [निर्बलता] को मृत्यु समान त्याज्य मानने वाला [महाबलवान्] तू (प्रजया) प्रजा के साथ (सम्) मिलकर (विशस्व) प्रवेश कर। (तत्) इस बात को (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी पुरुष] (आह) कहता है, (तत् उ) उस को ही (सोमः) सोम [चन्द्रमा समान पोषक], (तत्) उसी को (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का स्वामी], (सविता) सब का प्रेरक, (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी पुरुष] (आह) कहता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—सब प्रतापी विद्वानों को यह सिद्धान्त मानना चाहिये कि पुरुषार्थी शूर पुरुष से मिलकर प्रजा की उन्नति करें ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा आचुका है-अ० । ८ । ५ । ५ और तीसरा पाद आया है-अ० १६ । ४ । २ ॥

सूक्तम् २५ ॥

मन्त्रः १ ॥ शूरो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शूरलक्षणोपदेशः-शूरों के लक्षण का उपदेश ॥

अश्रान्तस्य त्वा मनसा युनज्मि प्रथमस्य च । उत्कूलमुद्वहो भवोदुह्य प्रति धावतात् ॥ १ ॥

अश्रान्तस्य । त्वा । मनसा । युनज्मि । प्रथमस्य । च ॥ उत्-कूलम् । उत्-वहः । भव । उत्-उह्य । प्रति । धावतात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे शूर !] (अश्रान्तस्य) अनथके (च) और (प्रथमस्य) पहिले पद वाले पुरुष के (मनसा) मन से (त्वा) तुझ को (युनज्मि) मैं संयुक्त

(अजरः) अजेर्व्यघञपोः । उ० ३ । १३१ । अज गतिक्षेपणयोः-अरप्रत्ययः । गतिशीलः । जरारहितः (सुवीरः) प्रशस्तवीरोपेतः (जरामृत्युः) जरा निर्बलता मृत्युरिवदुःखप्रदा यस्य सः । महाबलवान् (प्रजया) (सम्) सम्भूय (विशस्व) प्रविश (तत्) वचनम् (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी पुरुषः (आह) ब्रवीति (तदु) तदेव (सोमः) चन्द्रवत्पोषकः (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां स्वामी (सविता) सर्वप्रेरकः (तत्) (इन्द्रः) महाप्रतापी पुरुषः ॥

१—(अश्रान्तस्य) श्रमरहितस्य (त्वा) त्वां पुरुषार्थिनम् (मनसा) अन्तःकरणेन । मननेन (युनज्मि) संयोजयामि (प्रथमस्य) प्रधानपदस्थस्य

करता हूं। (उत्कूलम्) ऊंचे तट की ओर चलकर (उद्वहः) ऊंचा ले चलने वाला (भव) हो, और [मनुष्यों को] (उद्गुह्य) ऊंचे ले जाकर (प्रति) प्रतीति से (धावतात्) दौड़ ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य तू निरालसी नेता पुरुषों के समानें पुरुषार्थ कर, और जैसे चतुर नाविक सावधानी से धार को काटता हुआ जल प्रवाह के ऊपर की ओर यात्रियों को ठिकाने पर उतारता है, वैसे ही पराक्रमी पुरुष सब को कठिनायी से निकाल कर सुख पहुंचावे ॥ १ ॥

सूक्तम् २६ ॥

१-४ ॥ हिरण्यं देवता ॥ १ आर्षी त्रिष्टुप्; २ निचृदार्षी त्रिष्टुप्; ३ अनुष्टुप्; ४ पथ्या पङ्क्तिः ॥

सुवर्णादिधनप्राप्त्युपदेशः—सुवर्ण आदि धन की प्राप्ति का उपदेश ॥

अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यममृतं दध्रे अधि मर्त्येषु । य एनद् वेद स इदेनमर्हति जरामृत्युर्भवति यो बिभर्ति ॥ १ ॥

अग्नेः । प्र-जातम् । परि । यत् । हिरण्यम् । अमृतम् । दध्रे । अधि । मर्त्येषु ॥ यः । एनत् । वेद । सः । इत् । एनम् । अर्हति । जरा-मृत्युः । भवति । यः । बिभर्ति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (हिरण्यम्) कमनीय सुवर्ण (अग्नेः परि) अग्नि से [पार्थिव अग्नि यद्वा पराक्रम रूप तेज से] (प्रजातम्) उत्पन्न हुआ है, (अमृतम्) [उस] मृत्यु से बचाने वाले [जीवन के साधन] को (मनुष्येषु) मनुष्यों में (अधि) अधिकार पूर्वक (दध्रे) मैं ने धरा है। (यः) जो पुरुष (एनत्) इस [बात] को (वेद) जानता है, (सः) वह (इत्) ही (एनम्)

(च) (उत्कूलम्) यथा भवति तथा। ऊर्ध्वतटं प्रति गत्वा (उद्वहः) वहूवहति ऊर्ध्वं नयतीति, वह प्रापणे—अच्। उन्नेता। प्रधानः (भव) (उद्गुह्य) उन्नीय मनुष्यान् (प्रति) प्रतीत्या (धावतात्) धाव। शीघ्रं गच्छ ॥

१—(अग्नेः) पार्थिवाग्निसकाशात् पराक्रमरूपप्रकाशाद् वा (प्रजातम्) उत्पन्नं वर्तते (परि) (यत्) हिरण्यम्) हर्यतेः कन्यन् हिर् च। उ० ५। ४४। हर्य गतिकान्त्योः कन्यन्, हिरादेशः। कमनीयं सुवर्णादिधनम् (अमृतम्) न म्रियते यस्मात् तत्। जीवनसाधनं हिरण्यम् (दध्रे) धृञ् धारणे—लिट्। उत्तम—

इस [पदार्थ] के (अर्हति) योग्य होता है, और वह (जरामृत्युः) बुढ़ापे [निर्बलता] को मृत्यु समान [दुःखदायी] मानने वाला महाप्रबल (भवति) होता है, (यः) जो [सुवर्ण को] (बिभर्त्ति) धारण करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—पृथिवी के साथ सूर्य की किरणों का संयोग होने से सोना उत्पन्न होता है और उसको ईश्वर नियम से मनुष्यों में पराक्रमी ही पाते हैं। मनुष्य इस सिद्धान्त को निश्चय जान कर विद्या द्वारा योग्य होकर सुवर्ण आदि धन प्राप्त करें ॥ १ ॥

यद्धिरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनवः पूर्व ईषिरे । तत् त्वा चन्द्रं वर्चसा सं सृजत्यायुष्मान् भवति यो बिभर्ति ॥ २ ॥

यत् । हिरण्यम् । सूर्येण । सु-वर्णम् । प्रजा-वन्तः । मनवः । पूर्वे । ईषिरे ॥ तत् । त्वा । चन्द्रम् । वर्चसा । सम् । सृजति । आयुष्मान् । भवति । यः । बिभर्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सूर्येण) सूर्य द्वारा (सुवर्णम्) सुन्दर रूप वाले (यत्) जिस (हिरण्यम्) कामना योग्य सोने को (प्रजावन्तः) श्रेष्ठ प्रजाओं वाले (पूर्वे) पहिले (मनवः) विचारशील मनुष्यों ने (ईषिरे) पाया था। (तत्) वह (चन्द्रम्) आनन्द दायक सोना (वर्चसा) तेज के साथ (त्वा) तुझ से (संसृजति) संयोग करता है, वह (आयुष्मान्) उत्तम जीवन वाला (भवति) होता है, (यः) जो पुरुष [सोना] (बिभर्ति) रखता है ॥ २ ॥

पुरुषः। अहं धारितवानस्मि (मर्त्येषु) मनुष्येषु (यः) (एनत्) इदं वचनम् (वेद) जानाति (सः) (इति) एव (एनम्) इमं पदार्थम् (अर्हति) धारयितुं योग्यो भवति (जरामृत्युः) जरा निर्बलता मृत्युरिव दुःखप्रदा यस्य सः। महाप्रबलः (भवति) (यः) (बिभर्ति) दधाति हिरण्यम् ॥

२—(यत्) (हिरण्यम्) म ०१। कमनीयं सुवर्णम् (सूर्येण) सूर्यकिरणद्वारा (सुवर्णम्) शोभनरूपम् (प्रजावन्तः) श्रेष्ठपुत्रादिप्रजायुक्ताः (मनवः) मननशीला मनुष्याः (पूर्वे) पूर्वजाः (ईषिरे) ईष गतौ—लिट्। प्राप्तवन्तः। (तत्) (त्वा) त्वाम् (चन्द्रम्) आह्लादकं सुवर्णम् (वर्चसा) तेजसा (सं सृजति) संयोजयति (आयुष्मान्) प्रशस्तजीवनयुक्तः (भवति) (यः) पुरुषः (बिभर्ति) धारयति हिरण्यम् ॥

भावार्थ—यह जो सोना सूर्य की किरणों द्वारा पृथिवी में उत्पन्न होता है, उसको विद्वानों ने अपने श्रेष्ठ पुत्रादि प्रजाओं के साथ प्रयत्न करके पाया है, वैसे ही सब मनुष्य पुरुषार्थ करके सुवर्ण आदि धन की प्राप्ति से सुखी होवें ॥ २ ॥

आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च । यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु ॥ ३ ॥

आयुषे । त्वा । वर्चसे । त्वा । ओजसे । च । बलाय । च ॥ यथा । हिरण्य-तेजसा । वि-भासासि । जनान् । अनु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझ से (आयुषे) जीवन के लिये और (वर्चसे) प्रताप के लिये (च) और (त्वा) तुझ से (बलाय) बल के लिये (च) और (ओजसे) पराक्रम के लिये [वह सोना संयोग करता है—म० २] । (यथा) जिस से कि (हिरण्यतेजसा) सुवर्ण के तेज से (जनान् अनु) मनुष्यों में (विभासासि) तू चमकता रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि पुरुषार्थ से सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके मनुष्यों में प्रतापी और यशस्वी होवें ॥ ३ ॥

यद् वेद राजा वरुणो वेद देवो बृहस्पतिः । इन्द्रो यद् वृत्रहा वेद तत् त आयुष्यं भुवत् तत् ते वर्चस्यं भुवत् ॥ ४ ॥

यत् । वेद । राजा । वरुणः । वेद । देवः । बृहस्पतिः ॥ इन्द्रः यत् । वृत्र-हा । वेद । तत् । ते । आयुष्यम् । भुवत् । तत् । ते । वर्चस्यम् । भुवत् ॥ ४ ॥

३—(आयुषे) जीवनाय (त्वा) त्वाम् । तच्चन्द्र संसृजतीत्यनुवर्तते—म० २ (वर्चसे) प्रतापाय (त्वा) (ओजसे) पराक्रमाय (बलाय) (यथा) येन प्रकारेण (हिरण्यतेजसा) सुवर्णस्य प्रतापेन (विभासासि) भास दीप्तौ—लेट् आडागमः । विशेषेण भासेथाः । दीप्यस्व (जनान्) मनुष्यान् (अनु) प्रति ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस [सुवर्ण] को (राजा) ऐश्वर्यवान् (वरुणः) श्रेष्ठ पुरुष (वेद) जानता है, और [जिसको] (देवः) विद्वान् (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ज्ञानों का रक्षक पुरुष] (वेद) जानता है। (यत्) जिस को (वृत्रहा) शत्रुनाशक (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी पुरुष] (वेद) जानता है, (तत्) वह (ते) तेरे लिये (आयुष्यम्) आयु बढ़ाने वाला (भुवत्) होवे, (तत्) वह (ते) तेरे लिये (वर्चस्यम्) तेज बढ़ाने वाला (भुवत्) होवे ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् पराक्रमियों के समान सुवर्ण के प्रभाव को जानकर उसे यथावत् प्राप्त करे और धर्म के साथ उसका प्रयोग करके यशस्वी और तेजस्वी होवे ॥ ४ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—१५ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २, ५–८ अनुष्टुप्; ३, १० आर्ची त्रिष्टुप्; ४ आर्ची पङ्क्तिः; ९ त्रिष्टुप्; ११ निचृत् साम्नी त्रिष्टुप्; १२ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्; १३ साम्नी त्रिष्टुप्; १४ निचृदनुष्टुप्; १५ अतिशक्वरी ॥

आशीर्वचनोपदेशः—आशीर्वाद देने का उपदेश ॥

गोभिष्ट्वा पात्वृषभो वृषा त्वा पातु वाजिभिः। वायुष्ट्वा ब्रह्मणा पात्विन्द्रस्त्वा पात्विन्द्रियैः ॥ १ ॥

गोभिः। त्वा। पातु। ऋषभः। वृषा। त्वा। पातु। वाजिभिः॥ वायुः। त्वा। ब्रह्मणा। पातु। इन्द्रः। त्वा। पातु। इन्द्रियैः ॥ १ ॥

४—(यत्) हिरण्यम् (वेद) जानाति (राजा) ऐश्वर्यवान् (वरुणः) श्रेष्ठपुरुषः (वेद) (देवः) विद्वान् (बृहस्पतिः) बृहतां ज्ञानानां रक्षकः (इन्द्रः) महाप्रतापी पुरुषः (यत्) (वृत्रहा) शत्रुनाशकः (वेद) (तत्) हिरण्यम् (ते) तुभ्यम् (आयुष्यम्) आयुषे चिरकालजीवनाय हितम्। आयुष्कारि (भुवत्) लेटि रूपम्। भवेत् (तत्) (ते) (वर्चस्यम्) वर्चसे हितम्। तेजस्कारि (भुवत्) ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ऋषभः) सर्वदर्शक परमेश्वर (गोभिः) गौओं के साथ (त्वा) तुझे (पातु) बचावे, (वृषा) वीर्यवान् [परमेश्वर] (वाजिभिः) फुरतीले घोड़ों के साथ (त्वा) तुझे (पातु) बचावे। (वायुः) सर्वत्रगामी [परमेश्वर] (ब्रह्मणा) बढ़ते हुये अन्न के साथ (त्वा) तुझे (पातु) बचावे, (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् [जगदीश्वर] (इन्द्रियैः) परम ऐश्वर्य के व्यवहारों के साथ (त्वा) तुझे (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के श्रेष्ठ गुणों का चिन्तन करके अनेक पुरुषार्थों के साथ रक्षा करे ॥ १ ॥

सोम॑स्त्वा पा॒त्वोष॑धीभि॒र्नक्ष॑त्रैः पातु॒ सूर्यः॑ । मा॒द्भ्यस्त्वा॑ च॒न्द्रो वृ॑त्र॒हा वातः॑ प्रा॒णेन॑ रक्षतु ॥ २ ॥

सोमः॑ । त्वा॒ । पा॒तु॒ । ओष॑धीभिः । नक्ष॑त्रैः । पा॒तु॒ । सूर्यः॑ । मा॒त्-भ्यः । त्वा॒ । च॒न्द्रः । वृ॒त्र॒-हा । वातः॑ । प्रा॒णेन॑ । र॒क्ष॒तु॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमः) सोम रस (ओषधीभिः) ओषधियों के साथ (त्वा) तुझे (पातु) बचावे, (सूर्यः) सब का चलाने वाला सूर्य (नक्षत्रैः) नक्षत्रों के साथ (पातु) बचावे। (वृत्रहा) अन्धकार नाशक (चन्द्रः) आनन्द प्रद चन्द्रमा (माद्भ्यः) महीनों के लिये और (वातः) पवन (प्राणेन) प्राण [जीवन सामर्थ्य] के साथ (त्वा) तुझे (पातु) बचावे ॥ २ ॥

१—(गोभिः) धेनुभिः (त्वा) (पातु) (ऋषभः) ऋषिवृषिभ्यां कित्। उ० ३। १२३। ऋष गतौ दर्शने च—अभच्, कित्। ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २। ११। सर्वदर्शकः परमेश्वरः (वृषा) वीर्यवान् (त्वा) (पातु) (वाजिभिः) वेगवद्भिरश्वैः (वायुः) सर्वत्रगामी परमेश्वरः (त्वा) (ब्रह्मणा) प्रवृद्धेनान्नेन—निघ० २। ७ (पातु) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् । जगदीश्वरः (पातु) (इन्द्रियैः) परमैश्वर्यव्यवहारैः ॥

२—(सोमः) सोमरसः (त्वा) (पातु) (ओषधीभिः) (नक्षत्रैः) (पातु) (सूर्यः) लोकानां प्रेरक आदित्यः (माद्भ्यः) मासानां हिताय (त्वा) (चन्द्रः) आह्लादकश्चन्द्रमाः (वृत्रहा) शत्रुनाशकः (वातः) पवनः (प्राणेन) जीवनसामर्थ्येन (रक्षतु) ॥

भावार्थ—मनुष्य ओषधि आदि संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर सुखी होवें ॥ २ ॥

तिस्रो दिव॑स्ति॒स्रः पृ॑थि॒वीस्त्रीण्य॒न्तरि॑क्षाणि च॒तुरः॑ समु॒द्रान् । त्रि॒वृतं॒ स्तोमं॑ त्रि॒वृत॒ आप॑ आहु॒स्तास्त्वा॑ रक्षन्तु त्रि॒वृता॑ त्रि॒वृद्भिः॑ ॥ ३ ॥

ति॒स्रः । दिवः॑ । ति॒स्रः । पृ॒थि॒वीः । त्रीणि॑ । अ॒न्तरि॑क्षाणि । च॒तुरः॑ । स॒मु॒द्रान् ॥ त्रि॒-वृत॑म् । स्तोम॑म् । त्रि॒-वृतः॑ । आपः॑ । आ॒हुः॒ । ताः । त्वा॒ । र॒क्ष॒न्तु॒ । त्रि॒-वृता॑ । त्रि॒वृत्-भिः॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[उत्कृष्ट, निकृष्ट, मध्यम होने से] (दिवः) प्रकाशमान पदार्थों को (तिस्रः) तीन, (पृथिवीः) पृथिवी के देशों को (तिस्रः) तीन, (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्ष लोकों को (त्रीणि) तीन, और (समुद्रान्) आत्माओं को [धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के लिये पुरुषार्थी होने से] (चतुरः) चार, (स्तोमम्) स्तुति योग्य वेद को (त्रिवृतम्) तीन [कर्म, उपासना, ज्ञान] में वर्तमान, (त्रिवृतः) तीन [कर्म उपासना, ज्ञान में वर्तमान रहने वाले (आपः) आप्त प्रजा लोग (आहुः) बताते हैं,(त्रिवृता) तीन [कर्म, उपासना, ज्ञान] में वर्तमान (ताः) वे [प्रजायें] (त्वा) तुझ को (त्रिवृद्भिः) तीन [कर्म, उपासना और ज्ञानरूप] वृत्तियों के साथ (रक्षन्तु) बचावें ॥ ३ ॥

३—(तिस्रः) उत्कृष्टनिकृष्टमध्यमभेदेन त्रिसंख्याकाः (दिवः) प्रकाशमान् पदार्थान् (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (पृथिवीः) पृथिवीदेशान् (त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्षस्थलोकान् (चतुरः) धर्मार्थकाममोक्षेभ्यः पुरुषार्थकरणात् चतुःसंख्याकान् (समुद्रान्) समुद्र आत्मा—निरु० १४। १६। जीवात्मनः (त्रिवृतम्) वृतु वर्तने—क्विप् । त्रिषु कर्मोपासनाज्ञानेषु वर्त्तमानम् (स्तोमम्) स्तुत्यं वेदम् (त्रिवृतः) त्रिषु कर्मोपासनाज्ञानेषु वर्तमानाः (आपः) आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६। २७ (आहुः) कथयन्ति (ताः) प्रजाः (त्वा) (रक्षन्तु) (त्रिवृता) सुपां सुलुक्० । पा० ७। १। ३९। प्रथमाविभक्तेराकारादेशः । त्रिवृतः । त्रिषु कर्मोपासनाज्ञानेषु वर्तमानाः (त्रिवृद्भिः) तिसृभिः कर्मोपासनाज्ञानरूपाभिर्वृत्तिभिः सह ॥

भावार्थ—जो मनुष्य संसार के पदार्थों के तत्त्वों को जानकर पुरुषार्थ करते हैं वे सदा सुरक्षित रहते हैं ॥ ३ ॥

त्रीन्नाकांस्त्रीन् समुद्रांस्त्रीन् ब्रध्नांस्त्रीन् वैष्टपान् । त्रीन् मातरिश्वनस्त्रीन्त्सूर्यान् गोप्तॄन् कल्पयामि ते ॥ ४ ॥

त्रीन् । नाकान् । त्रीन् । समुद्रान् । त्रीन् । ब्रध्नान् । त्रीन् । वैष्टपान् ॥ त्रीन् । मातरिश्वनः । त्रीन् । सूर्यान् । गोप्तॄन् । कल्पयामि । ते ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्रीन्) तीन [आत्मा, मन और शरीर सम्बन्धी] (नाकान्) सुखों को, (त्रीन्) तीन [ऊपर, नीचे और मध्य में वर्तमान] (समुद्रान्) अन्तरिक्षों को, (त्रीन्) तीन [कर्म, उपासना और ज्ञान] (ब्रध्नान्) बड़े व्यवहारों को, (त्रीन्) तीन [स्थान, नाम और जन्म वा जाति वाले] (वैष्टपान्) संसार निवासियों को, (त्रीन्) तीन [ऊपर नीचे और तिरछे चलने वाले] (मातरिश्वनः) आकाशगामी पवनों को, और (त्रीन्) तीन [वृष्टि, अन्नोत्पत्ति और पुष्टि करने वाले] (सूर्यान्) सूर्य [के तापों] को (ते) तेरे (गोप्तॄन्) रक्षक (कल्पयामि) मैं बनाता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पदार्थों के तत्त्वों को यथावत् समझकर उपयोग में लाते हैं, वे उन्नति करते हैं ॥ ४ ॥

मन्त्र ३, ४ का मिलान करो—अ० ५ । २८ । १४, १५ ॥

४—(त्रीन्) आत्ममनःशरीरसम्बन्धिनः (नाकान्) आनन्दान् (त्रीन्) ऊर्ध्वाधोमध्यवर्तमानान् (समुद्रान्) अन्तरिक्षदेशान् (त्रीन्) कर्मोपासनाज्ञानाख्यान् (ब्रध्नान्) बन्धेर्ब्रधिबुधी च । उ० ३ । ५ । बन्ध बन्धने-नक्, ब्रधादेशः । ब्रध्नो महन्नाम—निघ० ३ । ३ । महतो व्यवहारान् (त्रीन्) स्थाननामजन्माख्याकान् (वैष्टपान्) विटपविष्टपविशिपोलपाः । उ० ३ । १४५ । विश प्रवेशने—कपप्रत्ययः, तुडागमः । विष्टप—अण् । विष्टपेषु भुवनेषु निवासकान् (त्रीन्) ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गतीन् (मातरिश्वनः) मातरि आकाशे श्वयन्ति गच्छन्ति ये तान् पवनान् (त्रीन्) वृष्ट्यन्नोत्पत्तिपुष्टिकारकान् (सूर्यान्) सूर्यप्रदेशान् (गोप्तॄन्) रक्षकान् (कल्पयामि) रचयामि (ते) तव ॥

घृतेन॑ त्वा॒ समु॑क्षाम्यग्न॒ आज्ये॑न व॒र्धय॑न्। अ॒ग्नेश्च॒न्द्रस्य॒ सूर्य॑स्य॒ मा प्रा॒णं मा॒यिनो॑ दभन् ॥ ५ ॥

घृ॒तेन॑। त्वा॒। सम्। उ॒क्षा॒मि॒। अग्ने॑। आज्ये॑न। व॒र्धय॑न् ॥ अ॒ग्नेः। च॒न्द्रस्य॑। सूर्य॑स्य। मा। प्रा॒णम्। मा॒यिनः॑। द॒भ॒न्॥५

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [के समान तेजस्वी विद्वान्!] [जैसे अग्नि को] (आज्येन) घृत से (वर्धयन्) बढ़ाता हुआ मैं (त्वा) तुझे (घृतेन) ज्ञान प्रकाश से (सम्) यथावत् (उक्षामि) बढ़ाता हूं। (अग्नेः) अग्नि के, (चन्द्रस्य) चन्द्रमा के और (सूर्यस्य) सूर्य के (प्राणम्) प्राण [जीवन सामर्थ्य] को (मायिनः) छली लोग (मा दभन्) नहीं नाश करें ॥५॥

भावार्थ—सब मनुष्य विद्या से पूर्ण होकर और अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य आदि की जीवन शक्तियों से यथावत् उपकार लेकर शत्रुओं को वश में करें ॥ ५॥

मा वः॑ प्रा॒णं मा वो॑ऽपा॒नं मा हरो॑ मा॒यिनो॑ दभन् । भ्राज॑न्तो वि॒श्ववे॑दसो दे॒वा दैव्ये॑न धावत ॥ ६ ॥

मा। वः॒। प्रा॒णम्। मा। वः॒। अ॒पा॒नम्। मा। हरः॑। मा॒यिनः॑। द॒भ॒न् ॥ भ्राज॑न्तः। वि॒श्व-वे॑दसः। दे॒वाः। दैव्ये॑न। धा॒व॒त ॥६॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो!] (मा) न तो (वः) तुम्हारे (प्राणम्) श्वास को, (मा) न (वः) तुम्हारे (अपानम्) प्रश्वास को, और (मा)

५—(घृतेन) ज्ञानप्रकाशेन (त्वा) त्वाम् (सम्) सम्यक् (उक्षामि) उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० १२। ९। वर्धयामि (अग्ने) हे अग्निवत्तेजस्विन् विद्वन् (आज्येन) सर्पिषा। होमद्रव्येण (वर्धयन्) प्रवृद्धं कुर्वन्—अग्निं यथा (अग्नेः) पावकस्य (चन्द्रस्य) चन्द्रलोकस्य (सूर्यस्य) भास्करस्य (प्राणम्) जीवनसामर्थ्यम् (मायिनः) छलिनः (मा दभन्) दम्भु दम्भे—लुङ्। मा हिंसन्तु, नाशयन्तु ॥

६—(मा) निषेधे (वः) युष्माकम् (प्राणम्) श्वासम् (मा) (वः)

न (हरः) तेज को (मायिनः) छली लोग (दभन्) नष्ट करें। (भ्राजन्तः) चमकते हुये, (विश्ववेदसः) सब प्रकार धन वाले, (देवाः) विद्वानो तुम (दैव्येन) विद्वानों के योग्य कर्म के साथ (धावत) धावा करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को विद्वानों के समान दूरदर्शी होकर शत्रु लोग रोकने चाहियें कि जिससे वे किसी प्रकार हानि न पहुंचावें ॥ ६ ॥

प्राणेनाग्निं सं सृजति वातः प्राणेन संहितः ।
प्राणेन विश्वतोमुखं सूर्यं देवा अजनयन् ॥ ७ ॥

प्राणेन । अग्निम् । सम् । सृजति । वातः । प्राणेन । सम्-हितः ॥
प्राणेन । विश्वतः-मुखम् । सूर्यम् । देवाः । अजनयन् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—वह [परमात्मा] (प्राणेन) प्राण [जीवन सामर्थ्य] के साथ (अग्निम्) अग्नि को (सं सृजति) संयुक्त करता है, (वातः) वायु (प्राणेन) प्राण [जीवन सामर्थ्य] के साथ (संहितः) मिला हुआ है। (प्राणेन) प्राण [जीवन सामर्थ्य] के साथ (विश्वतोमुखम्) सब ओर मुख वाले (सूर्यम्) सूर्य को (देवाः) दिव्य नियमों ने (अजनयन्) उत्पन्न किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा ने अग्नि आदि में प्राण वा जीवन सामर्थ्य देकर उपयोगी बनाया है, वैसे ही मनुष्य अपनी आत्मिक और शारीरिक शक्तियों द्वारा जीवन को उपयोगी बनावें ॥ ७ ॥

(अपानम्) प्रश्वासम् (हरः) तेजः (मायिनः) छलिनः (मा दभन्) मा नाशयन्तु (भ्राजन्तः) दीप्यमानाः (विश्ववेदसः) सर्वधनाः (देवाः) विद्वांसः (दैव्येन) देव—यञ् । विद्वद्योग्यकर्मणा (धावत) शीघ्रं गच्छत ॥

७—(प्राणेन) जीवनसामर्थ्येन (अग्निम्) पावकम् (सं सृजति) संयोजयति स परमेश्वरः (वातः) वायुः (प्राणेन) जीवनसामर्थ्येन (संहितः) संधीकृतः (प्राणेन) (विश्वतोमुखम्) सर्वतो मुखमिवद्रष्टारम् (सूर्यम्) (देवाः) दिव्यनियमाः (अजनयन्) उदपादयन् ॥

आयुषायुःकृतां जीवायुष्मान् जीव मा मृथाः । प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम् ॥ ८ ॥

आयुषा । आयुः-कृताम् । जीव । आयुष्मान् । जीव । मा । मृथाः ॥ प्राणेन । आत्मन्-वताम् । जीव । मा । मृत्योः । उत् । अगाः । वशम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(आयुःकृताम्) जीवन बनाने वाले [विद्वानों] के (आयुषा) जीवन के साथ (जीव) तू जीवित रह, (आयुष्मान्) उत्तम जीवन वाला होकर (जीव) तू जीवित रह, (मा मृथाः) तू मत मरे। (आत्मन्वताम्) आत्मा वालों के (प्राणेन) प्राण [जीवन सामर्थ्य] से (जीव) तू जीवित रह (मृत्योः) मृत्यु के (वशम्) वश में (मा उत् अगाः) मत जा ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि बड़े जितेन्द्रिय पुरुषार्थी महात्माओं के समान अपने जीवन को पुरुषार्थी बनाकर यशस्वी होवें ॥ ८ ॥

देवानां निहितं निधिं यमिन्द्रोऽन्वविन्दत् पथिभिर्देवयानैः । आपो हिरण्यं जुगुपुस्त्रिवृद्भिस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ॥ ९ ॥

देवानाम् । नि-हितम् । नि-धिम् । यम् । इन्द्रः । अनु-अविन्दत् । पथि-भिः । देव-यानैः ॥ आपः । हिरण्यम् । जुगुपुः । त्रिवृत्-भिः ॥ ताः । त्वा । रक्षन्तु । त्रि-वृता । त्रिवृत्-भिः ॥ ९ ॥

८—(आयुषा) जीवनेन (आयुःकृताम्) ब्रह्मचर्यादितपसा आयुषोऽलङ्कुर्वताम् (जीव) प्राणान् धारय (आयुष्मान्) उत्तमजीवनयुक्तः सन् (जीव) (मा मृथाः) प्राणान् मा त्यज (प्राणेन) जीवनसामर्थ्येन (आत्मन्वताम्) अ० ४ । १० । ७ । आत्मन्—मतुप्, नुडागमः । सात्मकानां दृढजीवनवताम् (मृत्योः) मरणस्य (मा उत् अगाः) इण् गतौ—लुङ् । मा प्राप्नुहि (वशम्) अधीनत्वम् ॥

भाषार्थ—(देवानाम्) विद्वानों के (निहितम्) धरे हुये (यम्) जिस (निधिम्) निधि [रत्नों के कोश] को (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवान् पुरुष] ने (देवयानैः) विद्वानों के चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (अन्वविन्दत) खोज कर पाया है। (आपः) आप्त प्रजाओं ने (हिरण्यम्) उस तेज़ [वा सुवर्ण] को (त्रिवृद्भिः) तीन [कर्म, उपासना ज्ञानरूप] वृत्तियों के साथ (जुगुपुः) रक्षित किया है, (त्रिवृता) तीन [कर्म, उपासना ज्ञान] में वर्तमान (ताः) वे [प्रजायें] (त्वा) तुझ को (त्रिवृद्भिः) तीन [कर्म, उपासना, ज्ञानरूप] वृत्तियों के साथ (रक्षन्तु) बचावें ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो पुरुष शूर महात्माओं के समान वेदोक्त मार्ग पर चलकर धर्म के साथ तेज वा सुवर्ण आदि धन प्राप्त करते हैं, प्रजागण उन धीर वीरों को प्रिय जानकर सदा उन की रक्षा करते रहें ॥ ९ ॥

त्रयस्त्रिंशद् देवतास्त्रीणि च वीर्याणि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्व१न्तः । अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्याणि ॥ १० ॥

त्रयः-त्रिंशत् । देवताः । त्रीणि । च । वीर्याणि । प्रिय-यमाणाः । जुगुपुः । अप्-सु । अन्तः ॥ अस्मिन् । चन्द्रे । अधि । यत् । हिरण्यम् । तेन । अयम् । कृणवत् । वीर्याणि ॥ १० ॥

भाषार्थ—(प्रियायमाणाः) प्रिय मानते हुये (त्रयस्त्रिंशत्) तेतीस [८ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र–११ रुद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग,

९—(देवानाम्) विदुषाम् (निहितम्) स्थापितम् (निधिम्) रत्नसंग्रहम् (यम्) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (अन्वविन्दत) अन्विष्य लब्धवान् (पथिभिः) मार्गैः (देवयानैः) विद्वद्भिर्गन्तव्यैः (आपः) म० ३ । आप्ताः प्रजाः (हिरण्यम्) तत्तेजः सुवर्णं वा (जुगुपुः) ररक्षुः । अन्यद् पूर्ववत् म० ३ ॥

१०—(त्रयस्त्रिंशत्) अथर्व० ६ । १३९ । १ । अष्टौ वसवो यथा, अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चेति,

कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय यह दस प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा,—१२ महीने-१ इन्द्र अर्थात् बिजुली-एक प्रजापति वा यज्ञ] (देवताः) देवताओं (च) और (त्रीणि) तीन [कायिक, वाचिक और मानसिक] (वीर्याणि) वीर कर्मों ने (अप्सु अन्तः) आप्त प्रजाओं के बीच (अस्मिन्) इस (चन्द्रे) आनन्द देने वाले [जीवात्मा] में (अधि) अधिकार पूर्वक (यत्) जिस (हिरण्यम्) कमनीय तेज को (जुगुपुः) रक्षित किया है, (तेन) उसी [तेज] से (अयम्) यह [जीवात्मा] (वीर्याणि) वीर कर्मों को (कृणवत्) करे ॥ १० ॥

भावार्थ—परमात्मा ने वसु आदि तेतीस देवताओं शारीरिक आदि शक्तियों और पूर्व संस्कारों द्वारा मनुष्यों में जो तेज स्थापित किया है, मनुष्य उस तेज को विद्या आदि द्वारा प्रकाशित करके पराक्रम करता रहे ॥ १० ॥

ये दे॒वा दि॒व्येका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो ह॒विरि॒दं जु॑षध्वम् ॥ ११॥

ये । दे॒वाः । दि॒वि । एका॑दश । स्थ । ते । दे॒वा॒सः॒ । ह॒विः । इ॒दम् । जु॒ष॒ध्व॒म् ॥ ११ ॥

ये दे॒वा अ॒न्तरि॑क्ष॒ एका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो ह॒विरि॒दं जु॑षध्वम्॥१२

ये । दे॒वाः । अ॒न्तरि॑क्षे । एका॑दश । स्थ । ते । दे॒वा॒सः॒ । ह॒विः । इ॒दम् । जु॒ष॒ध्व॒म् ॥ १२ ॥

ये दे॒वाः पृ॑थि॒व्यामेका॑दश॒ स्थ ते दे॑वासो ह॒विरि॒दं जु॑षध्वम्॥१३

एकादश रुद्रा यथा प्राणापानव्यानसमानोदाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जया इति दश प्राणा आत्मैकादशः,द्वादश मासाः, इन्द्रश्च प्रजापतिश्चेति (देवताः) देवाः (त्रीणि) कायिकवाचिकमानसानि (वीर्याणि) वीरकर्माणि । सामर्थ्यानि (प्रियायमाणाः) कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । पा० ३ । १ । ११ । प्रिय—क्यङ् । प्रिय इवाचरतीति प्रियायते, शानच् । प्रिया इवाचरन्त्यः (जुगुपुः) ररक्षुः (अप्सु) म० ३ । आप्तासु प्रजासु (अन्तः) मध्ये (अस्मिन्) समीपवर्तिनि (चन्द्रे) आह्लादके जीवात्मनि (अधि) अधिकारपूर्वकम् (यत्) (हिरण्यम्) कमनीयं तेजः (तेन) तेजसा (अयम्) जीवात्मा (वीर्याणि) ॥

ये । दे॒वाः । पृ॒थि॒व्याम् । एका॑दश । स्थ । ते । दे॒वा॒सः । ह॒विः । इ॒दम् । जु॒ष॒ध्व॒म् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (ये) जो तुम (दिवि) सूर्य लोक में (एकादश) ग्यारह [प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय, दस प्राण और ग्यारहवें जीवात्मा के समान] (स्थ) हो, (देवासः) हे विद्वानो ! (ते) वे तुम (इदम्) इस (हविः) ग्रहण योग्य वस्तु [वचन] को (जुषध्वम्) सेवन करो ॥ ११ ॥

भावार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (ये) जो तुम (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (एकादश) ग्यारह [श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाणी, हाथ, पांव, गुदा, लिङ्ग और मन—इन ग्यारह के समान] (स्थ) हो, (देवासः) हे विद्वानो ! (ते) वे तुम (इदम्) इस (हविः) ग्रहण योग्य वस्तु [वचन] को (जुषध्वम्) सेवन करो ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (ये) जो तुम (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (एकादश) ग्यारह [पृथिवी, जल, अग्नि, पवन आकाश, आदित्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अहङ्कार, महत्तत्त्व और प्रकृति—इन ग्यारह के समान] (स्थ) हो, (देवासः) हे विद्वानो ! (ते) वे तुम (इदम्) इस (हविः) ग्रहण योग्य वस्तु [वचन] को (जुषध्वम्) सेवन करो ॥ १३ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्यादि लोकों में सब पदार्थ स्थित रहकर अपना अपना कर्तव्य कर रहे हैं, वैसे ही मनुष्यों को ईश्वर और वेद में दृढ़ रहकर अपने कर्तव्य में परम निष्ठा रखनी चाहिये ॥ ११—१३ ॥

११—(ये) ये यूयम् (देवाः) हे विद्वांसः (दिवि) सूर्यलोके (एकादश) दयानन्दभाष्ये, यजु० ७ । १९ । प्राणापानव्यानसमानोदाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जया इति दश प्राणा आत्मैकादश—इत्येतैः समानाः (स्थ) भवथ (ते) ते यूयम् (देवासः) हे विद्वांसः (हविः) ग्राह्यं वस्तु । वचनम् (इदम्) (जुषध्वम्) सेवध्वम् ॥

१२—(अन्तरिक्षे) मध्यलोके (एकादश) यजु० ७ । १९ । श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनांसि—इत्येभिः समानाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१३—(पृथिव्याम्) भूम्याम् (एकादश) यजु० ७ । १९ । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादित्यचन्द्रनक्षत्राहङ्कारमहत्तत्त्वप्रकृतय इत्येभिः समानाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

मन्त्र ११—१३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०। १२८। १—११ और यजुर्वेद ७। १८॥

असपत्नं पुरस्तात् पश्चान्नो अभयं कृतम्।
सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः॥ १४॥

असपत्नम्। पुरस्तात्। पश्चात्। नः। अभयम्। कृतम्॥
सविता। मा। दक्षिणतः। उत्तरात्। मा। शची-पतिः॥१४॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (मा) मुझ को (पुरस्तात्) सामने से [वा पूर्व दिशा से], (पश्चात्) पीछे से [वा पश्चिम से], (दक्षिणतः) दाहिनी ओर [वा दक्खिन]से और (मा) मुझको (उत्तरात्) बाईं ओर से [वा उत्तर से] (सविता) सर्वप्रेरक राजा और (शचीपतिः) वाणियों वा कर्मों का पालने वाला [मन्त्री], तुम दोनों (असपत्नम्) शत्रुरहित और (अभयम्) निर्भय (कृतम्) करो॥ १४॥

भावार्थ—जहां पर राजा और मन्त्री, अपनी वाणी और कर्म में पक्के होते हैं, उस राज्य में प्रजागण शत्रुओं से सुरक्षित रहते हैं॥ १४॥

यह मन्त्र पहिले आ चुका है अथ० १६। १६। १॥

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम्।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म॥१५॥

दिवः। मा। आदित्याः। रक्षन्तु। भूम्याः। रक्षन्तु। अग्नयः॥
इन्द्राग्नी इति। रक्षताम्। मा। पुरस्तात्। अश्विनौ।
अभितः। शर्म। यच्छताम्॥ तिरश्चीन्। अघ्न्या। रक्षतु।
जात-वेदाः। भूत-कृतः। मे। सर्वतः। सन्तु। वर्म॥ १५॥

१४—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० १६। १६। १॥

भाषार्थ—(आदित्याः) अखण्डमती शूर (मा) मुझे (दिवः) आकाश से (रक्षन्तु) बचावें, (अग्नयः) ज्ञानी पुरुष (भूम्याः) भूमि से (रक्षन्तु) बचावें। (इन्द्राग्नी) बिजुली और अग्नि [के समान तेजस्वी और व्यापक राजा और मन्त्री दोनों] (मा) मुझे (पुरस्तात्) सामने से (रक्षताम्) बचावें, (अश्विना) सूर्य और चन्द्रमा [के समान ठीक मार्ग चलने वाले वे दोनों] (अभितः) सब ओर से (शर्म) सुख (यच्छताम्) देवें। (जातवेदाः) बहुत धन वाली (अघ्न्या) अटूट [राजनीति] (तिरश्चीन=तिरश्चिभ्यः) आड़े चलने वाले [वैरियों] से [मुझे] (रक्षतु) बचावे, (भूतकृतः) उचित कर्म करने वाले पुरुष (मे) मेरे लिये (सर्वतः) सब ओर से (वर्म) कवच (सन्तु) होवें ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो राजा और राजपुरुष आकाश में वायुयान द्वारा चलने वाले वीरों से और पृथिवी पर अश्ववार आदि से अस्त्र शस्त्र द्वारा शत्रुओं का नाश करते हैं, वही प्रजा की रक्षा कर सकते हैं ॥ १५ ॥

यह मन्त्र ऊपर आ चुका है—अ० १६ । १६ । २ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—१० ॥ दर्भो देवता ॥ १, ४—१० अनुष्टुप्; २, ३ भुरिगनुष्टुप् ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षणों का उपदेश ॥

इ॒मं ब॑ध्नामि ते म॒णिं दी॑र्घायु॒त्वाय॒ तेज॑से ।
द॒र्भं स॑पत्न॒दम्भ॑नं द्विष॒तस्तप॑नं हृ॒दः ॥ १ ॥

इ॒मम् । ब॒ध्ना॒मि॒ । ते॒ । म॒णिम् । दी॒र्घा॒यु॒ऽत्वाय॑ । तेज॑से ॥
द॒र्भम् । स॒प॒त्न॒ऽदम्भ॑नम् । द्वि॒ष॒तः । तप॑नम् । हृ॒दः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजागण !] (ते) तेरे (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन और (तेजसे) तेज के लिये (इमम्) इस (मणिम्) मणिरूप [अति प्रशंसनीय],

१५—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० १६ । १६ । २ ॥

१—(इमम्) प्रसिद्धम् (बध्नामि) नियोजयामि (ते) तव (मणिम्) अ० १ । २६ । १ । मण कूजे—इन् । रत्नम् । प्रशंसनीयम् (दीर्घायुत्वाय) चिर-जीवनाय (तेजसे) प्रतापाय (दर्भम्) अ० ६ । ४३ । १ । दृदलिभ्यां भः ।

(सपत्नदम्भनम्) शत्रुओं के दबाने वाले, (द्विषतः) विरोधी के (हृदः) हृदय के (तपनम्) तपाने वाले (दर्भम्) दर्भ [शत्रुविदारक सेनापति] को (बध्नामि) मैं नियुक्त करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा और उन्नति के लिये बलवान् नीतिज्ञ सेनापति को नियुक्त करे ॥ १ ॥

दर्भ एक घास औषध विशेष भी है जो वात पित्त कफ त्रिदोष आदि रोग नाश करता है ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अ० ६ । ४३ । १२ ॥

द्विषतस्तापयन् हृदः शत्रूणां तापयन् मनः ।

दुर्हार्दः सर्वांस्त्वं दर्भ घर्म इवाभीन्त्संतापयन् ॥ २ ॥

द्विषतः । तापयन् । हृदः । शत्रूणाम् । तापयन् । मनः ॥

दुः-हार्दः । सर्वान् । त्वम् । दर्भ । घर्मःऽइव । अभीन् । सम्-तापयन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(द्विषतः) विरोधी के (हृदः) हृदयों को (तापयन्) तपाता हुआ, और (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (मनः) मन को (तापयन्) तपाता हुआ, (दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले (अभीन्) अमङ्गलकारियों को (घर्मः इव) ग्रीष्म ऋतु के समान (सन्तापयन्) सर्वथा तपाता हुआ (त्वम्) तू [वर्तमान हो] ॥ २ ॥

उ० ३ । १५१ । दॄ विदारणे—भ । शत्रुविदारकं सेनापतिम् । कुशादितृणविशेषम् (सपत्नदम्भनम्) शत्रूणां हिंसकम् (द्विषतः) विरोधिनः पुरुषस्य (तपनम्) तापकम् (हृदः) हृदयस्य ॥

२—(द्विषतः) द्वेषं कुर्वतः शत्रोः (तापयन्) सन्तप्तं कुर्वन् (हृदः) हृदयानि (शत्रूणाम्) (तापयन्) (मनः) चित्तम् (दुर्हार्दः) अ० २ । ७ । ५ । हार्दं करोति हार्दयततीति, हार्दयतेः क्विपि णिलोपे रूपम् । दुष्टहृदयान् (सर्वान्) (त्वम्) (दर्भ) म० १ । हे शत्रुविदारक सेनापते (घर्मः) ग्रीष्मः (इव) यथा (अभीन्) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । नञ्+भद भदि कल्याणकरणे—इण्, स च डित् । अमङ्गलकारिणः शत्रून् (सन्तापयन्) सन्तापं कुर्वन्—वर्तस्वेति शेषः ॥

भावार्थ—शूर वीर सेनापति शत्रुओं को सदा कष्ट देकर नाश करे, जैसे ग्रीष्म का ताप घास आदि को सुखाकर नष्ट कर देता है ॥ २ ॥

घर्म इवाभितपन् दर्भ द्विषतो नितपन् मणे ।
हृदः सपत्नानां भिन्द्धीन्द्र इव विरुजं बलम् ॥ ३ ॥

घर्मः-इव । अभि-तपन् । दर्भ । द्विषतः । नि-तपन् । मणे ॥ हृदः । स-पत्नानाम् । भिन्द्धि । इन्द्रः-इव । वि-रुजन् । बलम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मणे) हे प्रशंसनीय (दर्भ) दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (घर्मः इव) ग्रीष्म के समान (अभितपन्) सर्वथा तपता हुआ (द्विषतः) विरोधियों को (नितपन्) सन्ताप देता हुआ तू, (बलम्) हिंसक को (विरुजन्) नाश करते हुये (इन्द्रः इव) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवान् पुरुष] के समान, (सपत्नानाम्) वैरियों के (हृदः) हृदयों को (भिन्द्धि) तोड़ दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सेनापति महाप्रतापी शूरों के समान पराक्रम करके शत्रुओं को हरावे ॥ ३ ॥

भिन्द्धि दर्भ सपत्नानां हृदयं द्विषतां मणे ।
उद्यन् त्वचमिव भूम्याः शिर एषां वि पातय ॥ ४ ॥

भिन्द्धि । दर्भ । स-पत्नानाम् । हृदयम् । द्विषताम् । मणे ॥ उत्-यन् । त्वचम्-इव । भूम्याः । शिरः । एषाम् । वि । पातय ४

भाषार्थ—(मणे) हे प्रशंसनीय (दर्भ) दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति]

३—(घर्मः) ग्रीष्मः (इव) यथा (अभितपन्) अभितः सन्तापं कुर्वन् (दर्भ) हे शत्रुविदारक (द्विषतः) विरोधिनः पुरुषान् (नितपन्) सन्तापयन् (मणे) हे प्रशंसनीय (हृदः) हृदयानि (सपत्नानाम्) शत्रूणाम् (भिन्द्धि) विदारय (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (इव) यथा (विरुजन्) नाशयन् (बलम्) बल वधे—अच् । हिंसकं दैत्यम् ॥

४—(भिन्द्धि) विदारय (दर्भ) हे शत्रुविदारक (सपत्नानाम्) शत्रू-

(सपत्नानाम्) वैरियों और (द्विषताम्) विरोधियों के (हृदयम्) हृदय को (भिन्द्धि) तोड़ दे। (उद्यन्) उठता हुआ तू, (भूम्याः) भूमि की (त्वचम् इव) त्वचा [तृण आदि] के समान (एषाम्) इन शत्रुओं का (शिरः) शिर (वि पातय) गिरा दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—पराक्रमी सेनापति शत्रुओं में फूट डालकर घास फूंस के समान नाश करे ॥ ४ ॥

भिन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे भिन्द्धि मे पृतनायतः।
भिन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दो भिन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥ ५ ॥

भिन्द्धि। दुर्भ। सु-पत्नान्। मे। भिन्द्धि। मे। पृतना-यतः॥ भिन्द्धि। मे। सर्वान्। दुः-हार्दः। भिन्द्धि। मे। द्विषतः। मणे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (भिन्द्धि) तोड़ दे, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ाने वालों को (भिन्द्धि) तोड़ दे। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (भिन्द्धि) तोड़ दे, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (भिन्द्धि) तोड़ दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ ५ ॥

णाम् (हृदयम्) द्विषताम्) वैरिणाम् (मणे) हे प्रशस्त (उद्यन्) ऊर्ध्वं गच्छन्। उन्नतः सन् (त्वचम्) उपरिदेशं तृणादिकम् (इव) यथा (भूम्याः) पृथिव्याः (शिरः) मस्तकम् (एषाम्) शत्रूणाम् (विपातय) विविधं पातय विनाशय ॥

५—(भिन्द्धि) विदारय (दर्भ) म० १। हे शत्रुविदारक सेनापते (सपत्नान्) शत्रून् (मे) मम (भिन्द्धि) (मे) मह्यम् (पृतनायतः) अ० १। २१। २। सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १। ८। पृतना-क्यच्, आकारलोपाभावश्छान्दसः। ततः शतृ। पृतन्यतः। पृतनां सेनामात्मन इच्छतः शत्रून् (भिन्द्धि) (मे) मम (सर्वान्) (दुर्हार्दः) म० २। दुष्टहृदयान् (भिन्द्धि) (मे) मम (द्विषतः) विरोधकान् (मणे) हे प्रशंसनीय ॥

छिन्द्धि दर्भ सुपत्नान् मे छिन्द्धि मे पृतनायतः ।
छिन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दान् छिन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥६॥

छिन्द्धि। दर्भ। सु-पत्नान् । मे। छिन्द्धि । मे। पृतना-यतः॥
छिन्द्धि । मे । सर्वान् । दुः-हार्दान् । छिन्द्धि । मे ।
द्विषतः । मणे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (छिन्द्धि) छेद डाल, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (छिन्द्धि) छेद डाल (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दान्) दुष्ट हृदय वालों को (छिन्द्धि) छेद डाल, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (छिन्द्धि) छेद डाल ॥ ६ ॥

वृश्च दर्भ सुपत्नान् मे वृश्च मे पृतनायतः ।
वृश्च मे सर्वान् दुर्हार्दो वृश्च मे द्विषतो मणे ॥ ७ ॥

वृश्च । दर्भ । सु-पत्नान् । मे । वृश्च । मे । पृतना-यतः ॥
वृश्च । मे । सर्वान् । दुः-हार्दः । वृश्च । मे । द्विषतः । मणे ॥७॥

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (वृश्च) काट डाल, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (वृश्च) काट डाल । (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (वृश्च) काट डाल, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (वृश्च) काट डाल ॥ ७ ॥

कृन्त दर्भ सुपत्नान् मे कृन्त मे पृतनायतः ।
कृन्त मे सर्वान् दुर्हार्दो कृन्त मे द्विषतो मणे ॥ ८ ॥

६—(छिन्द्धि) छिदिर् द्वैधीकरणे । द्वैधीकुरु (दुर्हार्दान्) दुष्टहृदयान् । शिष्टं समानं सर्वत्र ॥ ७ ॥

७—(वृश्च) ओ व्रश्चू छेदने । छिन्द्धि ॥

कृन्त । दुर्भ । सु-पत्नान् । मे । कृन्त । मे । पृतना-यतः ॥
कृन्त । मे । सर्वान् । दुः-हार्दान् । कृन्त । मे । द्विषतः ।
मणे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (कृन्त) कतर डाल, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (कृन्त) कतर डाल । (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दान्) दुष्ट हृदय वालों को (कृन्त) कतर डाल, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (कृन्त) कतर डाल ॥ ८ ॥

पिंश दर्भ सुपत्नान् मे पिंश मे पृतनायुतः ।
पिंश मे सर्वान् दुर्हार्दः पिंश मे द्विषुतो मणे ॥ ९ ॥

पिंश । दुर्भ । सु-पत्नान् । मे । पिंश । मे । पृतना-यतः ॥
पिंश । मे । सर्वान् । दुः-हार्दः । पिंश । मे । द्विषतः । मणे ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (पिंश) बोटी बोटी कर, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (पिंश) बोटी बोटी कर । (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (पिंश) बोटी बोटी कर, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (पिंश) बोटी बोटी कर ॥ ९ ॥

विध्य दर्भ सुपत्नान् मे विध्य मे पृतनायुतः ।
विध्य मे सर्वान् दुर्हार्दो विध्य मे द्विषुतो मणे ॥ १० ॥

विध्य । दुर्भ । सु-पत्नान् । मे । विध्य । मे । पृतना-यतः ॥
विध्य । मे । सर्वान् । दुः-हार्दः । विध्य । मे । द्विषतः ।
मणे ॥ १० ॥

८—(कृन्त) कृती छेदने मुचादित्वाद् नुम् । छिन्धि ॥

९—(पिंश) पिश अवयवे, मुचा० नुम् । अनेकावयवीकुरु ॥

भावार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) बैरियों को (विध्य) वेध डाल, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (विध्य) वेध डाल। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (विध्य) वेध डाल, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) बैरियों को (विध्य) वेध डाल ॥ १० ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—६ ॥ दर्भो देवता ॥ अनुष्टुप्छन्दः ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

निक्ष दर्भ सुपत्नान् मे निक्ष मे पृतनायतः ।
निक्ष मे सर्वान् दुर्हार्दो निक्ष मे द्विषतो मणे ॥ १ ॥

निक्ष । दर्भ । सु-पत्नान् । मे । निक्ष । मे । पृतना-यतः ॥
निक्ष । मे । सर्वान् । दुः-हार्दः । निक्ष । मे । द्विषतः ।
मणे ॥ १ ॥

भावार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) बैरियों को (निक्ष) कोंच डाल, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (निक्ष) कोंच डाल। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (निक्ष) कोंच डाल, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) बैरियों को (निक्ष) कोंच डाल ॥ १ ॥

तृन्द्धि दर्भ सुपत्नान् मे तृन्द्धि मे पृतनायतः ।
तृन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दस्तृन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥ २ ॥

तृन्द्धि । दर्भ । सु-पत्नान् । मे । तृन्द्धि । मे । पृतना-यतः ॥
तृन्द्धि । मे । सर्वान् । दुः-हार्दः । तृन्द्धि । मे । द्विषतः ।
मणे ॥ २ ॥

१०—(विध्य) व्यध ताडने । ताडय ॥
१—(निक्ष) णिक्ष चुम्बने, सत्र पीडने । पीडय ॥

भावार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (तृन्द्धि) चीर डाल, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (तृन्द्धि) चीर डाल। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (तृन्द्धि) चीर डाल, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (तृन्द्धि) चीर डाल ॥ २ ॥

रुन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे रुन्द्धि मे पृतनायतः ।
रुन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दो रुन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥ ३ ॥

रुन्द्धि । दर्भ । स-पत्नान् । मे । रुन्द्धि । मे । पृतना-यतः ॥
रुन्द्धि । मे । सर्वान् । दुः-हार्दः । रुन्द्धि । मे । द्विषतः ।
मणे ॥ ३ ॥

भावार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (रुन्द्धि) रोक दे, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (रुन्द्धि) रोक दे। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (रुन्द्धि) रोक दे, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (रुन्द्धि) रोक दे ॥ ३ ॥

मृण दर्भ सपत्नान् मे मृण मे पृतनायतः ।
मृण मे सर्वान् दुर्हार्दो मृण मे द्विषतो मणे ॥ ४ ॥

मृण । दर्भ । स-पत्नान् । मे । मृण । मे । पृतना-यतः ॥
मृण । मे । सर्वान् । दुः-हार्दः । मृण । मे । द्विषतः । मणे ॥ ४ ॥

भावार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (मृण) मार डाल, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (मृण) मार डाल । (मे) मेरे (सर्वान्) सब

२—(तृन्द्धि) उ तृदिर् हिंसानादरयोः । विनाशय ॥
३—(रुन्द्धि) रुधिर् आवरणे । आवृणु । निरोधं कुरु ॥
४—(मृण) मृण हिंसायाम् । मारय ॥

(दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (मृण) मार डाल, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (मृण) मार डाल ॥ ४ ॥

मन्थ दर्भ सुपत्नान् मे मन्थ मे पृतनायतः ।
मन्थ मे सर्वान् दुर्हार्दो मन्थ मे द्विषतो मणे ॥ ५ ॥

मन्थ । दुर्भ । सु-पत्नान् । मे । मन्थ । मे । पृतना-यतः ॥
मन्थ । मे । सर्वान् । दुः-हार्दः । मन्थ । मे । द्विषतः । मणे ॥ ५

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (मन्थ) मथ डाल, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (मन्थ) मथ डाल । (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (मन्थ) मथ डाल, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (मन्थ) मथ डाल ॥ ५ ॥

पिण्ड्ढि दर्भ सुपत्नान् मे पिण्ड्ढि मे पृतनायतः ।
पिण्ड्ढि मे सर्वान् दुर्हार्दः पिण्ड्ढि मे द्विषतो मणे ॥६॥

पिण्ड्ढि । दर्भ । सु-पत्नान् । मे । पिण्ड्ढि । मे । पृतना-यतः ॥ पिण्ड्ढि । मे । सर्वान् । दुः-हार्दः । पिण्ड्ढि । मे । द्विषतः । मणे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (पिण्ड्ढि) पीस डाल, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (पिण्ड्ढि) पीस डाल । (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (पिण्ड्ढि) पीस डाल, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (पिण्ड्ढि) पीस डाल ॥ ६ ॥

५—(मन्थ) मन्थ विलोडने । विलोडय ॥

६—(पिण्ड्ढि) पिष्लृ संचूर्णने । चूर्णीकुरु ॥

ओषं दर्भ सुपत्नान् मे ओषं मे पृतनायतः ।
ओषं मे सर्वान् दुर्हार्द ओषं मे द्विषतो मणे ॥ ७ ॥

ओषं । दुर्भ । स-पत्नान् । मे । ओषं । मे । पृतना-यतः ॥ ओषं । मे । सर्वान् । दुः-हार्दः । ओषं । मे । द्विषतः । मणे ॥ ७ ॥

भावार्थ—(दर्भ) हे दर्भ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (ओष) जला दे, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (ओष) जला दे। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (ओष) जला दे, (मणे) हे प्रशंसनीय! (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (ओष) जला दे ॥ ७ ॥

दहं दर्भ सुपत्नान् मे दहं मे पृतनायतः ।
दहं मे सर्वान् दुर्हार्दो दहं मे द्विषतो मणे ॥ ८ ॥

दहं । दुर्भ । स-पत्नान् । मे । दहं । मे । पृतना-यतः ॥ दहं । मे । सर्वान् । दुः-हार्दः । दहं । मे । द्विषतः । मणे ॥ ८ ॥

भावार्थ—(दर्भ) हे दर्भ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (दह) दाह कर दे, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (दह) दाह कर दे। (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (दह) दाह कर दे, (मणे) हे प्रशंसनीय! (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (दह) दाह कर दे ॥ ८ ॥

जहि दर्भ सुपत्नान् मे जहि मे पृतनायतः ।
जहि मे सर्वां दुर्हार्दो जहि मे द्विषतो मणे ॥ ९ ॥

७—(ओष) उष दाहे। भस्मीकुरु ॥
८—(दह) भस्मसात्कुरु ॥

जहि । दर्भ । स-पत्नान् । मे । जहि । मे । पृतना-यतः ॥
जहि । मे । सर्वान् । दुः-हार्दः । जहि । मे । द्विषतः ।
मणे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (मे) मेरे (सपत्नान्) बैरियों को (जहि) नाश कर दे, (मे) मेरे लिये (पृतनायतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (जहि) नाश करदे । (मे) मेरे (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (जहि) नाश कर दे, (मणे) हे प्रशंसनीय ! (मे) मेरे (द्विषतः) बैरियों को (जहि) नाश कर दे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१—५ ॥ दर्भो देवता ॥ १,२ निचृदनुष्टुप्; ३ भुरिगुष्णिक् ; ४, ५ अनुष्टुप् ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षणों का उपदेश ॥

यत् ते दर्भ जरामृत्युः शतं वर्मसु वर्म ते ।
तेनेमं वर्मिणं कृत्वा सपत्नाञ्जहि वीर्यैः ॥ १ ॥

यत् । ते । दर्भ । जरा-मृत्युः । शतम् । वर्म-सु । वर्म । ते ॥
तेन । इमम् । वर्मिणम् । कृत्वा । स-पत्नान् । जहि ।
वीर्यैः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (यत्) जो (ते) तेरा (जरामृत्युः) जरा [निर्बलता] को मृत्यु [के समान दुःखदायी] समझना है, और [जो] (वर्मसु) कवचों के बीच (ते) तेरा (वर्म) कवच (शतम्) सौ प्रकार का है । (तेन) उसी [कारण] से (इमम्) इस [शूर]

६—(जहि) हन हिंसागत्योः । नाशय ॥

१—(यत्) यः (ते) तव (दर्भ) हे शत्रुविदारक सेनापते (जरामृत्युः) जरा निर्बलता मृत्युरिव दुःखदायिनी यस्मिन् स व्यवहारः (शतम्) बहुप्रकारम् (वर्मसु) कवचेषु (वर्म) कवचम् । रक्षासाधनम् (ते) तव (तेन) कारणेन

को (वर्मिणम्) कवच धारी (कृत्वा) करके (सपत्नान्) वैरियों को (वीर्यैः) वीर कर्मों से (जहि) नाश कर ॥ १ ॥

भावार्थ—पराक्रमी शूर सेनापति अपने दृष्टान्त से अन्य पुरुषों को वीर बनाकर शत्रुओं का नाश करे ॥ १ ॥

शतं ते दर्भ वर्माणि सहस्रं वीर्याणि ते ।
तमस्मै विश्वे त्वां देवा जरसे भर्तवा अदुः ॥ २ ॥

शतम् । ते । दर्भ । वर्माणि । सहस्रम् । वीर्याणि । ते ॥ तम् ।
अस्मै । विश्वे । त्वाम् । देवाः । जरसे । भर्तवै । अदुः ॥२॥

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (ते) तेरे (वर्माणि) कवच (शतम्) सौ और (ते) तेरे (वीर्याणि) वीर कर्म (सहस्रम्) सहस्र हैं । (तम्) उस (त्वाम्) तुझे (विश्वे) सब (देवाः) विद्वानों ने (अस्मै) इस [पुरुष] को (जरसे) स्तुति के लिये और (भर्तवै) पालन करने के लिये (अदुः) दिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सेनापति अनेक प्रकार से अपनी और प्रजा की रक्षा कर सके, विद्वान् लोग प्रधान पुरुष के सामने उस महान् पुरुष का आदर करें ॥ २ ॥

त्वामाहुर्देववर्म त्वां दर्भ ब्रह्मणस्पतिम् ।
त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि ॥ ३ ॥

(इमम्) (वर्मिणम्) कवचिनम् (कृत्वा) विधाय (सपत्नान्) शत्रून् (जहि) नाशय (वीर्यैः) वीरकर्मभिः ॥

२—(शतम्) असंख्यानि (ते) तव (दर्भ) हे शत्रुविदारक सेनापते (वर्माणि) कवचानि (सहस्रम्) अपरिमितानि (वीर्याणि) वीरकर्माणि (ते) (तम्) तादृशम् (अस्मै) प्रधानाय (विश्वे) सर्वे (त्वाम्) शूरम् (देवाः) विद्वांसः (जरसे) स्तुतये (भर्तवै) तवैप्रत्ययः । भरणाय । पोषणाय (अदुः) दत्तवन्तः ॥

त्वाम् । आहुः । देव-वर्म । त्वाम् । दर्भ । ब्रह्मणः । पतिम् ॥
त्वाम् । इन्द्रस्य । आहुः । वर्म । त्वम् । राष्ट्राणि । रक्षसि ॥३॥

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (त्वाम्) तुझे (देववर्म) विद्वानों का कवच, (त्वाम्) तुझे (ब्रह्मणः) वेद का (पतिम्) रक्षक (आहुः) वे लोग कहते हैं। (त्वाम्) तुझे (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवान् पुरुष] का (वर्म) कवच (आहुः) वे लोग कहते हैं, (त्वम्) तू (राष्ट्राणि) राज्यों की (रक्षसि) रक्षा करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—पराक्रमी शूर सेनापति विद्वानों, वेदों और सब राज्यों की रक्षा करे ॥ ३ ॥

सपत्नक्षयणं दर्भ द्विषतस्तपनं हृदः ।
मणिं क्षत्रस्य वर्धनं तनूपानं कृणोमि ते ॥ ४ ॥

सपत्न-क्षयणम् । दर्भ । द्विषतः । तपनम् । हृदः ॥ मणिम् ।
क्षत्रस्य । वर्धनम् । तनू-पानम् । कृणोमि । ते ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक सेनापति] (ते=त्वाम्) तुझ को (सपत्नक्षयणम्) वैरियों का नाश करने वाला, (द्विषतः) शत्रु के (हृदः) हृदय का (तपनम्) तपाने वाला, (क्षत्रस्य) राज्य का (मणिम्) श्रेष्ठ (वर्धनम्) बढ़ाने वाला और (तनूपानम्) शरीरों की रक्षा करने वाला (कृणोमि) मैं बनाता हूं ॥ ४ ॥

३—(त्वाम्) (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (देववर्म) विदुषां कवचं रक्षासाधनम् (त्वाम्) (दर्भ) हे शत्रुविदारक सेनापते (ब्रह्मणः) वेदस्य (पतिम्) पालयितारम् (त्वाम्) (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य (आहुः) (वर्म) (त्वम्) (राष्ट्राणि) राज्यानि (रक्षसि) पालयसि ॥

४—(सपत्नक्षयणम्) शत्रूणां नाशकम् (दर्भ) हे शत्रुविदारक सेनापते (द्विषतः) वैरिणः (तपनम्) तापकम् (हृदः) हृदयस्य (मणिम्) प्रशंसनीयम् (क्षत्रस्य) राज्यस्य (वर्धनम्) वर्धकम् (तनूपानम्) शरीराणां पातारं रक्षितारम् (कृणोमि) करोमि (ते) त्वामित्यर्थः ॥

भावार्थ—शूर प्रतापी सेनापति को अधिकार दिया जावे कि वह शत्रु के जीतने और राज्य की उन्नति करने में सदा प्रयत्न करे ॥ ४ ॥

यत् स॒मु॒द्रो अ॒भ्यक्र॑न्दत् प॒र्जन्यो॑ वि॒द्युता॑ स॒ह ।
ततो॑ हिर॒ण्ययो॑ बि॒न्दुस्ततो॑ द॒र्भो अ॑जायत ॥ ५ ॥

यत् । स॒मु॒द्रः । अ॒भि॒ऽअक्र॑न्दत् । प॒र्जन्यः॑ । वि॒ऽद्युता॑ । स॒ह ।
ततः॑ । हि॒र॒ण्ययः॑ । बि॒न्दुः । ततः॑ । द॒र्भः । अ॒जा॒य॒त ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस [ईश्वर सामर्थ्य] से (समुद्रः) अन्तरिक्ष और (पर्जन्यः) बादल (विद्युता सह) बिजुली के साथ (अभ्यक्रन्दत्) सब ओर गरजा है । (ततः) उसी [सामर्थ्य] से (हिरण्ययः) झलकता हुआ (बिन्दुः) बूंद [शुद्ध मेह का जल] और (ततः) उसी [सामर्थ्य] से (दर्भः) दर्भ [शत्रुविदारक सेनापति] (अजायत) प्रकट हुआ है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर के समार्थ्य से आकाश में बिजुली और बादल गरज कर वृष्टि करके उपकार करते हैं, वैसे ही उसी जगदीश्वर के नियम से शूर सेनापति उत्तम शिक्षा और उत्तम संस्कारों के द्वारा संसार में उपकार करके यशस्वी होता है ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—१४ ॥ औदुम्बरो मणिः प्रजापातिर्वा देवता ॥ १-४, ७-१० अनुष्टुप्, ५, १२ त्रिष्टुप् ; ६, १४ विराडार्षी पङ्क्तिः, ११ निचृत् शक्वरी ; १३ शक्वरी ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

औदु॑म्बरेण म॒णिना॑ पु॒ष्टिका॑माय वे॒धसा॑ ।
प॒शू॒नां सर्वे॑षां स्फा॒तिं गो॒ष्ठे मे॑ सवि॒ता क॑रत् ॥ १ ॥

५—(यत्) यस्मात्परमेश्वरसामर्थ्यात् (समुद्रः) अन्तरिक्षम् (अभ्यक्रन्दत्) अभितः स्तननं गर्जनमकार्षीत् (पर्जन्यः) मेघः (विद्युता) अशन्या (सह) (ततः) तस्मात् सामर्थ्यात् (हिरण्ययः) तेजोमयः (बिन्दुः) वृष्टिबिन्दुः (ततः) तस्मात् सामर्थ्यात् (दर्भः) शत्रुविदारकः सेनापतिः (अजायत) प्रादुरभवत् ॥

औदुम्बरेण । मुणिना । पुष्टि-कामाय । वेधसा ॥ पुशूनाम् ।
सर्वेषाम् । स्फातिम् । गो-स्थे । मे । सविता । करत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(औदुम्बरेण) संघटन चाहने वाले (मणिना) श्रेष्ठ (वेधसा) जगत् स्रष्टा [परमेश्वर] के साथ (पुष्टिकामाय) वृद्धि की कामना वाले (मे) मेरे लिये (सविता) सर्वप्रेरक [गृहपति] (सर्वेषाम्) सब (पशूनाम्) पशुओं की (स्फातिम्) बढ़ती (गोष्ठे) गोशाला में (करत्) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—गृहपति को योग्य है कि सर्वनियन्ता परमेश्वर का आश्रय लेकर गौ आदि प्राणियों की वृद्धि से कुटुम्ब का पालन करे ॥ १ ॥

यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत् ।
औदुम्बरो वृषा मणिः स मा सृजतु पुष्ट्या ॥ २ ॥

यः । नः । अग्निः । गार्ह-पत्यः । पशूनाम् । अधि-पाः । असत् ॥
औदुम्बरः । वृषा । मणिः । सः । मा । सृजतु । पुष्ट्या ॥२॥

भाषार्थ—(यः) जो (गार्हपत्यः) गृहपति की स्थापित (अग्निः) अग्नि [के समानतेजस्वी परमेश्वर] (नः) हमारे (पशूनाम्) प्राणियों का (अधिपाः) बड़ा स्वामी (असत्) है। (सः) वही (औदुम्बरः) संघटन चाहने

१—(औदुम्बरेण) अ० ८ । ६ । १७ । पृभिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । उड संहतौ संहनने समूहे वा, सौत्रो धातुः—कु । संज्ञायां भृतॄवृ० । पा० ३ । २ । ४६ । उडु+वृञ् वरणे—खच् मुम् च, डस्य दः वस्य वः । ततः स्वार्थे अण् । संहतेः संघट्टनस्य स्वीकर्ता (मणिना) श्रेष्ठेन (पुष्टिकामाय) वृद्धिं कामयमानाय (वेधसा) विधाञो वेध च । उ० ४ । २२५ । वि+दधातेः—असि । वेधा मेधाविनाम - निघ० ३ । १५ । जगत्स्रष्ट्रा परमेश्वरेण सह (पशूनाम्) गवादीनाम् (सर्वेषाम्) (स्फातिम्) वृद्धिम् (गोष्ठे) गोशालायाम् (मे) मह्यम् (सविता) सर्वप्रेरको गृहपतिः (करत्) कुर्यात् ॥

२—(यः) परमेश्वरः (नः) अस्माकम् (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी परमात्मा (गार्हपत्यः) गृहपतिना संयुक्तः स्थापितः (पशूनाम्) प्राणिनाम् (अधिपाः) अधि+पा रक्षणे-विच् । महाराजः (असत्) लडर्थे लेट् । अस्ति

वाला, (मणिः) श्रेष्ठ, (वृषा) वीर्यवान् [परमेश्वर] (मा) मुझको (पुष्ट्या) वृद्धि के साथ (सृजतु) संयुक्त करे ॥ २ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमात्मा की उपासना करके मनुष्य आदि प्राणियों से वृद्धि करें ॥ २ ॥

क॒री॒षिणीं॑ फ॒लव॑तीं स्व॒धामिरां॑ च नो गृ॒हे ।
औदु॑म्बरस्य॒ तेज॑सा धा॒ता पु॒ष्टिं द॑धातु मे ॥ ३ ॥

क॒री॒षिणी॑म् । फ॒ल॑-वती॑म् । स्व॒धाम् । इरा॑म् । च॒ । नः॒ । गृ॒हे ॥
औदु॑म्बरस्य । तेज॑सा । धा॒ता । पु॒ष्टिम् । द॒धा॒तु॒ । मे॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे (गृहे) घर में (औदुम्बरस्य) संघटन चाहने वाले [परमेश्वर] के (तेजसा) तेज से (करीषिणीम्) बहुत गोबर वाली, (फलवतीम्) बहुत फल वाली, (स्वधाम्) बहुत अन्नवाली (च) और (इराम्) बहुत भूमि वाली (पुष्टिम्) वृद्धि को (धाता) पोषक [गृहपति] (मे) मुझे (दधातु) देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—गृहपति परमेश्वर के अनुग्रह और अपने पुरुषार्थ से कुटुम्ब पालने को बहुत गौयें दूध घृत आदि के लिये, आराम वाटिका फल आदि के लिये, अन्न भोजनादि के लिये और भूमि राज्य खेती आदि के लिये रक्खे ॥ ३ ॥

यद् द्वि॒पाच्च॒ चतु॑ष्पाच्च॒ यान्यन्ना॑नि॒ ये रसाः॑ ।
गृ॒ह्णे॒३॑ऽहं त्वे॑षां भू॒मानं॒ बिभ्र॒दौदु॑म्बरं म॒णिम् ॥ ४ ॥

(औदुम्बरः) म० १ । संहतिस्वीकर्ता (वृषा) वीर्यवान् (मणिः) प्रशस्तः (सः) परमेश्वरः (मा) माम् (सृजतु) संयोजयतु (पुष्ट्या) वृद्ध्या ॥

३—(करीषिणीम्) अ० ३ । १४ । ३ । बहुना करीषेण गोमयेन युक्ताम् (फलवतीम्) बहुफलयुक्ताम् (स्वधाम्) स्वधा—अन्नं आद्यच् । बह्वन्नवतीम् (इराम्) अर्श आद्यच् । बहुभूमियुक्ताम् (च) (नः) अस्माकम् (गृहे) निवासे (औदुम्बरस्य) म० १ । संहतिस्वीकारकस्य (तेजसा) प्रतापेन (धाता) पोषको गृहपतिः (पुष्टिम्) पोषणम् (दधातु) ददातु (मे) मह्यम् ॥

यत् । द्वि-पात् । च । चतुःपात् । च । यानि । अन्नानि । ये । रसाः ॥ गृह्णे । अहम् । तु । एषाम् । भूमानम् । बिभ्रत् । औदुम्बरम् । मणिम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (द्विपात्) दोपाया (च) और (चतुष्पात्) चौपाया है, (च) और (यानि) जो जो (अन्नानि) अन्न और (ये) जो जो (रसाः) रस हैं । (औदुम्बरम्) संघटन चाहने वाले (मणिम्) श्रेष्ठ [परमेश्वर] को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (तु) ही (अहम्) मैं (एषाम्) इन की (भूमानम्) बहुतायत को (गृह्णे) ग्रहण करूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करके प्रयत्न के साथ उत्तम मनुष्यों, उत्तम अन्नों, और उत्तम दूध घी शर्करा गुड़ादि रसों को बहुतायत से रक्खें ॥ ४ ॥

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम् ॥ पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् ॥ ५ ॥

पुष्टिम् । पशूनाम् । परि । जग्रभ । अहम् । चतुः-पदाम् । द्वि-पदाम् । यत् । च । धान्यम् ॥ पयः । पशूनाम् । रसम् । ओषधीनाम् । बृहस्पतिः । सविता । मे । नि । यच्छात् ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—म० ५ । २८ । ३ ॥

४—(यत्) (द्विपात्) पादद्वयोपेतं मनुष्यादिकम् (च) (चतुष्पात्) पादचतुष्टयोपेतं गवादिकं पशुजातम् (च) (यानि) (अन्नानि) व्रीहियवादीनि (ये) (रसाः) दधिक्षीरमधुशर्करागुडादिरूपाः (गृह्णे) स्वीकरोमि (अहम्) (तु) हि (एषाम्) पूर्वोक्तानाम् (भूमानम्) बहुभावम् (बिभ्रत्) धारयन् सन् (औदुम्बरम्) संहतिस्वीकर्तारम् (मणिम्) प्रशस्तं परमात्मानम् ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं ने (चतुष्पदाम्) चौपाये और (द्विपदाम्) दोपाये (पशूनाम्) जीवों की, (च) और (यत्) जो (धान्यम्) धान्य है, [उसकी भी], (पुष्टिम्) बढ़ती को (परि) सब ओर से (जग्रभ) ग्रहण किया है। (पशूनाम्) पशुओं का (पयः) दूध और (ओषधीनाम्) ओषधियों [सोमलता अन्न आदि] का (रसम्) रस (बृहस्पतिः बड़े ज्ञानों का रक्षक (सविता) सर्वप्रेरक [गृहपति वा परमेश्वर] (मे) मुझे (नि) नित्य (यच्छात्) देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्तिपूर्वक सब आवश्यक पदार्थों का संग्रह करके प्रजा की यथावत् रक्षा करे ॥ ५ ॥

अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ।
मह्यमौदुम्बरो मणिर्द्रविणानि नि यच्छतु ॥ ६ ॥

अहम् । पशूनाम् । अधि-पाः । असानि । मयि । पुष्टम् । पुष्ट-पतिः । दधातु ॥ मह्यम् । औदुम्बरः । मणिः । द्रविणानि । नि । यच्छतु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (पशूनाम्) प्राणियों का (अधिपाः) बड़ा राजा (असानि) हो जाऊं, (मयि) मुझ में (पुष्टपतिः) पोषण का स्वामी (पुष्टम्) पोषण (दधातु) धारण करे। (मह्यम्) मुझ को (औदुम्बरः)

५—(पुष्टिम्) वृद्धिम् (पशूनाम्) प्राणिनाम् (परि) सर्वतः (जग्रभ) हस्य भः। जग्रह। गृहीतवानस्मि (चतुष्पदाम्) पादचतुष्टययुक्तानाम् (द्विपदाम्) पादद्वयोपेतानाम् (यत्) (च) (धान्यम्) अन्नम्, तस्य पुष्टिं च (पयः) क्षीरम् (पशूनाम्) गवादीनाम् (रसम्) (ओषधीनाम्) सोमलता—व्रीहियवादीनाम् (बृहस्पतिः) बृहतां ज्ञानानां पालकः (सविता) सर्वप्रेरकः गृहपतिः परमेश्वरो वा (मे) मह्यम् (नि) नित्यम् (यच्छात्) लेटि रूपम्। दद्यात् ॥

६—(अहम्) (पशूनाम्) जीवानाम् (अधिपाः) म० २। महाराजः (असानि) भवानि (मयि) (पुष्टम्) पोषणम् (पुष्टपतिः) पोषणस्वामी

संघट्टन चाहने वाला (मणिः) प्रशंसनीय [परमेश्वर] (द्रविणानि) अनेक धन (नि) नित्य (यच्छतु) देवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमेश्वर की शरण लेकर पुरुषार्थ के साथ अनेक धन प्राप्त करने चाहियें ॥ ६ ॥

उप मौदुम्बरो मणिः प्रजया च धनेन च ।
इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्त्सह वर्चसा ॥ ७ ॥

उप । मा । औदुम्बरः । मणिः । प्र-जया । च । धनेन । च ॥ इन्द्रेण । जिन्वितः । मणिः । आ । मा । अगन् । सह । वर्चसा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(औदुम्बरः) संघट चाहने वाला (मणिः) प्रशंसनीय [परमेश्वर] (प्रजया) प्रजा के साथ (च च) और (धनेन) धन के साथ (मा उप) मुझ को, (इन्द्रेण) परम ऐश्वर्य करके (जिन्वितः) प्रेरित किया गया (मणिः) प्रशंसनीय [परमात्मा] (वर्चसा सह) तेज के साथ (मा) मुझ को (आ अगन्) प्राप्त हुआ है ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपनी सर्वशक्तिमत्ता से प्रत्येक प्राणी में व्यापक है, यह विचार कर सब मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषों अनेक धनों की प्राप्ति से ऐश्वर्यवान् होवें ॥ ७ ॥

देवो मणिः सपत्नहा धनसा धनसातये ।
पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नि यच्छतु ॥ ८ ॥

(दधातु) धारयतु (मह्यम्) (औदुम्बरः) म० १ । संहतिस्वीकर्ता (मणिः) प्रशंसनीयः परमेश्वरः (द्रविणानि) धनानि (नि) नित्यम् (यच्छतु) ददातु ॥

७—(उप) समीपे (मा) माम् (औदुम्बरः) म० १ । संहतिस्वीकर्ता (मणिः) प्रशंसनीयः परमेश्वरः (प्रजया) (च) (धनेन) (च) (इन्द्रेण) परमैश्वर्येण (जिन्वितः) जिवि प्रीणने—क्त । प्रेरितः (मणिः) (आ अगन्) आगमत् (मा) माम् (सह) (वर्चसा) तेजसा ॥

देवः । मणिः । सपत्न-हा । धन-साः । धन-सातये ॥ पशोः । अन्नस्य । भूमानम् । गवाम् । स्फातिम् । नि । यच्छतु ॥८॥

भाषार्थ—(देवः) प्रकाशमान (मणिः) प्रशंसनीय, (सपत्नहा) वैरियों का मारने वाला, (धनसाः) धनों का देने वाला [परमात्मा] (धनसातये) धनों के दान के लिये—(पशोः) प्राणियों की और (अन्नस्य) अन्न की (भूमानम्) बहुतायत और (गवाम्) गौओं की (स्फातिम्) बढ़ती (नि) नित्य (यच्छतु) देवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के अनुग्रह से धनों को प्राप्त करके उत्तम रीति से उठाते हैं, वे सदा उन्नति करते हैं ॥ ८ ॥

यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे ।
एवा धनस्य मे स्फातिमा दधातु सरस्वती ॥ ९ ॥
यथा । अग्रे । त्वम् । वनस्पते । पुष्ट्या । सह । जज्ञिषे ॥
एव । धनस्य । मे । स्फातिम् । आ । दधातु । सरस्वती ॥९॥

भाषार्थ—(वनस्पते) हे सेवकों के रक्षक ! [परमेश्वर] (यथा) जिस प्रकार से (त्वम्) तू (अग्रे) पहिले (पुष्ट्या सह) पोषण के साथ (जज्ञिषे) प्रकट हुआ है । (एव) वैसे ही (मे) मुझको (सरस्वती) सरस्वती

८—(देवः) प्रकाशमयः (मणिः) प्रशंसनीयः (सपत्नहा) शत्रुनाशकः (धनसाः) जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । षण सम्भक्तौ—विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इत्यात्वम् । धनानां साता दाता (धनसातये) धन+षण संभक्तौ—क्तिन् । जनसनखनां सञ्झलोः । पा० ६ । ४ । ४२ । इत्यात्वम् । धनानां दानाय (पशोः) बहुवचनस्यैकवचनम् पशूनाम् (भूमानम्) बहुत्वम् (गवाम्) धेनूनाम् (स्फातिम्) समृद्धिम् (नि) नित्यम् (यच्छतु) ददातु ॥

९—(यथा) येन प्रकारेण (अग्रे) आदौ (त्वम्) (वनस्पते) वनानां सेवकानां पालक परमेश्वर (पुष्ट्या) समृद्ध्या (सह) (जज्ञिषे) प्रादुर्भूतोऽसि

[विज्ञानवती विद्या] (धनस्य) धन की (स्फातिम्) बढ़ती (आ) सब ओर से (दधातु) देवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने पहिले से ही सब पोषण पदार्थ उत्पन्न कर दिये हैं, मनुष्य वेद आदि सत्य विद्यायें ग्रहण करके धन को प्राप्त करें ॥ ६ ॥

आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्यम् ।
सिनीवाल्युपा वहादुयं चौदुम्बरो मणिः ॥ १० ॥

आ । मे । धनम् । सरस्वती । पयः-स्फातिम् । च । धान्यम् ॥
सिनीवाली । उप । वहात् । अयम् । च । औदुम्बरः । मणिः १०

भाषार्थ—(सिनीवाली) अन्न देने वाली (सरस्वती) सरस्वती [विज्ञानवती विद्या] (च) और (अयम्) यह (औदुम्बरः) संघटन चाहने वाला (मणिः) प्रशंसनीय [परमात्मा] (मे) मेरे लिये (पयस्फातिम्) दूध की बढ़ती, (च) और (धनम्) धन और (धान्यम्) धान्य [अन्न] (आ) सब ओर से (उप) समीप (वहात्) लावे ॥ १० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्या प्राप्त करते और परमात्मा पर विश्वास करके प्रयत्न करते हैं, वे धन धान्य पाकर सदा प्रसन्न करते हैं ॥ १० ॥

(एव) एवम् (धनस्य) (मे) मह्यम् (स्फातिम्) वृद्धिम् (आ) समन्तात् (दधातु) ददातु (सरस्वती) विज्ञानवती विद्या ॥

१०—(आ) समन्तात् (मे) मह्यम् (धनम्) सुवर्णादिरूपम् (सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (पयस्फानिम) दुग्धस्य वृद्धिम् (च) (धान्यम्) अन्नम् (सिनीवाली) अ० २ । २६ । २ । इणसिञ्जिदीङु० । उ० ३ । २ । षिञ् बन्धने—नक्, ङीप्+वल संवरणे, वल जीवने दाने च—अण्, ङीप् । सिनीवाली सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि वालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती निरु० ११ । ३१ । अन्नदात्री (उप) संहितिको दीर्घः । समीपे (वहात्) प्रापयेत् (अयम्) प्रसिद्धः (च) (औदुम्बरः) म० १ । संहतिस्वीकर्ता (मणिः) प्रशंसनीयः परमेश्वरः ॥

त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयि पुष्टं पुष्टपतिर्जजान । त्वयीमे वाजा द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमस्मत् सहस्वारादरातिममतिं क्षुधं च ॥ ११ ॥

त्वम् । मणीनाम् । अधि-पाः । वृषा । असि । त्वयि । पुष्टम् । पुष्ट-पतिः । जजान ॥ त्वयि । इमे इति । वाजाः । द्रविणानि । सर्वा । औदुम्बरः । सः । त्वम् । अस्मत् । सहस्व । आरात् । अरातिम् । अमतिम् । क्षुधम् । च ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (त्वम्) तू (मणीनाम्) मणियों [प्रशंसनीय पदार्थों] का (अधिपाः) बड़ा राजा और (वृषा) बलवान् (असि) है, (त्वयि) तुझ में ही (पुष्टम्) पोषण को (पुष्टपतिः) पोषण के स्वामी [धनी पुरुष] ने (जजान) प्रकट किया है । (त्वयि) तुझ में ही (इमे) यह (वाजाः) अनेक बल और (सर्वा) सब (द्रविणानि) धन हैं, (सः) सो (औदुम्बरः) संघटन चाहने वाला (त्वम्) तू (अस्मत्) हम से (अरातिम्) अदानशीलता, (अमतिम्) कुमति (च) और (क्षुधम्) भूख को (आरात्) दूर (सहस्व) हटा ॥ ११ ॥

भावार्थ—संसार में जो धनी पुरुष हैं, वे सब परमात्मा का आश्रय लेकर, पुरुषार्थ से धनवान् हुये हैं, यह विचार कर प्रत्येक मनुष्य को धन प्राप्त करके सुपात्र में व्यय, धर्म में सुमति और दुर्भिक्ष आदि के निवारण में दूरदर्शिता रखनी चाहिये ॥ ११ ॥

११—(त्वम्) (मणीनाम्) प्रशंसनीयानां पदार्थानाम् (अधिपाः) महाराजः (वृषा) वीर्यवान् (असि) (त्वयि) (पुष्टम्) पोषणम् (पुष्टपतिः) पोषणस्वामी । धनी पुरुषः (जजान) प्रकटीकृतवान् (त्वयि) (इमे) दृश्यमानाः (वाजाः) बलानि (द्रविणानि) धनानि (सर्वा) सर्वाणि (औदुम्बरः) म० १ । संहतिस्वीकर्ता (सः) तादृशः (त्वम्) (अस्मत्) अस्मत्तः (सहस्व) अभिभव । अपगमय (आरात्) दूरे (अरातिम्) अदानशीलताम् (अमतिम्) कुमतिम् (क्षुधम्) बुभुक्षाम् (च) ॥

ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोऽभि मा सिञ्च वर्चसा ।
तेजोऽसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि ॥१२॥

ग्राम-नीः । असि । ग्राम-नीः । उत्थाय । अभि-सिक्तः ।
अभि । मा । सिञ्च । वर्चसा ॥ तेजः । असि । तेजः । मयि ।
धारय । अधि । रयिः । असि । रयिम् । मे । धेहि ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (ग्रामणीः) समूहों का नेता (असि) है, (उत्थाय) खड़ा होकर तू (ग्रामणीः) समूहों का नेता [है], (अभिषिक्तः) अभिषेक [राज्यतिलक] किया हुआ तू (मा) मुझे (वर्चसा) तेज के साथ (अभि सिञ्च) अभिषिक्त कर। (तेजः) तू तेजः स्वरूप (असि) है, (मयि) मुझ में (तेजः) तेज (धारय) धारण कर, (रयिः) तू धनरूप (असि) है (मे) मेरे लिये (रयिम्) धन (अधि) अधिकायी से (धेहि) स्थापित कर ॥१२॥

भावार्थ—परमात्मा अपने ऐश्वर्य से सब समूहों का राजा महाराजा है। इसी प्रकार सब मनुष्य धर्म के साथ प्रतापी और धनी होकर सुखी होवें ॥ १२ ॥

पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु ।
औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ
रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं त्वाम् ॥ १३ ॥

पुष्टिः । असि । पुष्ट्या । मा । सम् । अङ्ग्धि । गृह-मेधी ।
गृह-पतिम् । मा । कृणु ॥ औदुम्बरः । सः । त्वम् । अस्मासु ।

१२—(ग्रामणीः) समूहानां नेता (असि) (ग्रामणीः) (उत्थाय) उद्गत्य (अभिषिक्तः) अभिषेकं प्राप्तः (मा) माम् (अभिषिञ्च) अभिषिक्तं कुरु (वर्चसा) तेजसा (तेजः) तेजोरूपः (असि) (तेजः) प्रकाशम् (मयि) (धारय) स्थापय (अधि) आधिक्ये (रयिः) धनरूपः (असि) (रयिम्) धनम् (मे) मह्यम् (धेहि) धारय ॥

धेहि । रयिम् । च । नः । सर्व-वीरम् । नि । यच्छ । रायः । पोषाय । प्रति । मुञ्चे । अहम् । त्वाम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (पुष्टिः) वृद्धिरूप (असि) है, (वृद्धया) वृद्धिके साथ (मा) मुझे (सम् अङ्ग्धि) संयुक्त कर, तू (गृहमेधी) घर के काम समझने वाला [है], (मा) मुझे (गृहपतिम्) घर का स्वामी (कृणु) कर । (सः) सो (औदुम्बरः) संघटन चाहने वाला (त्वम्) तू (अस्मासु) हम लोगों के बीच (नः) हम को (सर्ववीरम्) सब को वीर रखने वाला (रयिम्)धन (धेहि) दे,(च) और (नि यच्छ) दृढ़ कर, (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझको (रायः)धन की (पोषाय) वृद्धि के लिये (प्रति मुञ्चे) स्वीकार करता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमात्मा को सर्वभाण्डार और सर्वशक्तिमान् समझ कर मनुष्य अपनी वृद्धि के लिये प्रवृत्ति करते रहें ॥ १३ ॥

अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते । स नः सनिं मधुमतीं कृणोतु रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात् ॥ १४ ॥

अयम् । औदुम्बरः । मणिः । वीरः । वीराय । बध्यते ॥ सः । नः । सनिम् । मधु-मतीम् । कृणोतु । रयिम् । च । नः । सर्व-वीरम् । नि । यच्छात् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (औदुम्बरः) संघटन चाहने वाला, (मणिः)

१३—(पुष्टिः) वृद्धिरूपः (असि) (पुष्ट्या) पोषेण (मा) माम् (सम् अङ्ग्धि) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—लोट् । सम्यग्भाकं कुरु । संयुक्तं कुरु (गृहमेधी) अ० ८।१०।३। गृह+मेधृ वधमेधासङ्गमेषु—णिनि । गृहाणि गृहकार्याणि मेधति जानातीति सः (गृहपतिम्) गृहस्वामिनम् (मा) माम् (कृणु) कुरु (औदुम्बरः) म० १ । संहतिस्वीकर्ता (सः) (त्वम्) (अस्मासु) (धेहि) धारय (रयिम्) धनम् (च) (नः) अस्मभ्यम् (सर्ववीरम्) सर्वे वीरा यस्मात् तादृशम् (नि यच्छ) नियतं कुरु (रायः) धनस्य (पोषाय) वर्धनाय (प्रति मुञ्चे) स्वीकरोमि (अहम्) (त्वाम्) परमात्मानम् ॥

१४—(अयम्) प्रसिद्धः (औदुम्बरः) म० १ । संहतिस्वीकर्ता (मणिः)

प्रशंसनीय (वीरः) वीर [परमात्मा] (वीराय) वीर पुरुष के लिये (बध्यते) धारण किया जाता है। (सः) वह (नः) हमारे लिये (मधुमतीम्) ज्ञानयुक्त (सनिम्) लाभ (कृणोतु) करे, (च) और (नः) हमारे लिये (सर्ववीरम्) सब को वीर बनाने वाला (रयिम्) धन (नि यच्छात्) नियत करे ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के स्थिर कोश और नित्य दान का विचार करके पुरुषार्थ करते हैं, वे स्थिर निधि स्थापित करके सब मनुष्यों को वीर बनाते हैं ॥ १४ ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१—१० ॥ दर्भो देवता ॥ १—३, ६, ७ अनुष्टुप्; ४ आर्ष्यनुष्टुप्; ५ विराडार्ष्यनुष्टुप्; ८ आर्षी बृहती; ९ त्रिष्टुप्; १० विराडार्षी जगती ॥

शत्रूणां पराजयोपदेशः—शत्रुओं के हराने का उपदेश ॥

शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः ।
दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे ॥ १ ॥

शत-काण्डः । दुः-च्यवनः । सहस्र-पर्णः । उत्-तिरः ॥ दर्भः । यः । उग्रः । ओषधिः । तम् । ते । बध्नामि । आयुषे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शतकाण्डः) सैकड़ों सहारे देने वाला, (दुश्च्यवनः) न हटने वाला, (सहस्रपर्णः) सैकड़ों पालनों वाला, (उत्तिरः) उत्कृष्ट, (यः) जो (दर्भः) दर्भ [शत्रुविदारक परमेश्वर वा औषध विशेष] (उग्रः) उग्र

प्रशंसनीयः (वीरः) पराक्रमी परमात्मा (वीराय) पराक्रमिणे पुरुषाय (बध्यते) धार्यते (सः) तादृशः (नः) अस्मभ्यम् (सनिम्) लब्धिम् (मधुमतीम्) ज्ञानयुक्ताम् (कृणोतु) करोतु (रयिम्) धनम् (नः) अस्मभ्यम् (सर्ववीरम्) सर्वेषां वीरकरम् (नि यच्छात्) नियतं कुर्यात् ॥

१—(शतकाण्डः) कडि भेदने रक्षणे च—घञ्। बहुरक्षणोपेतः (दुश्च्यवनः) च्युङ् गतौ—युच्। दुःखेन च्यावनीयः। अनिवारणीयः (सहस्रपर्णः) पॄ पालनपूरणयोः—नप्रत्ययः। अनन्तपालनसामर्थ्योपेतः (उत्तिरः) उत्+तॄ प्लवनतरणयोः—कप्रत्ययः। उत्कृष्टः (दर्भः) अ० १९। २८। १। शत्रुविदा-

(ओषधिः) ओषधिरूप है। (तम्) उसको (ते) तेरे लिये (आयुषे) [दीर्घ] जीवन के लिये (बध्नामि) मैं धारण करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! जैसे परमात्मा अनेक प्रकार सहारा देने वाला दृढ़ स्वभाव है, और जैसे उत्तम औषध से सुख मिलता है, वैसे ही तुम लोग उस जगदीश्वर की शरण में रहकर सब के पालन करने का उपाय करो ॥१॥

नास्य केशान् प्र वपन्ति नोरसि ताडमा घ्नते ।
यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म यच्छति ॥ २ ॥

न । अस्य । केशान् । प्र । वपन्ति । न । उरसि । ताडम् । आ ।
घ्नते ॥ यस्मै । अच्छिन्न-पर्णेन । दर्भेण । शर्म । यच्छति ॥२॥

भाषार्थ—(न) न तो (अस्य) उस [पुरुष] के (केशान्) केशों को (प्र वपन्ति) वे [शत्रु लोग] बखेरते हैं, (न) न (उरसि) छाती पर (ताडम्) चोट (आ घ्नते) लगाते हैं। (यस्मै) जिस [पुरुष] को (अच्छिन्नपर्णेन) अखण्ड पालन वाले (दर्भेण) दर्भ [शत्रुविदारक परमेश्वर] के साथ (शर्म) सुख (यच्छति) वह [कोई मित्र] देता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य माता पिता आचार्य आदि से सुशिक्षा पाकर परमात्मा में दृढ़ होकर उत्साह करता है, उसको संसार में कोई नहीं सता सकता ॥ २ ॥

दिवि ते तूलमोषधे पृथिव्यामसि निष्ठितः ।
त्वया सहस्रकाण्डेनायुः प्र वर्धयामहे ॥ ३ ॥

एकः परमेश्वरः (यः) (उग्रः) प्रचण्डः (ओषधिः) ओषधिरूपः (तम्) (ते) तुभ्यम् (बध्नामि) धारयामि (आयुषे) दीर्घजीवनाय ॥

२—(न) नैव (अस्य) तस्य पुरुषस्य (केशान्) शिरोरुहान् (प्र) प्रकर्षेण (वपन्ति) डुवप बीजसन्ताने। विक्षिपन्ति। विकिरन्ति (न) निषेधे (उरसि) वक्षःस्थले (ताडम्) आघातम् (आ) समन्तात् (घ्नते) मारयन्ति (यस्मै) पुरुषाय (अच्छिन्नपर्णेन) अखण्डितपालनेन (दर्भेण) शत्रुविनाशकेन परमेश्वरेण (सह) (शर्म) सुखम् (यच्छति) ददाति कश्चित् सुहृत् ॥

दिवि । ते । तूलम् । ओषधे । पृथिव्याम् । असि । नि-स्थितः ॥
त्वया । सहस्र-काण्डेन । आयुः । प्र । वर्धयामहे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि [रूप परमात्मा !] (दिवि) सूर्य में (ते) तेरी (तूलम्) पूर्णता है, और तू (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (निष्ठितः) दृढ़ ठहरा हुआ (असि) है । (सहस्रकाण्डेन) सहस्रों सहारा देने वाले (त्वया) तेरे साथ (आयुः) जीवन काल को (प्र वर्धयामहे) हम बढ़ा ले जाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब से ऊंचे और सब से नीचे स्थान में एक रस व्यापक है, उसकी उपासना से मनुष्य यश प्राप्त करें ॥ ३ ॥

तिस्रो दिवो अत्यंतृणत् तिस्र इमाः पृथिवीरुत ।
त्वयाहं दुर्हार्दो जिह्वां नि तृणद्मि वचांसि ॥ ४ ॥

तिस्रः । दिवः । अति । अतृणत् । तिस्रः । इमाः । पृथिवीः । उत ॥ त्वया । अहम् । दुः-हार्दः । जिह्वाम् । नि । तृणद्मि । वचांसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (तिस्रः) तीनों [उत्कृष्ट, निकृष्ट, मध्यम] (दिवः) प्रकाशों को (उत) और (इमाः) इन (तिस्रः) तीनों (पृथिवीः) पृथिवियों को (अति अतृणत्) तू ने आर पार छेदा है । (त्वया) तेरे साथ (अहम्) मैं (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले की (जिह्वाम्) जीभ को

३—(दिवि) सूर्ये (ते) तव (तूलम्) तूल पूरणे—कप्रत्ययः । पूर्णत्वम् (ओषधे) हे ओषधिरूप परमात्मन् (पृथिव्याम्) भूमौ (निष्ठितः) अवस्थितः (त्वया) (सहस्रकाण्डेन) म० १ । अनन्तरक्षणोपेतेन (आयुः) जीवनम् (प्र) प्रकर्षेण (वर्धयामहे) अभिवृद्धं कुर्मः ॥

४—(तिस्रः) त्रिविधाः, उत्तमनिकृष्टमध्यमरूपेण (दिवः) प्रकाशान् (अति) अतीत्य (अतृणत्) उतृदिर् हिंसानादरयोः—लङ्, मध्यमपुरुषस्यैकवचनम् । अतृणः । छिन्नवानसि (तिस्रः) (इमाः) दृश्यमानाः (पृथिवीः) (उत) अपि (त्वया) (अहम्) (दुर्हार्दः) दुष्टहृदयस्य (जिह्वाम्) रसनाम्

और (वचांसि) वचनों को (नि) दृढ़ता से (तृणद्मि) छेदता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा को त्रिकालपति और त्रिलोकीनाथ जानकर पुरुषार्थ करते हैं, वे अन्यथाकारी शत्रुओं को वश में रखते हैं ॥४॥

त्वम॑सि सह॑मानो॒ऽहम॑स्मि॒ सह॑स्वान् ।

उ॒भौ सह॑स्वन्तौ भू॒त्वा स॒पत्ना॑न् सहिषीमहि ॥ ५ ॥

त्वम् । अ॒सि॒ । सह॑मानः । अ॒हम् । अ॒स्मि॒ । सह॑स्वान् ॥

उ॒भौ । सह॑स्वन्तौ । भू॒त्वा । स॒-पत्ना॑न् । स॒हि॒षी॒म॒हि॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (सहमानः) वश में करने वाला (असि) है, और (अहम्) मैं (सहस्वान्) बलवान् (अस्मि) हूं। (उभौ) हम दोनों (सहस्वन्तौ) बलवान् (भूत्वा) होकर (सपत्नान्) विरोधियों को (सहिषीमहि) हम सब वश में करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—वीर पुरुष परमेश्वर का आश्रय लेकर और सब साथियों को मिलाकर शत्रुओं का नाश करे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अ० ३ । १८ । ५ और ऋग्वेद १० । १४५ । ५ ॥

सह॑स्व नो अ॒भिमा॑तिं॒ सह॑स्व पृतनाय॒तः ।

सह॑स्व॒ सर्वा॑न् दु॒र्हार्दः॑ सु॒हार्दो॑ मे ब॒हून् कृ॑धि ॥ ६ ॥

सह॑स्व । नः॒ । अ॒भि-मा॑तिम् । सह॑स्व । पृ॒त॒ना॒-य॒तः॥ सह॑स्व। सर्वा॑न् । दुः॒-हार्दः॑ । सु॒-हार्दः॑ । मे॒ । ब॒हून् । कृ॒धि॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (नः) हमारे (अभिमातिम्) अभिमानी शत्रु को (सहस्व) हरा और (पृतनायतः) सेनायें चढ़ा लाने वालों को (सहस्व)

(नि) दृढम्) (तृणद्मि) छिनद्मि (वचांसि) वचनानि ॥

५—(त्वम्) (असि) (सहमानः) अभिभवनशीलः (अहम्) (अस्मि) (सहस्वान्) बलवान् (उभौ) (सहस्वन्तौ) बलवन्तौ (भूत्वा) (सपत्नान्) विरोधिनः (सहिषीमहि) षह मर्षणे—आशीर्लिङि । अभिभवेम ॥

६—(सहस्व) अभिभव (नः) अस्माकम् (अभिमातिम्) अ० २ । ७ । ४ । अभिमानिनं शत्रुम् (सहस्व) (पृतनायतः) अ० १९ । । २८ । ५ । पृतनाः

हरा। (सर्वान्) सब (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वालों को (सहस्व) हरा, (मे) मेरे लिये (बहून्) बहुत (सुहार्दः) शुभ हृदय वाले लोग (कृधि) कर॥६॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना करके दुष्टों का अपमान और शिष्टों का सन्मान करें ॥ ६ ॥

दुर्भेण देवजातेन दिवि ष्टम्भेन शश्वदित् ।
तेनाहं शश्वतो जनाँ असनं सनवानि च ॥ ७ ॥

दुर्भेण । देव-जातेन । दिवि । स्तम्भेन । शश्वत् । इत् ॥ तेन । अहम् । शश्वतः । जनान् । असनम् । सनवानि । च ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(देवजातेन) विद्वानों में प्रसिद्ध, (दिवि) आकाश में (स्तम्भेन) स्तम्भ रूप, (तेन) उस (दर्भेण) दर्भ [शत्रुविदारक परमेश्वर] के साथ (शश्वत्) सदा (इत्) ही (अहम्) मैं ने (शश्वतः) नित्यवर्तमान (जनान्) पामर लोगों को (असनम्) जीता है, (च) और (सनवानि) जीतूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने सूर्य आदि लोकों को नियम के साथ आकर्षण में रक्खा है, उसकी उपासना करके मनुष्य दुष्टों को दण्ड दे शिष्टों का सत्कार करें ॥ ७ ॥

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥ ८ ॥

सेना आत्मन इच्छतः शत्रून् (सहस्व) (सर्वान्) (दुर्हार्दः) अ० १६ । २८ । २। दुष्टहृदयान् (सुहार्दः) अ० ३ । २८ । ५ । शुभहृदयान् (मे (मह्यम्) (बहून्) (कृधि) कुरु ॥

७—(दर्भेण) शत्रुविदारकेण परमेश्वरेण (देवजातेन) विद्वत्सु प्रसिद्धेन (दिवि) आकाशे (स्तम्भेन) स्तम्भरूपेण (शश्वत्) सर्वदा (इत्) एव (तेन) परमेश्वरेण (अहम्) (शश्वतः) नित्यवर्तमानान् (जनान्) पामरलोकान् (असनम्) षण संभक्तौ—लङ् । जितवानस्मि (सनवानि) षण—लोट् । जयानि (च) ॥

प्रियम् । मा । दुर्भ । कृणु । ब्रह्म-राजन्याभ्याम् । शूद्राय । च । आर्याय । च ॥ यस्मै । च । कामयामहे । सर्वस्मै । च । वि-पश्यते ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक परमेश्वर] (मा) मुझको (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिये (च) और (आर्याय) वैश्य के लिये (च) और (शूद्राय) शूद्र के लिये (च) और (यस्मै) जिस के लिये (कामयामहे) हम चाह करते हैं [उसके लिये], (च) और (सर्वस्मै) प्रत्येक (विपश्यते) विविध प्रकार देखने वाले पुरुष के लिये (प्रियम्) प्रिय (कृणु) कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वरोक्त वेद द्वारा ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे वे समस्त संसार का हित कर सकें ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अ० १९ । ६२ । १ । और यजुर्वेद १८ । ४८ ॥

यो जायमानः पृथिवीमदृंहद् यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च ।
यं बिभ्रतं ननु पाप्मा विवेद स नोऽयं दर्भो वरुणो दिवा कः ॥ ९ ॥

यः । जायमानः । पृथिवीम् । अदृंहत् । यः । अस्तभ्नात् । अन्तरिक्षम् । दिवम् । च ॥ यम् । बिभ्रतम् । ननु । पाप्मा । विवेद । सः । नः । अयम् । दर्भः । वरुणः । दिवा । कः ॥ ९ ॥

८—(प्रियम्) प्रीतिकरम् (मा) माम् (दर्भ) हे शत्रुविदारक परमेश्वर (कृणु) कुरु (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्रह्मणे ब्राह्मणाय राजन्याय क्षत्रियाय च (शूद्राय) मूर्खाय (च) (आर्याय) ऋ गतिप्रापणयोः—ण्यत् । आर्य इति ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां पर्यायवचनम् । अत्र ब्रह्मराजन्यशब्दयोः श्रवणाद् वैश्यवाचकः । वैश्याय (च) (यस्मै) पुरुषाय (च) (कामयामहे) इच्छां कुर्मः तस्मा इति शेषः (सर्वस्मै) (च) (विपश्यते) अन्विष्यते पुरुषाय । दर्शनशीलाय ॥

भाषार्थ—(यः) जिस (जायमानः) प्रकट होते हुये [परमेश्वर] ने (पृथिवीम्) पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़ किया है, (यः) जिसने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (च) और (दिवम्) सूर्य को (अस्तभ्नात्) सहारा है। (यम्) जिस (बिभ्रतम्) पालन करते हुए [परमेश्वर] को (पाप्मा) पापी पुरुष ने (ननु) कभी नहीं (विवेद) जाना है, (सः अयम्) इस ही (वरुणः) श्रेष्ठ (दर्भः) दर्भ [शत्रुविदारक परमेश्वर] ने (नः) हमारे लिये (दिवा) प्रकाश को (कः) बनाया है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने नीचे ऊंचे और मध्य लोकों को बनाकर आकर्षण में रक्खा है, और जो पापियों को भी अन्न आदि पहुंचाता है, उसी जगदीश्वर ने विद्वान् लोगों को ज्ञान का प्रकाश दिया है ॥ ९ ॥

स॒प॒त्न॒हा श॒तका॑ण्डः॒ सह॑स्वा॒नोष॑धीनां प्रथ॒मः सं ब॑भूव । स नो॒ऽयं द॒र्भः परि॑ पातु वि॒श्वत॒स्तेन॑ साक्षीय॒ पृत॑नाः पृतन्य॒तः॥१०॥

स॒प॒त्न॒ऽहा । श॒तऽका॑ण्डः । सह॑स्वान् । ओष॑धीनाम् । प्र॒थ॒मः । सम् । ब॒भू॒व॒ ॥ सः । नः॒ । अ॒यम् । द॒र्भः । परि॑ । पा॒तु॒ । वि॒श्वतः॑ । तेन॑ । सा॒क्षी॒य॒ । पृत॑नाः । पृ॒त॒न्य॒तः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(सपत्नहा) विरोधियों का नाश करने वाला (शतकाण्डः) सैकड़ों सहारे देने वाला (सहस्वान्) महाबली [परमेश्वर] (ओषधीनाम्) ओषधियों [अन्न आदि] का (प्रथमः) पहिला (सम् बभूव) समर्थ हुआ है।

९—(यः) दर्भः परमेश्वरः (जायमानः) प्रादुर्भवन् सन् (पृथिवीम्) (अदृंहत्) दृहि वृद्धौ । दृढीकृतवान् (यः) (अस्तभ्नात्) स्तम्भितवान् । दृढं धारितवान् (अन्तरिक्षम्) (दिवम्) सूर्यम् (च) (यम्) (बिभ्रतम्) पालयन्तं परमेश्वरम् (ननु) नैव (पाप्मा) पापी पुरुषः (विवेद) ज्ञातवान् (सः) तादृशः (नः) अस्मभ्यम् (अयम्) (दर्भः) शत्रुविदारकः परमेश्वरः (वरुणः) श्रेष्ठः (दिवा) आकारो विभक्तेः । प्रकाशम् (कः) करोतेर्लुङ् । अकः । अकार्षीत् ॥

१०—(सपत्नहा) विरोधिनां हन्ता (शतकाण्डः) म० १ । बहुरक्षणोपेतः (सहस्वान्) बलवान् (ओषधीनाम्) अन्नादीनाम् (प्रथमः) प्रथमभावी

(सः अयम्) वही (दर्भः) दर्भ [शत्रुविदारक परमेश्वर] (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (परि पातु) पालता रहे, (तेन) उसी [परमेश्वर] के साथ (पृतनाः) सेनाओं को और (पृतन्यतः) सेना चढ़ा लाने वालों को (साचीय) मैं हरा दूं ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने सब विघ्नों को हटाकर अनन्त उपकार किये हैं, हे मनुष्यो ! उसी की उपासना करके शत्रुओं का नाश करो ॥ १० ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१—५ ॥ दर्भो देवता ॥ १ विराडार्षी जगती; २ त्रिष्टुप्, ३ आर्षी पङ्क्ति, ४ विराडार्षी पङ्क्तिः, ५ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

उन्नतिकरणोपदेशः—उन्नति करने का उपदेश ॥

सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम् । स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतो देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः ॥ १ ॥

सहस्र-अर्घः । शत-काण्डः । पयस्वान् । अपाम् । अग्निः । वीरुधाम् । राज-सूयम् ॥ सः । नः । अयम् । दर्भः । परि । पातु । विश्वतः । देवः । मणिः । आयुषा । सम् । सृजाति । नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सहस्रार्घः) सहस्रों पूजा वाला, (शतकाण्डः) सैकड़ों सहारे देने वाला, (पयस्वान्) अन्नवाला, (अपाम्) जलों की (अग्निः) अग्नि [के समान व्यापक] (वीरुधाम्) ओषधियों के (राजसूयम्) राजसूय [बड़े

(सं बभूव) समर्थो बभूव (सः) तथाभूतः (नः) अस्मान् (अयम्) प्रसिद्धः (परि) परितः (पातु) रक्षतु (विश्वतः) सर्वतः (तेन) परमेश्वरेण सह (साक्षीय) षह अभिभवे आशीर्लिङ् । अभिभूयासम् । अभिभवानि (पृतनाः) सेनाः (पृतन्यतः) पृतना—क्यच्—शतृ । पृतनां सेनामिच्छतः शत्रून् ॥

१—(सहस्रार्घः) अर्ह पूजायाम्—घञ् । बहुपूजनीयः (शतकाण्डः) ड० ३ । ६२ । १ । बहुरक्षणोपेतः (पयस्वान्) अन्नवान्—निघ० २ । ७

यज्ञ के समान उपकारी] है । (सः अयम्) वही (दर्भ) दर्भ [शत्रुविदारक परमेश्वर] (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (परि पातु) पालता रहे, (देवः) प्रकाशमान (मणिः) प्रशंसनीय [वह परमेश्वर] (नः) हमें (आयुषा) [उत्तम] जीवन के साथ (सं सृजाति) संयुक्त करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो जल के भीतर अग्नि के समान सर्वव्यापक परमेश्वर सृष्टि की अनेक प्रकार रक्षा करता है, मनुष्य उसकी भक्ति से प्रयत्न पूर्वक अपने जीवन को सुफल बनावें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का तीसरा पाद आ चुका है—सू० ३२ म० १० ॥

घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान् भूमिदृंहोऽच्युतश्च्यावयिष्णुः। नुदन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वन् दर्भा रोह महतामिन्द्रियेण ॥२॥

घृतात् । उत्-लुप्तः । मधु-मान् । पयस्वान् । भूमि-दृंहः । अच्युतः । च्यवयिष्णुः ॥ नुदन् । स-पत्नान् । अधरान् । च । कृण्वन् । दर्भ । आ । रोह । महताम् । इन्द्रियेण ॥ २ ॥

भाषार्थ—(घृतात्) प्रकाश से (उल्लुप्तः) ऊपर खींचा गया, (मधुमान्) ज्ञानवान्, (पयस्वान्) अन्नवान्, (भूमिदृंहः) भूमि का दृढ़ करने वाला, (अच्युतः) अटल, (च्यावयिष्णुः) शत्रुओं को हटा देने वाला, (सपत्नान्) विरोधियों को (नुदन्) निकालता हुआ (च) और (अधरान्) नीचे (कृण्वन्) करता हुआ तू, (दर्भ) हे दर्भ ! [शत्रुविदारक परमेश्वर] (महताम्)

(अपाम्) जलानां मध्ये (अग्निः) अग्निसमानसर्वव्यापकः (वीरुधाम्) ओषधीनाम् (राजसूयम्) राजसूययज्ञसमानमहोपकारकः (देवः) प्रकाशमानः (मणिः) प्रशस्तः परमेश्वरः (आयुषा) उत्तमजीवनेन (सं सृजाति) संयोजयेत् (नः) अस्मान् । अन्यत् पूर्ववत्—अ० १९ । ३२ । १० ॥

२—(घृतात्) प्रकाशात् (उल्लुप्तः) उद्धृतः (मधुमान्) ज्ञानवान् (पयस्वान्) अन्नवान् (भूमिदृंहः) पृथिव्या दृढीकर्ता (अच्युतः) अचलः (च्यावयिष्णुः) णेश्छन्दसि । पा० ३ । २ । १३७ । च्युङ् गतौ—णिच्, इष्णुच् । च्यावयिता । पातयिता (नुदन्) प्रेरयन् (सपत्नान्) विरोधकान् (अधरान्)

बड़ों के (इन्द्रियेण) ऐश्वर्य के साथ (आ) सब ओर से (रोह) प्रकट हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकाशस्वरूप अविनाशी परमात्मा ने विघ्नों को हटाकर पृथिवी आदि लोक रचे और धारण किये है, उसी के आश्रय से सब लोग ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ५ । २८ । १४ और प्रथमपाद आगे है—अ० १६ । ७६ । ६ ॥

त्वं भूमिमत्येष्योजंसा त्वं वेद्यां सीदसि चारुरध्वरे ।
त्वां पुवित्रमृषयोऽभरन्त त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मत् ॥ ३ ॥

त्वम् । भूमिम् । अति । एषि । ओजसा । त्वम् । वेद्याम् । सीदसि । चारुः । अध्वरे ॥ त्वाम् । पुवित्रम् । ऋषयः । अभरन्त । त्वम् । पुनीहि । दुः-इतानि । अस्मत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (त्वम्) तू (ओजसा) पराक्रम से (भूमिम्) भूमि को (अति एषि) पार कर जाता है, (त्वम्) तू (चारुः) शोभायमान होकर (अध्वरे) हिंसा रहित यज्ञ में (वेद्याम्) वेदी पर (सीदसि) बैठता है । (त्वाम् पवित्रम्) तुझ पवित्र को (ऋषयः) ऋषियों [तत्त्वदर्शियों] ने (अभरन्त) धारण किया है, (त्वम्) तू (दुरितानि) संकटों को (अस्मत्) हम से (पुनीहि) शुद्ध कर ॥ ३ ॥

नीचान् (च) (कृण्वन्) कुर्वन् (दर्भ) हे शत्रुविदारक परमेश्वर (आ) समन्तात् (रोह) प्रादुर्भव (महताम्) पूजनीयानाम् (इन्द्रियेण) ऐश्वर्येण ॥

३—(त्वम्) (भूमिम्) (अति) अतीत्य (एषि) गच्छसि (ओजसा) पराक्रमेण (त्वम्) (वेद्याम्) यज्ञप्रदेशे (सीदसि) तिष्ठसि (चारुः) शोभायमानः (अध्वरे) हिंसारहिते यज्ञे (त्वाम्) (पवित्रम्) शुद्धम् (ऋषयः) तत्त्वदर्शिनः (अभरन्त) धारितवन्तः (त्वम्) (पुनीहि) शोधय (दुरितानि) महादुःखानि (अस्मत्) अस्मत्तः ॥

भावार्थ—वह परमात्मा पृथिवी आदि अनन्त लोकों का अद्वितीय सर्वोपरि शासक है, हे मनुष्यो ! उसी की आज्ञा मानकर दुष्कर्मों को त्याग अपने को शुद्ध बनाओ ॥ ३ ॥

तीक्ष्णो राजा॑ विषास॒ही र॑क्षो॒हा वि॒श्वच॑र्षणिः ।
ओजो॑ दे॒वानां॒ बल॑मु॒ग्रमे॒तत् तं ते॑ बध्नामि ज॒रसे॑ स्व॒स्तये॑ ॥४॥

ती॒क्ष्णः । राजा॑ । वि॒ऽस॒स॒हिः । र॒क्षः॒ऽहा । वि॒श्वऽच॑र्षणिः ॥
ओजः॑ । दे॒वाना॑म् । बल॑म् । उ॒ग्रम् । ए॒तत् । तम् । ते॒ ।
ब॒ध्ना॒मि॒ । ज॒रसे॑ । स्व॒स्तये॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (तीक्ष्णः) तीक्ष्ण (राजा) राजा, (विषासहिः) सदा विजयी, (रक्षोहा) राक्षसों का नाश करने हारा, (विश्वचर्षणिः) सर्वद्रष्टा और (देवानाम्) विद्वानों का (ओजः) पराक्रम और (एतत्) यह [दृश्यमान] (उग्रम्) उग्र (बलम्) बल है, (तम्) उस [परमात्मा] को (ते) तेरी (जरसे) स्तुति बढ़ाने [वा निर्बलता हटाने] के लिये और (स्वस्तये) मङ्गल के लिये (बध्नामि) मैं धारण करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् सर्वदर्शक जगदीश्वर को हृदय में धारण करके उपाय के साथ निर्बलता हटावें और सामर्थ्य बढ़ाकर स्तुति प्राप्त करते हुए आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

द॒र्भेण॒ त्वं कृ॑णवद् वी॒र्या॑णि द॒र्भं बिभ्र॑दा॒त्मना॒ मा व्य॑थिष्ठाः ।
अ॒ति॒ष्ठाया॒ वर्च॑सा॒धान्या॒न्त्सूर्य॑ इ॒वा भा॑हि प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥५॥

४—(तीक्ष्णः) तीव्रः (राजा) शासकः (विषासहिः) अ० १ । २४ । ६ । षह अभिभवे—यङ्—कि । अतिशयेन विजयी (रक्षोहा) राक्षसानां हन्ता (विश्वचर्षणिः) अ० ४ । ३२ । ४ । सर्वद्रष्टा (ओजः) पराक्रमः (देवानाम्) विदुषाम् (बलम्) सामर्थ्यम् (उग्रम्) प्रचण्डम् (एतत्) दृश्यमानम् (तम्) परमात्मानम् (ते) तव (बध्नामि) धारयामि (जरसे) जरां स्तुतिं प्राप्तुम् । जरां निर्बलतां परिहर्तुम् (स्वस्तये) मङ्गलाय ॥

दुर्भेणं । त्वम् । कृणवत् । वीर्याणि । दुर्भम् । बिभ्रंत् ।
आत्मना । मा । व्यथिष्ठाः ॥ अति-स्थाय । वर्चसा । अर्ध ।
अन्यान् । सूर्यः-इव । आ । भाहि । प्र-दिशंः । चतस्रः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वम्) तू (दर्भेण) दर्भ [शत्रुविदारक परमेश्वर] के साथ (वीर्याणि) वीरतायें (कृणवत्) करता रहे और (दर्भम्) दर्भ [शत्रुविदारक परमेश्वर] को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ तू (आत्मना) अपने आत्मा से (मा व्यथिष्ठाः) मत व्याकुल हो । (अध) और (वर्चसा) तेज के साथ (अन्यान्) दूसरों से (अतिष्ठाय) बढ़ जाकर, (सूर्यः इव) सूर्य के समान (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) बड़ी दिशाओं में (आ) सर्वथा (भाहि) प्रकाशमान हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा को हृदय में धारण करके आत्मबल बढ़ाते हुए पराक्रमी होकर सब संसार में कीर्त्ति पावें ॥ ५ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—१० । जङ्गिडो देवता ॥ १, २, ८ निचृदनुष्टुप्; ३—७, ९, १० अनुष्टुप् ॥

सर्वरक्षणोपदेशः—सब की रक्षा का उपदेश ॥

५—(दर्भेण) शत्रुविदारकेण परमेश्वरेण (त्वम्) (कृणवत्) लेटि मध्यमपुरुषस्य, प्रथमपुरुषः । त्वं कृणवः । कुर्याः (वीर्याणि) वीरकर्माणि (दर्भम्) शत्रुविदारकं परमात्मानम् (बिभ्रत्) धारयन् (आत्मना) स्वात्मबलेन (मा व्यथिष्ठाः) व्यथ ताडने । व्यथां मा कुरु (अतिष्ठाय) अतिक्रम्य । अभिभूय (वर्चसा) तेजसा (अन्यान्) शत्रून् (सूर्यः) (इव) यथा (आ) समन्तात् (भाहि) दीप्यस्व (प्रदिशः) अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । प्रकृष्टाः प्रागादिदिशाः (चतस्रः) चतुःसंख्याकाः ॥

जुङ्गिडोऽसि जङ्गिडो रक्षितासि जङ्गिडः ।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वं रक्षतु जङ्गिडः ॥ १ ॥

जङ्गिडः । असि । जङ्गिडः । रक्षिता । असि । जङ्गिडः ॥ द्वि-पात् । चतुः-पात् । अस्माकम् । सर्वम् । रक्षतु । जङ्गिडः ॥१॥

भाषार्थ—[हे औषध !] तू (जङ्गिडः) जङ्गिड [संचार करने वाला] (जङ्गिडः) जङ्गिड [संचार करने वाला औषध] (असि) है, तू (जङ्गिडः) जङ्गिड [संचार करने वाला] (रक्षिता) रक्षक (असि) है । (जङ्गिडः) जङ्गिड [संचार करने वाला औषध] (अस्माकम्) हमारे (सर्वम्) सब (द्विपात्) दोपाये और (चतुष्पात्) चौपाये की (रक्षतु) रक्षा करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जङ्गिड उत्तम औषध विशेष शरीर में प्रविष्ट होकर रुधिर का संचार करके रोग को मिटाता है, मनुष्य उसके सेवन से स्वास्थ्य बढ़ावें ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान करो—अ० २ । ४ । १—६ ॥

या गृत्स्यस्त्रिपञ्चाशीः शतं कृत्याकृतश्च ये ।
सर्वान् विनक्तु तेजसोऽरसां जङ्गिडस्करत् ॥ २ ॥

याः । गृत्स्यः । त्रि-पञ्चाशीः । शतम् । कृत्या-कृतः । च । ये ॥ सर्वान् । विनक्तु । तेजसः । अरसान् । जङ्गिडः । करत् ॥२॥

भाषार्थ—(याः) जो (त्रिपञ्चाशीः) तीन बार पचास [डेढ़ सौ अर्थात् असंख्य] (गृत्स्यः) ललचाने वाली [पीड़ायें] (च) और (ये) जो

१—(जङ्गिडः) अ० २ । ४ । १ । अजिरशिशिरशिथिल० । उ० १ । ५३ । गमेर्यङ्लुगन्तात्-किरच् स च डित्, रस्य डः । जङ्गमः । रुधिरसंचारक औषध-विशेषः (असि) (जङ्गिडः) (रक्षिता) रक्षकः (असि) (जङ्गिडः) (द्विपात्) पादद्वयेपेतं प्राणिजातम् (चतुष्पात्) पादचतुष्टयोपेतं गोमहिष्यादिकम् (अस्माकम्) (सर्वम्) (रक्षतु) पालयतु (जङ्गिडः) ॥

२—(याः) (गृत्स्यः) गृधिपण्योर्दकौ च । उ० ३ । ६६ । गृधु अभिकाङ्क्षायाम्—सप्रत्ययः, कित् धस्य दः, ङीप् । गर्धनशीलाः पीडाः (त्रिपञ्चाशीः)

(शतम्) सौ [बहुत] (कृत्याकृतः) दुःख करने वाले [रोग] हैं । (जङ्गिडः) जङ्गिड [संचार करने वाला औषध] (सर्वान्) उन सब [रोगों] को (तेजसः) [उनके] प्रभाव से (विनक्तु) अलग करे और (अरसान्) नीरस [निष्प्रभाव] (करत्) कर देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे जङ्गिड औषध अनेक रोगों को नाश करता है, वैसे ही विद्वान् जन आत्मिक और शारीरिक क्लेशों को हटावें ॥ २ ॥

अरसं कृत्रिमं नादमरसाः सप्त विस्रसः ।
अपेतो जङ्गिडामतिमिषुमस्तेव शातय ॥ ३ ॥

अरसम् । कृत्रिमम् । नादम् । अरसाः । सप्त । वि-स्रसः ॥ अप । इतः । जङ्गिड । अमतिम् । इषुम् । अस्ताऽइव । शातय ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अरसम्) नीरस [निष्प्रभाव], (कृत्रिमम्) बनावटी (नादम्) ध्वनि को, और (अरसाः) नीरस [निष्प्रभाव] (सप्त) सात [दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख में की] (विस्रसः) विचल करने वाली [निर्बलताओं] को और (अमतिम्) दुर्बुद्धि को (इतः) इस [रोगी] से, (जङ्गिड) हे जङ्गिड ! [संचार करने वाले औषध] (अस्ता इव) धनुर्धारी के समान (इषुम्) बाण को (अप शातय) दूर गिरा दे ॥ ३ ॥

पूरणार्थे डट् । टित्वाद् ङीप् । त्रिवारं पञ्चाशतसंख्याकाः । असंख्याः (कृत्याकृतः) कृती छेदने—क्यप्, टाप्+करोतेः—क्विप् । उपद्रवकर्तारो रोगाः (च) (ये) (सर्वान्) समस्तान् रोगान् (विनक्तु) विचिर् पृथग्भावे । पृथक् करोतु (तेजसः) प्रभावात् (अरसान्) नीरसान् । निष्प्रभावान् (जङ्गिडः) म० १ । जङ्गमः । संचारकः (करत्) कुर्यात् ॥

३—(अरसम्) निष्प्रभावम् (कृत्रिमम्) क्रियया निर्वृत्तम् (नादम्) ध्वनिम् (अरसाः) निष्प्रभावः (सप्त) सप्तसंख्याकाः । शीर्षण्यसप्तगोलकसम्बन्धिनीः (विस्रसः) स्रंसेः क्विप् । विचालनशीला निर्बलताः (अप) दूरे (इतः) अस्मात् । रुग्णात् (जङ्गिड) म० १ । हे संचारकौषध (अमतिम्) दुर्बुद्धिम् (इषुम्) बाणम् (अस्ता) इषुक्षेप्ता (इव) यथा (शातय) शद्लृ शातने—णिचि लोट् । नाशय । अपगमय ॥

भावार्थ—रोग के कारण से जो शब्द में, इन्द्रियों में और बुद्धि में विकार हो जाता है, वह जङ्गिड ओषधि के सेवन से अच्छा होता है ॥ ३ ॥

कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः ।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ४ ॥

कृत्या-दूषणः । एव । अयम् । अथो इति । अराति-दूषणः ॥
अथो इति । सहस्वान् । जङ्गिडः । प्र । नः । आयूंषि ।
तारिषत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [पदार्थ] (एव) निश्चय करके (कृत्यादूषणः) पीड़ाओं का नाश करने वाला (अथो) और भी (अरातिदूषणः) कंजूसी मिटाने वाला है। (अथो) और भी (सहस्वान्) वह महाबली (जङ्गिडः) जङ्गिड [संचार करने वाला औषध] (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्र तारिषत्) बढ़ावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम औषध जङ्गिड के सेवन से रोगों का नाश करके आत्मिक और शारीरिक स्वास्थ्य बढ़ावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० २ । ४ । ६ ॥

स जङ्गिडस्य महिमा परि णः पातु विश्वतः ।
विष्कन्धं येन सासह संस्कन्धमोज ओजसा ॥ ५ ॥

सः । जङ्गिडस्य । महिमा । परि । नः । पातु । विश्वतः ॥
वि-स्कन्धम् । येन । ससह । सम्-स्कन्धम् । ओजः । ओजसा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जङ्गिडस्य) जङ्गिड [संचार करने वाले औषध] की

४—(कृत्यादूषणः) पीडानां खण्डयिता (एव) (अयम्) प्रसिद्धः (अथो) अपि च (अरातिदूषणः) अदानशीलताया नाशकः (अथो) (सहस्वान्) बलवान् (जङ्गिडः) म० १। संचारक औषधविशेषः (नः) अस्माकम् (आयूंषि) जीवनानि (प्र तारिषत्) प्रवर्धयेत् ॥

५—(सः) पूर्वोक्तः (जङ्गिडस्य) संचारकमहौषधस्य (महिमा) मह-

(सः) वह (महिमा) महिमा (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (परि पातु) पालती रहे। (येन) जिस [महिमा] से (ओजः) पराक्रम रूप उस [जङ्गिड] ने (ओजसा) बलपूर्वक (विष्कन्धम्) विष्कन्ध [विशेष सुखाने वाले वात रोग] को और (संस्कन्धम्) संस्कन्ध [सब शरीर में व्यापने वाले महावात रोग] को (ससह) दबाया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जङ्गिड औषध के उपयोग से सब प्रकार के वात रोग मिटते हैं ॥ ५ ॥

त्रिष्ट्वा देवा अंजनयन् निष्ठितं भूम्यामधि।

तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः ॥ ६ ॥

त्रिः। त्वा। देवाः। अजनयन्। नि-स्थितम्। भूम्याम्। अधि ॥ तम्। ऊं इति। त्वा। अङ्गिराः। इति। ब्राह्मणाः। पूर्व्याः। विदुः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे औषध !] (देवाः) विद्वानों ने (भूम्याम्) भूमि में (अधि) भले प्रकार (निष्ठितम्) जमे हुये (त्वा) तुझ को (त्रिः) तीनबार [जोतने, बोने और सींचने से] (अजनयन्) उत्पन्न किया है। (उ) और (पूर्व्याः) प्राचीन (ब्राह्मणाः) विद्वान् वैद्य लोग (तम् त्वा) उस तुझ को (विदुः) जानते हैं—(अङ्गिराः इति) कि यह अङ्गिरा [बड़ा व्यापन शील] है॥६॥

त्वम् (नः) अस्मान् (परिपातु) पालयतु (विश्वतः) सर्वतः (विष्कन्धम्) वि+स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—घञ्, दस्य धः। विशेषेण शोषकं वातरोगम् (येन) महिम्ना (ससह) अभिबभूव (संस्कन्धम्) समस्तशरीरव्यापकं वातरोगम् (ओजः) पराक्रमरूपो जङ्गिडः (ओजसा) प्रभावेण ॥

६—(त्रिः) त्रिवारम्। कर्षणवपनसेचनेन (त्वा) त्वाम् (देवाः) विद्वांसः (अजनयन्) उत्पादयन् (निष्ठितम्) दृढं स्थितम् (भूम्याम्) पृथिव्याम् (अधि) अधिकारपूर्वकम् (तम्) तादृशम् (उ) च (त्वा) त्वाम् (अङ्गिराः) अ० २। १२। ४। अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च। उ० ४। २३६। अगि गतौ—असि, इरुडागमः। व्यापनशीलः (इति) वाक्यपूरणः (ब्राह्मणाः) विद्वांसो वैद्याः (पूर्व्याः) पूर्वजाः (विदुः) जानन्ति ॥

भावार्थ—बड़े बड़े वैद्य लोग जङ्गिड औषध के प्रभाव को सदा से जानते और उसकी प्राप्ति का उपाय करते रहे हैं ॥ ६ ॥

न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः ।
विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ ७ ॥

न । त्वा । पूर्वाः । ओषधयः । न । त्वा । तरन्ति । याः । नवाः ॥
वि-बाधः । उग्रः जङ्गिडः । परि-पानः । सु-मङ्गलः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (त्वा) तुझ से (पूर्वाः) पहिली और (न) न (त्वा) तुझ से (याः) जो (नवाः) नवीन (ओषधयः) ओषधें हैं, (तरन्ति) वे बढ़ कर हैं । (जङ्गिडः) जङ्गिड [संचारक औषध] (विबाधः) [रोगों का] विशेष रोकने वाला, (उग्रः) उग्र (परिपाणः) सर्वथा रक्षक और (सुमङ्गलः) बड़ा मङ्गलकारी है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जङ्गिड औषध सब औषधों में श्रेष्ठ और बड़ा स्वास्थ्यकारक है ॥ ७ ॥

अथोपदान भगवो जङ्गिडामितवीर्य ।
पुरा त उग्रा ग्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ ॥ ८ ॥

अथ । उप-दान । भग-वः । जङ्गिड । अमित-वीर्य ॥ पुरा ।
ते । उग्राः । ग्रसते । उप । इन्द्रः । वीर्यम् । ददौ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अथ) और, (उपदान)हे ग्रहण करने योग्य ! (भगवः) हे ऐश्वर्यवान् ! (अमितवीर्य) हे अपरिमित सामर्थ्य वाले ! (जङ्गिड) हे

७—(न) निषेधे (त्वा) (पूर्वाः) आद्याः (न) (त्वा) (तरन्ति) अभिभवन्ति (याः) ओषधयः (नवाः) नूतनाः (विबाधः) विशेषेण बाधकः (उग्रः) प्रचण्डः (जङ्गिडः) म० १ । संचारक औषधविशेषः (परिपाणः) सर्वतो रक्षकः (सुमङ्गलः) बहुमङ्गलकरः ॥

८—(अथो) अपि च (उपदान) हे स्वीकरणीय (भगवः) हे ऐश्वर्यवन् (जङ्गिड) म० १ । हे संचारशील महौषध (अमितवीर्य) हे महाप्रभाव

जङ्गिड ! [संचार करने वाले औषध] (उग्राः) तेजस्वी लोग (ते) तेरा (ग्रसते) ग्रास करते हैं, [इस लिये] (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर] ने (पुरा) पहिले काल में [तुझे] (वीर्यम्) सामर्थ्य (उप ददौ) दिया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने यह विचार कर कि जङ्गिड औषध सर्वोपकारी होवे, उसको पहिले ही से बड़ा प्रभावशाली बनाया है ॥ ८ ॥

उग्र इत् ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ ।
अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे ॥ ९ ॥

उग्रः । इत् । ते । वनस्पते । इन्द्रः । ओज्मानम् । आ । दधौ ॥ अमीवाः । सर्वाः । चातयन् । जहि । रक्षांसि । ओषधे ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(वनस्पते) हे वनस्पति ! [सेवा करने वालों के रक्षक] (ते) तुझ को (उग्रः) उग्र (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर] ने (इत्) ही (ओज्मानम्) बल (आ) सब ओर से (दधौ) दिया है। (ओषधे) हे ओषधि ! (सर्वाः) सब (अमीवाः) पीड़ाओं को (चातयन्) नाश करता हुआ तू (रक्षांसि) राक्षसों [रोग जन्तुओं] को (जहि) मार ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य जङ्गिड औषध के सेवन से सब रोगों को नाश करके रोग जन्तुओं का भी नाश करें ॥ ९ ॥

(पुरा) पूर्वकाले (ते) तव (उग्राः) तेजस्विनः पुरुषाः (ग्रसते) अदादिः । ग्रासं कुर्वन्ति । सेवन्ते (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (वीर्यम्) प्रभावम् (उप ददौ) प्रदत्तवान् ॥

९—(उग्रः) प्रचण्डः (ते) तुभ्यम् (वनस्पते) हे वनानां सेवकानां रक्षक (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (ओज्मानम्) उब्ज आर्जवे—मनिन्, बलोपः, यद्वा ओज बले—मनिन् । सामर्थ्यम् (आ) समन्तात् (दधौ) ददौ (अमीवाः) पीडाः (सर्वाः) (चातयन्) नाशयन् (जहि) मारय (रक्षांसि) राक्षसान् । रोगजन्तून् (ओषधे) ॥

आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम् ।
तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥ १० ॥

आ-शरीकम् । वि-शरीकम् । बलासम् । पृष्टि-आमयम् ॥
तक्मानम् । विश्व-शारदम् । अरसान् । जङ्गिडः । करत् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(आशरीकम्) आशरीक [शरीर कुचल डालने वाले रोग] को (विशरीकम्) विशरीक [शरीर तोड़ डालने वाले रोग] को, (बलासम्) बलास [बल के गिराने वाले सन्निपात कफ आदि रोग] को, (पृष्ट्यामयम्) पसली [वा छाती] की पीड़ा को, (विश्वशारदम्) सब शरीर में चकत्ते करने वाले (तक्मानम्) जीवन के कष्ट देने वाले ज्वर को [इन सब रोगों को] (जङ्गिडः) जङ्गिड [संचार करने वाला औषध] (अरसान्) नीरस [निष्प्रभाव] (करत्) करे ॥ १० ॥

भावार्थ—जङ्गिड औषध के सेवन से शरीर के अनेक रोग निष्प्रभाव हो जाते हैं ॥ १० ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१—५ ॥ जङ्गिडो देवता ॥ १, ५ अनुष्टुप्; २ निचृदनुष्टुप्; ३ निचृत्पथ्या पङ्क्तिः; ४ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

सर्वरक्षोपदेशः—सब की रक्षा का उपदेश ॥

१०—(आशरीकम्) कपिदूषिभ्यामीकन् । उ० ४ । १६ । आङ्+शॄ हिंसायाम्—ईकन् । सम्यक् शरीरस्य मर्दनशीलम् (विशरीकम्) विशेषेण शरीरस्य खण्डयितारम् (बलासम्) अ० ४ । ६ । ८ । बल+असु क्षेपणे-अण् । बलस्य क्षेप्तारम् । सन्निपातश्लेष्मविकारम् (पृष्ट्यामयम्) अ० २ । ७ । ५ । पृषु सेचने क्तिच् । पृष्टेः पर्शुस्थानो वक्षःस्थलस्य वा आमयं रोगम् (तक्मानम्) अ० १ । २५ । १ । तकि कृच्छ्रजीवने-मनिन् । कृच्छ्रजीवनकारिणं ज्वरम् (विश्वशारदम्) अ० ६ । ८ । ६ । शार दौर्बल्ये-अच्, यद्वा शॄ हिंसायाम्-घञ्+ददातेः-कप्रत्ययः । सर्वस्मिन् शरीरे कर्बुरवर्णं ददातीति तम् (अरसान्) निष्प्रभावान् (जङ्गिडः) म० १ । औषधविशेषः (करत्) कुर्यात् ॥

इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः ।
देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम् ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । नाम । गृह्णन्तः । ऋषयः । जङ्गिडम् । ददुः ॥
देवाः । यम् । चक्रुः । भेषजम् । अग्रे । विस्कन्ध-दूषणम् ॥१

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा] का (नाम) नाम (गृह्णन्तः) लेते हुये (ऋषयः) ऋषियों [तत्त्वदर्शियों] ने (जङ्गिडम्) जङ्गिड [संचार करने वाले औषध] को (ददुः) दिया है । (यम्) जिसको (देवाः) विद्वानों ने (अग्रे) पहिले से (विष्कन्धदूषणम्) विष्कन्ध [विशेष सुखाने वाले वात रोग] का मिटाने वाला (भेषजम्) औषध (चक्रुः) किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—तत्त्वदर्शी वैद्यों ने परमेश्वर की सृष्टि में खोज लगाते लगाते जङ्गिड औषध को बड़ा अद्भुत माना है ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान करो गत सूक्त से तथा-अथर्व का० २ । ४ से ॥

स नो रक्षतु जङ्गिडो धनपालो धनेव ।
देवा यं चक्रुर्ब्राह्मणाः परिपाणमरातिहम् ॥ २ ॥

सः । नः । रक्षतु । जङ्गिडः । धन-पालः । धना-इव ॥
देवाः । यम् । चक्रुः । ब्राह्मणाः। परि-पानम् । अराति-हम् २

भाषार्थ—(सः) वह (जङ्गिडः) जङ्गिड [संचार करने वाला औषध] (नः) हमारी (रक्षतु) रक्षा करे, (एव) जैसे (धनपालः) धन-

१—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमेश्वरस्य (नाम) (गृह्णन्तः) उच्चारयन्तः (ऋषयः) तत्त्वदर्शिनः (जङ्गिडम्)।सू० ३४। १ । संचारशीलं महौषधविशेषम् (ददुः) दत्तवन्तः (देवाः) विद्वांसः (यम्) जङ्गिडम् (चक्रुः) कृतवन्तः (भेषजम्) औषधम् (अग्रे) आदौ (विष्कन्धदूषणम्) सू० ३४ । ५ । विशेषेण शोषकस्य वातरोगस्य खण्डयितारम् ॥

२—(सः) तादृशः (नः) अस्मान् (रक्षतु) पालयतु (जङ्गिडः) औषधविशेषः (धनपालः) धनरक्षकः । कोशाध्यक्षः (धना) धनानि (इव) यथा

रक्षक (धना) धनों की । (यम्) जिस [औषध] को (देवाः) कामनायोग्य (ब्राह्मणाः) वेदज्ञानियों ने (अरातिहम्) शत्रुनाशक (परिपाणम्) महारक्षक (चक्रुः) किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के परीक्षित औषध जङ्गिड का सेवन करके रोगों से अपनी रक्षा करें, जैसे कोशाध्यक्ष हानि से कोश की रक्षा करता है॥२॥

दुर्हार्दः संघोरं चक्षुः पापकृत्वानमागमम् । तांस्त्वं सहस्रचक्षो प्रतीबोधेन नाशय परिपाणोऽसि जङ्गिडः ॥ ३ ॥

दुः-हार्दः । सम्-घोरम् । चक्षुः । पाप-कृत्वानम् । आ । अगमम् ॥ तान् । त्वम् । सहस्रचक्षो इति सहस्र-चक्षो । प्रति-बोधेन । नाशय । परि-पानः । असि । जङ्गिडः ॥३॥

भाषार्थ—(दुर्हार्दः) कठोर हृदय वालों को, (संघोरम्) बड़े भयानक (चक्षुः) नेत्र को, और (पापकृत्वानम्) पाप करने वाले पुरुष को (आ अगमम्) मैं ने पाया है । (सहस्रचक्षो) हे सहस्र प्रकार से देखे गये ! (त्वम्) तू (तान्) उन को (प्रतिबोधेन) सावधानी से (नाशय) नाश कर, तू (परिपाणः) महारक्षक (जङ्गिडः) जङ्गिड [संचार करने वाला औषध] (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य जङ्गिड का सेवन करते हैं, वे महाबली होकर शत्रुओं का नाश करते हैं ॥ ३ ॥

(देवाः) कमनीयाः (यम्) जङ्गिडम् (चक्रुः) कृतवन्तः (ब्राह्मणाः) वेदज्ञानिनः (परिपाणम्) सर्वतो रक्षकम् (अरातिहम्) शत्रुहन्तारम् ॥

३—(दुर्हार्दः) दुष्टहृदयान् (संघोरम्) अतिभयानकम् (चक्षुः) दर्शनम् (पापकृत्वानम्) शीङ्कुशिरुहि० । उ० ४ । ११४ । पाप+करोतेः—क्वनिप् । पापकर्तारम् (आगमम्) अहं प्राप्तवानस्मि (तान्) (त्वम्) (सहस्रचक्षो) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । चक्षिङ् दर्शने—उप्रत्ययः । सहस्रप्रकारेण दर्शनं यस्मिन् तत् सम्बुद्धौ (प्रतिबोधेन) सावधानत्वेन । चैतन्येन (नाशय) (परिपाणः) सर्वतो रक्षकः (असि) (जङ्गिडः) संचारशील औषधविशेषः ॥

परि मा दिवः परि मा पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् परि मा वीरुद्भ्यः । परि मा भूतात् परि मोत भव्याद् दिशोदिशो जङ्गिडः पात्वस्मान् ॥ ४ ॥

परि । मा । दिवः । परि । मा । पृथिव्याः । परि । अन्तरिक्षात् । परि । मा । वीरुत्-भ्यः ॥ परि । मा । भूतात् । परि । मा । उत । भव्यात् । दिशः-दिशः । जङ्गिडः । पातु । अस्मान् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मा) मुझे (दिवः) सूर्य से (परि) सर्वथा, (मा) मुझे (पृथिव्याः) पृथिवी से (परि) सर्वथा, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (परि) सर्वथा, (मा) मुझे (वीरुद्भ्यः) ओषधियों से (परि) सर्वथा। (मा) मुझे (भूतात्) वर्तमान से (परि) सर्वथा, (उत) और (मा) मुझे (भव्यात्) भविष्यत् से (परि) सर्वथा और (दिशोदिशः) प्रत्येक दिशा से (अस्मान्) हम सब को (जङ्गिडः) जङ्गिड [संचार करने वाला औषध] (पातु) पाले ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि सब स्थानों और सब कालों के अनुकूल जङ्गिड औषध के सेवन से अपनी और अपने हितकारियों की रक्षा करे ॥ ४ ॥

य ऋष्णवो देवकृता य उतो ववृतेऽन्यः ।
सर्वांस्तान् विश्वभेषजोऽरसां जङ्गिडस्करत् ॥ ५ ॥

४—(परि) सर्वतः (मा) माम् (दिवः) सूर्यात् (परि) (मा) (पृथिव्याः) भूमिलोकात् (परि) (अन्तरिक्षात्) मध्यलोकात् (परि) (मा) (वीरुद्भ्यः) विरोहणशीलाभ्य ओषधिभ्यः (परि) (मा) (भूतात्) भवन्ति भूतानि यस्मिंस्तस्मात्। वर्तमानात् (परि) (मा) (उत) अपि च (भव्यात्) भविष्यतः (दिशोदिशः) सर्वदिक्सकाशात् (जङ्गिडः) (पातु) रक्षतु (अस्मान्) ॥

ये । ऋ॒ष्णवः॑ । दे॒व-कृ॑ताः । यः । उ॒तो इति॑ । व॒वृते॑ । अ॒न्यः॥ सर्वा॑न् । तान् । वि॒श्व-भे॑षजः । अ॒र॒सान् । ज॒ङ्गि॒डः । क॒र॒त्॥५

भाषार्थ-(ये) जो (देवकृताः) उन्मत्तों के किये हुये (ऋष्णवः) हिंसक व्यवहार हैं, (उतो) और भी (यः) जो (अन्यः) दूसरा [खोटा व्यवहार] (ववृते) वर्तमान हुआ है। (तान् सर्वान्) उन सब को (विश्व-भेषजः) सर्वौषध (जङ्गिडः) जङ्गिड [संचार करने वाला औषध] (अरसान्) नीरस [निष्प्रभाव] (करत्) करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो कोई रोग उन्मत्तों के कुकर्म अथवा अपने कुपथ्य से उत्पन्न होवे, मनुष्य जङ्गिड के सेवन से रोग निवृत्ति करके सुखी रहें ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१—६ । शतवारो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३—६ निचृदनुष्टुप् ॥
रोगनाशोपदेशः—रोगों के नाश का उपदेश ॥

श॒तवा॑रो अनीनश॒द् यक्ष्मा॒न् रक्षां॑सि॒ तेज॑सा ।
आ॒रोह॒न् वर्च॑सा स॒ह म॒णिर्दु॑र्णाम॒चात॑नः ॥ १ ॥

श॒त-वा॑रः । अ॒नी॒न॒श॒त् । यक्ष्मा॑न् । रक्षां॑सि । तेज॑सा ॥
आ॒-रोह॑न् । वर्च॑सा । स॒ह । म॒णिः । दु॒र्ना॒म॒-चात॑नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दुर्णामचातनः) दुर्नामों [बुरे नाम वाले बवासीर आदि रोगों] को नाश करने वाले (मणिः) प्रशंसनीय (शतवारः) शतवार [सैकड़ों

५—(ये) (ऋष्णवः) ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः । पा० ३ । २ । १३९ । ऋ हिंसायाम्—ग्स्नु । हिंसकव्यवहाराः (देवकृताः) दिवु क्रीडाविजिगीषामदादिषु-पचाद्यच् । देवैः उन्मत्तैः कृताः सम्पादिताः (यः) (उतो) अपि च (ववृते) वृतु वर्तने—लिट् । वर्तमानो बभूव (अन्यः) इतरो दुष्टव्यवहारः (सर्वान्) (तान्) (विश्वभेषजः) सर्वौषधः (अरसान्) निष्प्रभावान् (जङ्गिडः) (करत्) कुर्यात् ॥

१—(शतवारः) शत+वृञ् वरणे—घञ् । बहुभिर्वरणीयः स्वीकरणीयः । विश्ववारः—अ० ५ । २७ । ३ । औषधविशेषः (अनीनशत्) नाशितवान्

से स्वीकार करने योग्य औषध विशेष] ने (वर्चसा सह) प्रकाश के साथ (आरोहन्) ऊंचे होते हुये (तेजसा) अपनी तीक्ष्णता से (यक्ष्मान्) राजरोगों [क्षयी आदि] और (रक्षांसि) राक्षसों [रोगजन्तुओं] को (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—शतवार औषध के सेवन से क्षयी, बवासीर आदि रोग नष्ट होते हैं, और वे रोगजन्तु भी नष्ट होते हैं जो शरीर में दाद बवासीर आदि के कारण हैं ॥ १ ॥

शतवार और शतावरी एक ही औषध जान पड़ते हैं जिसके नाम शतमूली आदि हैं ॥

शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते मूलेन यातुधान्यः ।
मध्येन यक्ष्मं बाधते नैनं पाप्माति तत्रति ॥ २ ॥

शृङ्गाभ्याम् । रक्षः । नुदते । मूलेन । यातु-धान्यः ॥ मध्येन । यक्ष्मम् । बाधते । न । एनम् । पाप्मा । अति । तत्रति ॥२॥

भाषार्थ—यह [शतवार] (शृङ्गाभ्याम्) अपने दोनों सींगों [अगले भागों] से (रक्षः) राक्षस और (मूलेन) जड़ से (यातुधान्यः) दुःखदायिनी पीड़ाओं को (नुदते) ढकेलता है । (मध्येन) मध्य भाग से (यक्ष्मम्) राजरोग को (बाधते) हटाता है, (एनम्) इसको (पाप्मा) [कोई] अनहित (न) नहीं (अति तत्रति) दबा सकता है ॥ २ ॥

(यक्ष्मान्) अ० २ । १० । ५ राजरोगान् । क्षयरोगान् (तेजसा) प्रभावेण (आरोहन्) अधितिष्ठन् (वर्चसा) प्रकाशेन (सः) (मणिः) प्रशस्तः (दुर्णामचातनः) अ० ८ । ६ । ३ । दुर्णाम्नामर्शआदिरोगाणां नाशकः ॥

२—(शृङ्गाभ्याम्) शृङ्गवदग्रभागाभ्याम् (रक्षः) राक्षसम् । रोगजन्तुम् (नुदते) प्रेरयति (मूलेन) अधः प्रदेशेन (यातुधान्यः) यातुधानीः । दुःखप्रदाः पीडाः (मध्येन) मध्यभागेन (यक्ष्मम्) राजरोगम् (बाधते) विलोडयति (न) निषेधे (एनम्) शतवारम् (पाप्मा) दुष्टव्यवहारः (अति) अतीत्य (तत्रति) तॄ प्लवनतरणयोः—श्लुः शश्चेति विकरणद्वयम् । तरति । अभिभवति ॥

भावार्थ—इस सर्वौषध का प्रत्येक अङ्ग प्रत्येक रोग को हरता है ॥२॥

ये यक्ष्मा॑सो अर्भ॒का म॒हान्तो॒ ये च॑ श॒ब्दिन॑: ।
सर्वा॑न् दुर्णा॒म॒हा म॒णिः श॒तवा॑रो अनीनशत् ॥ ३ ॥

ये । यक्ष्मा॑सः । अ॒र्भ॒काः । म॒हान्त॑: । ये । च॒ । श॒ब्दिन॑: ॥
सर्वा॑न् । दु॒र्ना॒म॒-हा । म॒णिः । श॒त-वा॑रः । अ॒नी॒न॒श॒त् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (यक्ष्मासः) राजरोग (अर्भकाः) छोटे और [जो] (महान्तः) बड़े हैं, (च) और (ये) जो (शब्दिनः) महाशब्दकारी हैं। (सर्वान्) उन सब को (दुर्णामहा) दुर्नामों [बुरे नाम वाले बवासीर दाद आदि] के मिटाने हारे, (मणिः) प्रशंसनीय (शतवारः) शतवार [मन्त्र १] ने (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—छोटे बड़े राजरोग आदि और वे रोग जिनसे शरीर में खुजली वा चरचराहट शब्द होता है, शतवार औषध से सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥

श॒तं वी॒रान॑जनयच्छ॒तं यक्ष्मा॒नपा॑वपत् ।
दु॒र्णाम्नः॒ सर्वा॑न् ह॒त्वाव॒ रक्षां॑सि धूनुते ॥ ४ ॥

श॒तम् । वी॒रान् । अ॒ज॒न॒य॒त् । श॒तम् । यक्ष्मा॑न् । अप॑ । अ॒व॒-
प॒त् ॥ दुः॒-नाम्न॑: । सर्वा॑न् । ह॒त्वा । अव॑ । रक्षां॑सि । धू॒नु॒ते ४

भाषार्थ—उस [शतवार] ने (शतम्) सौ [अनेक] (वीरान्) वीर (अजनयत्) उत्पन्न किये हैं, (शतम्) सौ [अनेक] (यक्ष्मान्) राजरोग

३—(ये) (यक्ष्मासः) यक्ष्माः । राजरोगाः (अर्भकाः) क्षुद्राः (महान्तः) वृद्धिं गताः (ये) (च) (शब्दिनः) महाशब्दकारकाः (सर्वान्) (दुर्णामहा) दुर्णाम्नामर्शआदिरोगाणां हन्ता (मणिः) प्रशस्तः (शतवारः) म० १ । (करत्) कुर्यात् (अनीनशत्) नाशितवान् ॥

४—(शतम्) अनेकान् (वीरान्) शूरान् (अजनयत्) उदपादयत् विश्ववारः—अ० ५ (यक्ष्मान्) राजरोगान् (अपावपत्) सर्वथा विक्षिप्तवान्

(अप अवपत्) इतर वितर किये हैं। वह (सर्वान्) सब (दुर्णाम्नः) दुर्नामों [बुरे नाम वाले बवासीर आदि] को (हत्वा) मारकर (रक्षांसि) राक्षसों [रोगजन्तुओं] को (अव धूनुते) हिला डालता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—शतवार महौषध के सेवन से वीर्य पुष्ट होकर सब वीर सन्तान उत्पन्न होते हैं, और सब दुष्ट रोग नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

हिरण्यशृङ्ग ऋषुभः शातवारो अयं मणिः ।
दुर्णाम्नः सर्वांस्तृड्ढ्वाव रक्षांस्यक्रमीत् ॥ ५ ॥

हिरण्य-शृङ्गः । ऋषुभः । शात-वारः । अयम् । मणिः ॥
दुः-नाम्नः । सर्वान् । तृड्ढ्वा । अव । रक्षांसि । अक्रमीत् ॥५॥

भाषार्थ—(हिरण्यशृङ्गः) सोने के समान सींग [अगले भाग] वाला, (ऋषभः) ऋषभ [औषध विशेष के समान] (अयम्) इस (मणिः) प्रशंसनीय (शातवारः) शतवार ने (सर्वान्) सब (दुर्णाम्नः) दुर्नामों [बुरे नाम वाले बवासीर आदि] को (तृड्ढ्वा) मार कर (रक्षांसि) राक्षसों [रोगजन्तुओं] को (अव अक्रमीत्) खूंद डाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे ऋषभ औषध बहुत बलकारी और अनेक रोगनाशक है, वैसे ही यह शतवार औषध है ॥ ५ ॥

शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सुरसां शतम् ।
शतं शश्वन्वतीनां शतवारेण वारये ॥ ६ ॥

शतम् । अहम् । दुः-नाम्नीनाम् । गन्धर्व-अप्सरसाम् । शतम् ॥

(दुर्णाम्नः) अर्शआदिरोगान् (सर्वान्) (हत्वा) नाशयित्वा (रक्षांसि) रोगजन्तून् (अव धूनुते) सर्वथा कम्पयति ॥

५—(हिरण्यशृङ्गः) सुवर्णसमानशृङ्गमग्रभागो यस्य सः (ऋषभः) ऋषभौषधितुल्यः (पुष्टिकरः) (शातवारः) स्वार्थे—अण् । शतवारः—म० १ । (अयम्) (मणिः) प्रशस्तः (दुर्णाम्नः) अर्शआदिरोगान् (सर्वान्)(तृड्ढ्वा) तृह हिंसायाम्—क्त्वा । हिंसित्वा (रक्षांसि) राक्षसान् । रोगजन्तून् (अवाक्रमीत्) पादेन यथा विक्षिप्तवान् ॥

शतम् । शश्वन्-वतीनाम् । शत-वारेण । वारये ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (दुर्णाम्नीनां शतम्) सौ दुर्नाम्नी [बवासीर आदि पीड़ाओं] को और (गन्धर्वाप्सरसां शतम्) सौ गन्धर्वों [पृथिवी पर धरे हुये] और अप्सराओं [आकाश में चलने वाले रोगों] को और (शश्वन्वतीनां शतम्) सौ उछलती हुयी [पीड़ाओं] को (शतवारेण) शतवार [औषध] से (वारये) हटाता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो रोग शरीर की मलीनता से पृथिवी और आकाश में जल वायु की मलीनता से और जो रोग एक दूसरे के लगाव से उत्पन्न होते हैं, वैद्य लोग उनको शतवार औषध से नाश करें ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३७ ॥

१—४ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; २ विराडार्षी पङ्क्तिः; ३ विराडार्षी बृहती; ४ स्वराडार्ष्युष्णिक् ॥

बलप्राप्त्युपदेशः—बल की प्राप्ति का उपदेश ॥

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम् । त्रयस्त्रिंशद् यानि च वीर्याणि तान्यग्निः प्र ददातु मे ॥१॥

इदम् । वर्चः । अग्निना । दत्तम् । आ । अगन् । भर्गः ।

६—(शतम्) अनेकान् (अहम्) वैद्यः (दुर्णाम्नीनाम्) अन्नउपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् । पा० ४ । १ । २८ । इति ङीप् । अर्शआदिरोगपीडानाम् (गन्धर्वाप्सरसाम्) अ० ८ । ८ । १५ । कॄगॄशॄदृभ्यो वः । उ० १ । १५५ । गो+धृञ् धारणे-वप्रत्ययः, गो शब्दस्य गमादेशः+सरतेरप् पूर्वाद्दसिः । उ० ४ । २३७ । अप+सृ गतौ—असि । गवि पृथिव्यां ध्रियन्ते ते गन्धर्वाः । अप्सु आकाशे सरन्ति गच्छन्तीति अप्सरसः । तादृशानां रोगाणाम् (शतम्) बहून् (शतम्) (शश्वन्वतीनाम्) स्नामदिपद्यर्ति० । उ० । ४ । ११३ । शश प्लुतगतौ—वनिप् । शश्वन्-मतुप् । मादुपधायाश्च० । पा० ८ । २ । ६ । इति वत्वम् । अनो नुट् । पा० ८ । २ । १६ । इति नुट्, ङीप् । प्लुतगतियुक्तानां पीडानाम् (शतवारेण) म० १ । औषधविशेषेण (वारये) निवारयामि ॥

यशः । सहः । ओजः । वयः । बलम् ॥ त्रयः-त्रिंशत् । यानि । च । वीर्याणि । तानि । अग्निः । प्र । ददातु । मे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्निना) अग्नि [प्रकाशस्वरूप परमेश्वर] करके (दत्तम्) दिया गया (इदम्) यह (वर्चः) प्रताप, (भर्गः) प्रकाश, (यशः) यश, (सहः) उत्साह, (ओजः) पराक्रम, (वयः) पौरुष और (बलम्) बल (आ अगन्) आया है । (च) और (यानि) जो (त्रयस्त्रिंशत्) तेतीस (वीर्याणि) वीर कर्म हैं, (तानि) उनको (अग्निः) अग्नि [प्रकाशस्वरूप परमात्मा] (मे) मुझे (प्र ददातु) देता रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के दिये साधनों से अनेक प्रकार का बल प्राप्त करें और तेतीस जो आठ वसु आदि देवता हैं [देखो अथर्व० १९ । २७ । १०], उनसे भी सदा उपकार लेते रहें ॥ १ ॥

वर्च आ धेहि मे तन्वां३ सह ओजो वयो बलम् ।
इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय ॥२॥

वर्चः । आ । धेहि । मे । तन्वाम् । सहः । ओजः । वयः । बलम् ॥ इन्द्रियाय । त्वा । कर्मणे । वीर्याय । प्रति । गृह्णामि । शत-शारदाय ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (मे) मेरे (तन्वाम्) शरीर में (वर्चः) प्रताप, (सहः) उत्साह, (ओजः) पराक्रम, (वयः) पौरुष और (बलम्)

१—(इदम्) दृश्यमानम् (वर्चः) प्रतापः (अग्निना) प्रकाशस्वरूपेण परमात्मना (दत्तम्) समर्पितम् (आ अगन्) आगमत् (भर्गः) प्रकाशः (यशः) कीर्तिः (सहः) उत्साहः (ओजः) पराक्रमः (वयः) पौरुषम् (बलम्) सामर्थ्यम् (त्रयस्त्रिंशत्) त्रयस्त्रिंशद्वस्वादिदेवतासम्बन्धीनि (यानि) (च) (वीर्याणि) वीरकर्माणि (तानि) (अग्निः) प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः (प्र ददातु) प्रयच्छतु (मे) मह्यम् ॥

२—(वर्चः) प्रतापम् (आ) समन्तात् (धेहि) देहि (मे) मम (तन्वाम्) शरीरे (सहः) उत्साहम् (ओजः) पराक्रमम् (वयः) पौरुषम्

बल (आ धेहि) धारण कर दे। (इन्द्रियाय) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् पुरुष] के योग्य (कर्मणे) कर्म के लिये, (वीर्याय) वीरता के लिये और (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले [जीवन] के लिये (त्वा) तुझ को (प्रति गृह्णामि) मैं अङ्गीकार करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या की प्राप्ति से परमेश्वरीय नियमों पर चलकर अपना यश बढ़ावें ॥ २ ॥

ऊ॒र्जे त्वा॒ बला॑य॒ त्वौज॑से॒ सह॑से त्वा ।

अ॒भि॒भूया॑य त्वा राष्ट्र॒भृत्या॑य॒ पर्यू॑हामि श॒तशा॑रदाय ॥ ३ ॥

ऊ॒र्जे । त्वा॒ । बला॑य । त्वा॒ । ओज॑से । सह॑से । त्वा॒ ॥ अ॒भि॒-भूया॑य । त्वा॒ । रा॒ष्ट्र॒-भृत्या॑य । परि॑ । ऊ॒हा॒मि॒ । श॒त-शा॑रदाय ३

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (त्वा) तुझे (ऊर्जे) अन्न के लिये, (बलाय) बल के लिये, (त्वा) तुझे (ओजसे) पराक्रम के लिये, (त्वा) तुझे (सहसे) उत्साह के लिये, (त्वा) तुझे (अभिभूयाय) विजय के लिये, और (राष्ट्रभृत्याय) राज्य के पोषण के लिये और (शतशारदाय) सौ वर्ष वाले [जीवन] के लिये (परि) अच्छे प्रकार [ऊहामि] तर्क से निश्चय करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा में श्रद्धा करते हैं, वे सब प्रकार का बल प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

ऋ॒तुभ्य॑ष्ट्वार्त॒वेभ्यो॑ मा॒द्भ्यः सं॑वत्स॒रेभ्यः॑ ।

(बलम्) सामर्थ्यम् (इन्द्रियाय) इन्द्रस्य परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य योग्याय (त्वा) त्वाम् (कर्मणे) (वीर्याय) वीरत्वाय (प्रतिगृह्णामि) स्वीकरोमि (शतशारदाय) शतशरदृतुयुक्ताय जीवनाय ॥

३—(ऊर्जे) अन्नलाभाय (त्वा) त्वाम् (बलाय) सामर्थ्याय (त्वा) (ओजसे) पराक्रमाय (सहसे) उत्साहाय (त्वा) (अभिभूयाय) अभि+भू सत्तायां प्राप्तौ च—क्यप्। अभिभवनाय विजयाय (त्वा) (राष्ट्रभृत्याय) डु भृञ् धारणपोषणयोः—क्यप्, तुक्। राज्यपोषणाय (परि) सर्वतः (ऊहामि) तर्केण निश्चिनोमि (शतशारदाय) शतवर्षयुक्ताय जीवनाय ॥

धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ ४ ॥

ऋतु-भ्यः । त्वा । आर्तवेभ्यः । मात्-भ्यः । सम्-वत्सरेभ्यः ॥
धात्रे । वि-धात्रे । सम्-ऋधे । भूतस्य । पतये । यजे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (ऋतुभ्यः) ऋतुओं के लिये, (आर्तवेभ्यः) ऋतुओं में उत्पन्न पदार्थों के लिये, (माद्भ्यः) महीनों के लिये, (संवत्सरेभ्यः) वर्षों के लिये, (धात्रे) पोषक पुरुष के लिये, (विधात्रे) बुद्धिमान् जन के लिये, (समृधे) बढ़ती करने वाले के लिये और (भूतस्य) प्राणी मात्र के (पतये) रक्षक पुरुष के लिये (त्वा) तुझे (यजे) मैं पूजता हूं ॥४॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि अपने समस्त समय और समस्त पदार्थों को संसार के हित में लगाकर परमात्मा की उपासना करते रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१—३ ॥ गुल्गुलुर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्, २ निचृदनुष्टुप्, ३ प्राजापत्याऽनुष्टुप् ॥

रोगनाशनोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते ।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥ १ ॥

न । तम् । यक्ष्माः । अरुन्धते । न । एनम् । शपथः ।
अश्नुते ॥ यम् । भेषजस्य । गुल्गुलोः । सुरभिः । गन्धः ।
अश्नुते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (तम्) उस [पुरुष] को (यक्ष्माः) राजरोग

४—(ऋतुभ्यः) ऋतूनां हिताय (त्वा) (आर्तवेभ्यः) ऋतुषु भवेभ्यः पदार्थेभ्यः (माद्भ्यः) मासेभ्यः (संवत्सरेभ्यः) वर्षेभ्यः (धात्रे) पोषकाय (विधात्रे) मेधाविने—निघ० ३ । १५ (समृधे) समर्धयित्रे । वर्धयित्रे (भूतस्य) प्राणिमात्रस्य (पतये) पालकाय (यजे) पूजयामि ॥

१—(न) निषेधे (तम्) पुरुषम् (यक्ष्माः) राजरोगाः (अरुन्धते)

(अरुन्धते=आरुन्धते) रोकते हैं, और (न) (एनम्) उसको (शपथः) शाप [क्रोध वचन] (अश्नुते) व्यापता है, । (यम्) जिस [पुरुष] को (गुल्गुलोः) गुल्गुलु [गुग्गुल] (भेषजस्य) औषध का (सुरभिः) सुगन्धित (गन्धः) गन्ध (अश्नुते) व्यापता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस घर में गुग्गुल आदि सुगन्धित द्रव्यों का गन्ध किया जाता है, वहां रोग नहीं होता ॥ १ ॥

(गुल्गुलु) शब्द पहिले आ चुका है—अ० २ । ३६ । ७ ॥

विष्वञ्चुस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते ।
यद् गुल्गुलु सैन्धवं यद् वाप्यासि समुद्रियम् ॥ २ ॥

विष्वञ्चः । तस्मात् । यक्ष्माः । मृगाः । अश्वाः-इव । ईरते ॥ यत् । गुल्गुलु । सैन्धवम् । यत् । वा । अपि । असि । समुद्रियम् ॥ २ ॥

उभयोरग्रभं नामास्मा अरिष्टतातये ॥ ३ ॥

उभयोः । अग्रभम् । नाम । अस्मै । अरिष्ट-तातये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तस्मात्) उस [पुरुष] से (विष्वञ्चः) सब ओर फैले हुये (यक्ष्माः) राजरोग, (मृगाः) हरिण [वा] (अश्वा इव) घोड़ों के समान (ईरते) दौड़ जाते हैं । (यत्) जहां पर तू (सैन्धवम्) नदी से उत्पन्न,

---

छान्दसो ह्रस्वः । आरुन्धते । समन्ताद् रोधं कुर्वन्ति (न) (एनम्) (शपथः) शापः । क्रोधवचनम् (अश्नुते) व्याप्नोति (यम्) पुरुषम् (भेषजस्य) औषधस्य (गुल्गुलोः) अ० २ । ३६ । ७ । गुड रक्षणे—क्विप्+गुड रक्षणे—कु, डस्य लत्वम् । गुड्यते रक्ष्यतेऽस्मादिति गुड्रोगः, तस्माद् गुडति रक्षतीति गुल्गुलुः गुल्गुलुरेव गुग्गुलुः । सुगन्धौषधविशेषस्तस्यौषधस्य (सुरभिः) सुगन्धितः (गन्धः) घ्राणमाह्यो गुणः (अश्नुते) व्याप्नोति ॥

२—(विष्वञ्चः) विष्वगञ्चनाः । नाना देशव्याप्ताः (तस्मात्) पुरुषात् (यक्ष्माः) राजरोगाः (मृगाः) जन्तुविशेषाः (अश्वाः) तुरङ्गाः (इव) यथा (ईरते) धावन्ति (यत्) यत्र (गुल्गुलु) म० १ । गुग्गुलु (सैन्धवम्) नदी-

(वा) अथवा (यत्) जहां पर (समुद्रियम्) समुद्र से उत्पन्न हुआ (अपि) ही (गुल्गुलु) गुल्गुलु [गुग्गुल] (असि) होता है ॥ २ ॥ (उभयोः) दोनों के (नाम) नाम को (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (अरिष्टतातये) कुशल करने को (अग्रभम्) मैं ने लिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—गुग्गुल नदी वा समुद्र के पास के वृक्ष विशेष का निर्यास अर्थात् गोंद होता है, उसको अग्नि पर जलाने से सुगन्ध उठता है जिससे अनेक रोग नष्ट होते हैं ॥ २, ३ ॥

सूक्तम् ३९ ॥

१—१० ॥ कुष्ठो देवता ॥ १, ९, १० अनुष्टुप्; २, ३ पथ्या पङ्क्तिः; ४ षट्पदा जगती; ५ शक्वरी; ६–८ अष्टिः ॥

रोगनाशनोपदेशः—रोगनाश करने का उपदेश ॥

ऐतु देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवतस्परि ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ १ ॥

आ । एतु । देवः । त्रायमाणः । कुष्ठः । हिम-वतः । परि ॥
तक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातु-धान्यः ॥१॥

भाषार्थ—(देवः) दिव्य गुण वाला, (त्रायमाणः) रक्षा करता हुआ (कुष्ठः) कुष्ठ [रोग बाहर करने वाला औषध विशेष] (हिमवतः परि) हिम वाले देश से (आ एतु) आवे । तू (सर्वम्) सब (तक्मानम्) जीवन के

प्रदेशजम् (यत्) यत्र (वा) अथवा (अपि) एव (असि) अस्ति (समुद्रियम्) समुद्रभवम् ॥

३—(उभयोः) द्वयोः (अग्रभम्) अग्रहीषम् (नाम) संज्ञाम् (अस्मै) पुरुषाय (अरिष्टतातये) अ० ३ । ५ । ५ । शिवशमरिष्टस्य करे । पा० ४ । ४ । १४३ । इति अरिष्ट-तातिल् करोत्यर्थे । क्षेमकरणाय ॥

१—(ऐतु) आगच्छतु (देवः) दिव्यगुणः (त्रायमाणः) पालयमानः (कुष्ठः) अ० ५ । ४ । १ । हनिकुषिनी० । उ० २ । २ । कुष निष्कर्षे—क्थन् । रोगाणां निष्कर्षको बहिष्कर्ता । औषधविशेषः (हिमवतः) हिमदेशात् (परि)

कष्ट देने वाले ज्वर को (च) और (सर्वाः) सब (यातुधान्यः) दुःखदायिनी पीड़ाओं को (नाशय) नाश कर दे ॥ १ ॥

भावार्थ—कुष्ठ वा कूट औषध ठंढे देशों में होता है, उसको प्राप्त करके ज्वर आदि रोगों का नाश करें ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान करो—अथर्व० ५ । ५ तथा ६ । ६५ ॥

त्रीणि ते कुष्ठ नामानि नद्यमारो नद्यारिषः । नद्यायं पुरुषो रिषत् । यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥ २ ॥

त्रीणि । ते । कुष्ठ । नामानि । नद्य-मारः । नद्य-रिषः ॥ नद्य । अयम् । पुरुषः । रिषत् ॥ यस्मै । परि-ब्रवीमि । त्वा । सायम्-प्रातः । अथो इति । दिवा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कुष्ठ) हे कुष्ठ ! [मन्त्र १] (ते) तेरे (त्रीणि) तीन (नामानि) नाम हैं-(नद्यमारः) नद्यमार [नदी में उत्पन्न रोगों का मारने वाला], और (नद्यरिषः) नद्यरिष [नदी में उत्पन्न रोगों का हानि करने वाला] । (नद्य) हे नद्य ! [नदी में उत्पन्न कुष्ठ] (अयम्) वह (पुरुषः) पुरुष [रोगों को] (रिषत्) मिटावे । (यस्मै) जिस को (त्वा) तुझे (सायं-प्रातः) सायंकाल और प्रातः काल (अथो) और भी (दिवा) दिन में (परि-ब्रवीमि) मैं बतलाऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—इस औषध के तीन नाम हैं—कुष्ठ, नद्यमार और नद्यरिष । मनुष्य उसके सेवन से सब रोगों का नाश करें ॥ २ ॥

सर्वतः (तक्मानम्) जीवनस्य क्लेशकारिणं ज्वरम् (सर्वम्) (नाशय) दूरीकुरु (सर्वाः) (च) (यातुधान्यः) दुःखदायिनीः पीडाः ॥

२—(त्रीणि) (ते) तव (कुष्ठ) म० १ । हे औषधविशेष (नामानि) (नद्यमारः) नदी-यत् । नद्यां भवानां रोगाणां मारकः (नद्यरिषः) नद्यां भवानां रोगाणां हन्ता (नद्य) हे नद्यां भव (अयम्) सः (पुरुषः) (रिषत्) रोगान् नाशयेत् (यस्मै) रोगिणे (परिब्रवीमि) औषधप्रयोगेण कथयामि (त्वा) कुष्ठम् (सायंप्रातः) सायं प्रातश्च (अथो) अपि च (दिवा) दिवसकाले ॥

जीवला नाम॑ ते मा॒ता जीव॑न्तो॒ नाम॑ ते पि॒ता । नद्या॒यं पुरु॑षो रिषत् । यस्मै॑ परि॒ब्रवी॑मि त्वा सा॒यंप्रा॑त॒रथो॒ दिवा॑ ॥३

जी॒व॒ला । नाम॑ । ते॒ । मा॒ता । जी॒व॑न्तः । नाम॑ । ते॒ । पि॒ता॥ नद्य॑ । अ॒यम् । पुरु॑षः । रि॒षत् ॥ यस्मै॑ । प॒रि॒-ब्रवी॑मि । त्वा॒ । सा॒यम्-प्रा॑तः । अथो॒ इति॑ । दिवा॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे कुष्ठ !] (जीवला) जीवला [जीवन देने वाली] (नाम) नाम (ते) तेरी (माता) माता [बनाने वाली पृथिवी] है, (जीवन्तः) जीवन्त [जिलाने वाला] (नाम) नाम (ते) तेरा (पिता) पिता [पालने वाला सूर्य वा मेघ] है । (नद्य) हे नद्य ! [नदी में उत्पन्न कुष्ठ] (अयम्) वह······[मन्त्र २] ॥ ३ ॥

भावार्थ—कुष्ठ औषध पृथिवी और सूर्य वा मेघ के सम्बन्ध से उत्पन्न होकर अनेक कठिन रोगों का नाश करता है ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो-अ० १ । २४ । ३ । तथा ८ । २ । ६ ॥

उ॒त्त॒मो अ॒स्योष॑धीनामन॒ड्वान् जग॑तामिव व्या॒घ्रः श्वप॑दा-मिव । नद्या॒यं पुरु॑षो रिषत् । यस्मै॑ परि॒ब्रवी॑मि त्वा सा॒यं-प्रा॑त॒रथो॒ दिवा॑ ॥ ४ ॥

उ॒त्-त॒मः । अ॒सि॒ । ओष॑धीनाम् । अ॒न॒ड्वान् । जग॑ताम्-इव ॥ व्या॒घ्रः । श्वप॑दाम्-इव । नद्य॑ । अ॒यम् । पुरु॑षः । रि॒षत् ॥ यस्मै॑ । प॒रि॒-ब्रवी॑मि । त्वा॒ । सा॒यम्-प्रा॑तः । अथो॒ इति॑ । दिवा॑ ॥ ४ ॥

३—(जीवला) अ० ८ । २ । ६ । जीव + ला दाने—क, टाप् । जीवनप्रदा (नाम) (ते) तव (माता) निर्मात्री पृथिवी (जीवन्तः) तॄभूवहिवसि० । उ० ३ । १२८ । जीव प्राणधारणे—झच् । जीवयिता (नाम) (ते) तव (पिता) पालकः सूर्यो मेघो वा ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—[हे कुष्ठ !] तू (ओषधीनाम्) ओषधियों में (उत्तमः) उत्तम (असि) है, (इव) जैसे (जगताम्) गतिशीलों [गौ आदि पशुओं] में (अनड्वान्) रथ ले चलने वाला बैल और (इव) जैसे (श्वपदाम्) कुत्ते के समान पैर वाले हिंसक जन्तुओं में (व्याघ्रः) बाघ [है] । (नद्य) हे नद्य [नदी में उत्पन्न कुष्ठ] (अयम्) वह......[म० २] ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का प्रथम भाग आ चुका है—अ० ८ । ५ । ११ ॥

त्रिः शाम्बुभ्यो अङ्गिरेभ्युस्त्रिरादित्येभ्युस्परि । त्रिर्जातो विश्वदेवेभ्युः । स कुष्ठो विश्वभेषजः । साकं सोमेन । तिष्ठति । तुक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ५ ॥

त्रिः । शाम्बु-भ्यः । अङ्गिरेभ्यः । त्रिः । आदित्येभ्यः । परि । त्रिः । जातः । विश्व-देवेभ्यः ॥ सः । कुष्ठः । विश्व-भेषजः ॥ साकम् । सोमेन । तिष्ठति ॥ तुक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातु-धान्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शाम्बुभ्यः) उपाय करने वाले (अङ्गिरेभ्यः) ज्ञानियों के लिये (त्रिः) तीन बार [बालकपन, यौवन और बुढ़ापे में], (आदित्येभ्यः) अखण्ड ब्रह्मचारियों के लिये (त्रिः) तीनबार [बालकपन आदि में] और (विश्वदेवेभ्यः) सब विद्वानों के लिये (त्रिः) तीन बार [बालकपन आदि में]

४—(उत्तमः) श्रेष्ठः (असि) भवसि (ओषधीनाम्) ओषधीनां मध्ये (अनड्वान्) रथवाहको वृषभः (जगताम्) गतिशीलानां गवादिपशूनां मध्ये (इव) (व्याघ्रः) हिंस्रजन्तुविशेषः (श्वपदाम्) शुन इव पदानि येषां तेषां हिंस्रपशूनां मध्ये (इव) । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(त्रिः) त्रिवारम्, बाल्ययौवनवार्धकेषु (शाम्बुभ्यः) कृवापा० । उ० १ । १ । शम्ब सम्बन्धने गतौ च—उण् । उपायशीलेभ्यः (अङ्गिरेभ्यः) अशेर्नित् । उ० १ । ५२ । अगि गतौ-किरच् नित् । विज्ञानिभ्यः (त्रिः) (आदित्येभ्यः) अखण्डमतिभ्यः (परि) सर्वतः (त्रिः) (जातः) प्रकटीभूतः (विश्वदेवेभ्यः)

(परि) सब प्रकार (जातः) प्रकट हुआ (सः) वह (विश्वभेषजः) सर्वौषध (कुष्ठः) कुष्ठ [मन्त्र १] (सोमेन साकम्) सोमरस के साथ (तिष्ठति) ठहरता है [सोम के समान गुणकारी है] । तू (सर्वम्) सब (तक्मानम्) जीवन के कष्ट देने वाले ज्वर को (च) और (सर्वाः) सब (यातुधान्यः) दुःखदायिनी पीड़ाओं को (नाशय) नाश करदे ॥ ५ ॥

भावार्थ—यह कुष्ठ महौषध विद्वानों के लिये बालकपन, यौवन और बुढ़ापे तीनों पनों में सोमरस के समान स्वास्थ्य वर्द्धक है ॥ ५ ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ६ ॥

अश्वत्थः । देव-सदनः । तृतीयस्याम् । इतः । दिवि ॥
तत्र । अमृतस्य । चक्षणम् । ततः । कुष्ठः । अजायत ॥
सः । कुष्ठः । विश्व-भेषजः । साकम् । सोमेन । तिष्ठति ॥
तक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातु-धान्यः ॥६॥

भाषार्थ—(देवसदनः) विद्वानों के बैठने योग्य (अश्वत्थः) वीरों के ठहरने का देश (तृतीयस्याम्) तीसरी [निकृष्ट और मध्य अवस्था से परे, श्रेष्ठ] (दिवि) अवस्था में (इतः) प्राप्त होता है । (तत्र) उस में (अमृतस्य) अमृत [अमरपन] का (चक्षणम्) दर्शन है, (ततः) उस से (कुष्ठः) कुष्ठ

सर्वविद्वद्भ्यः (सः) (कुष्ठः) म० १ । औषधविशेषः (विश्वभेषजः) सर्वरोगौषधः (सोमेन साकम्) सोमसमानप्रभावेण सह (तिष्ठति) वर्तते । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

६—(अश्वत्थः—अजायत) इति व्याख्यातः—अ० ५ । ४ । ३ तथा ६ । ९५ । १, पुनरपि शब्दार्थः क्रियते (अश्वत्थः) अ० ३ । ६ । १ । अश्वानां कर्मसु व्यापनशीलानां वीराणां स्थितिदेशः (देवसदनः) महात्मनां स्थितियोग्यः (तृतीयस्याम्) निकृष्टमध्यमाभ्यां तृतीयस्यां श्रेष्ठायाम् (इतः) इण गतौ—क्त । प्राप्तः (दिवि) गतौ । अवस्थायाम् (तत्र) तस्मिन् स्थाने (अमृतस्य) अमर-

[मन्त्र १] (अजायत) प्रकट हुआ है। (सः) वह (विश्वभेषजः) सर्वौषध (कुष्ठः) कुष्ठ... [म० ५] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जहां पर विद्वान् वीरों का निवास होता है, वहां कुष्ठ महौषध के उपयोग से आनन्द बढ़ता है ॥ ६ ॥

इस मन्त्र के पहिले दो भाग कुछ भेद से आचुके हैं—अ० ५। ४। ३। और ६। ९५। १॥

हिर॒ण्ययी॒ नौर॑चर॒द्धिर॑ण्यबन्धना दि॒वि ।
तत्रा॒मृत॑स्य॒ चक्ष॑णं॒ तत॒: । कुष्ठो॑ अजायत ।
स कुष्ठो॑ वि॒श्वभे॑षजः सा॒कं सोमे॑न तिष्ठति ।
त॒क्मानं॒ सर्वं॑ नाशय॒ सर्वा॑श्च यातुधा॒न्यः॑ ॥ ७ ॥

हि॒र॒ण्ययी॑ । नौः । अ॒च॒र॒त् । हिर॑ण्य-बन्धना । दि॒वि ॥
तत्र॑ । अ॒मृत॑स्य । चक्ष॑णम् । तत॑: । कुष्ठ॑: । अ॒जा॒य॒त॒ ॥
सः । कुष्ठ॑: । वि॒श्व-भे॑षजः । सा॒कम् । सोमे॑न । ति॒ष्ठ॒ति॒ ॥
त॒क्मान॑म् । सर्व॑म् । ना॒श॒य॒ । सर्वा॑: । च॒ । या॒तु॒-धा॒न्य॑: ॥७॥

भाषार्थ—(हिरण्ययी) तेज वाली [अग्नि वा बिजुली वा सूर्य से चलने वाली], (हिरण्यबन्धना) तेजोमय बन्धनों वाली (नौः) नाव (दिवि) व्यवहार में (अचरत्) चलती थी। (तत्र) उस में (अमृतस्य) अमृत [अमरपन] का (चक्षणम्) दर्शन है, (ततः) उससे (कुष्ठः) कुष्ठ [मन्त्र १] (अजायत) प्रकट हुआ है। (सः) वह (विश्वभेषजः) सर्वौषध (कुष्ठः) कुष्ठ......[म० ५] ॥

भावार्थ—जहां पर विद्वान् लोग विज्ञान प्राप्त करके नाव आदि यानों को अग्नि आदि से चलाते हैं, वहां कुष्ठ महौषधि बड़ा उपकारी होता है ॥ ७ ॥

णस्य। चिरजीवनस्य (चक्षणम्) दर्शनम् (ततः) तस्मात् स्थानात् (कुष्ठः) म० १। औषधविशेषः (अजायत) प्रादुरभवत्। अन्यत् पूर्ववत्—म० ५॥

७—(हिरण्ययी) हिरण्यमयी। तेजोमयी। अग्निना विद्युता सूर्येण वा प्रयुक्ता (नौः) तरणिः (अचरत्) अगमत् (हिरण्यबन्धना) तेजोमयबन्धनयुक्ता। अन्यत् पूर्ववत्—म० ६॥

इस मन्त्रके पहिले दो भाग कुछ भेद से आ चुके हैं—अ० ५। ४। ४। तथा ६। ९५। २॥

यत्र नावप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ८॥

यत्र। न। अव-प्रभ्रंशनम्। यत्र। हिम-वतः। शिरः॥
तत्र। अमृतस्य। चक्षणम्। ततः। कुष्ठः। अजायत॥
सः। कुष्ठः। विश्व-भेषजः। साकम्। सोमेन। तिष्ठति॥
तक्मानम्। सर्वम्। नाशय। सर्वाः। च। यातु-धान्यः॥८॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां (अवप्रभ्रंशनम्) नीचे गिर जाना (न) नहीं है, और (यत्र) जहां (हिमवतः) हिम वाले स्थान का (शिरः) शिर है। (तत्र) उस में (अमृतस्य) अमृत [अमरपन] का (चक्षणम्) दर्शन है, (ततः) उससे (कुष्ठः) कुष्ठ [मन्त्र १] (अजायत) प्रकट हुआ है। (सः) वह (विश्वभेषजः) सर्वौषध (कुष्ठः) कुष्ठ......[म० ५] ॥ ८ ॥

भावार्थ—हिम पृथिवी से ऊंचे स्थान पर गिरता है। जहां पर जो मार्ग में बिना फिसले ऊंचा चढ़ जाता है,वहां वह कुष्ठ महौषध को पाकर प्रसन्न होता है ८

यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः।
यं वा वसो यमात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः॥ ९॥

यम्। त्वा। वेद। पूर्वः। इक्ष्वाकः। यम्। वा। त्वा। कुष्ठ। काम्यः॥ यम्। वा। वसः। यम्। आत्स्यः। तेन। असि। विश्व-भेषजः॥ ९॥

८—(यत्र) यस्मिन् स्थाने (न) निषेधे (अवप्रभ्रंशनम्) भ्रंशु अधःपतने। इतस्ततोऽधः पतनम् (यत्र) (हिमवतः) हिमयुक्तदेशस्य (शिरः) शिखरम्। अन्यत् पूर्ववत्॥

भाषार्थ—(कुष्ठ) हे कुष्ठ ! [मन्त्र १] (यम् त्वा) जिस तुझ को (पूर्वः) पहिला [मुख्य] (इक्ष्वाकः) ज्ञान को प्राप्त होने वाला, (वा) अथवा (यम् त्वा) जिस तुझ को (काम्यः) कामनायुक्त, (वा) अथवा (यम्) जिस को (वसः) निवास देने वाला,[वा] (यम्) जिस को (आत्स्यः) सब ओर को सदा चलने वाला [पुरुष] (वेद) जानता है, (तेन) उस [कारण] से तू (विश्वभेषजः) सर्वौषध (असि) है ॥ ९ ॥

भावार्थ—बड़े बड़े विद्वान्, पुरुषार्थी लोग परीक्षा करके कुष्ठ को सर्वौषध जानते हैं ॥ ९ ॥

शीर्षलोकं तृतीयकं सदन्दिर्यश्च हायनः ।

तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥ १० ॥

शीर्ष-लोकम् । तृतीयकम् । सदम्-दिः । यः । च । हायनः ॥

तक्मानम् । विश्वधा-वीर्य । अधराञ्चम् । परा । सुव ॥१०॥

भाषार्थ—(शीर्षलोकम्) शिर में स्थान वाले [शिर में पीड़ा करने वाले], (तृतीयकम्) तिजारी, और (यः) जो (सदन्दिः) सदा फूटन करने वाला (च) और (हायनः) प्रतिवर्ष होने वाला [ज्वर] है । (विश्वधावीर्य)

९—(यम्) (त्वा) त्वां कुष्ठम् (वेद) वेत्ति (इक्ष्वाकः) इषेः क्सुः । उ० ३ । १५७ । इष गतौ—क्सु+अक गतौ—अण् । इक्षु ज्ञानम् अकति गच्छति प्राप्नोतीति सः । ज्ञानप्राप्तः पुरुषः (यम्)(वा) (त्वा) (कुष्ठ) म० १ । हे औषधविशेष (काम्यः) कामनायुक्तः (यम्) (वा) (वसः) वस निवासे—अच् । निवासयिता (यम्) (आत्स्यः) ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज० । उ० ४ । २ । आङ्+अत सातत्यगमने—स्यन्प्रत्ययः । समन्तात्सदागतिशीलः (तेन) कारणेन (असि) (विश्वभेषजः) सर्वौषधः ॥

१०—(शीर्षलोकम्) शिरसि स्थानयुक्तम् । मस्तकपीडकम् (तृतीयकम्) अ० १ । २५ । ४ । स्वार्थे कन् । तृतीयदिने आगच्छन्तम् (सदन्दिः) अ० ५ । २२ । १३ । सदम्+दाप् छेदने दो अवखण्डने वा—कि । सदा खण्डकम् । पीडकम् (यः) (च) (हायनः) अ० ६ । १४ । ३ । हायन-अर्श आद्यच् । प्रतिवर्षभवः (तक्मानम्) कृच्छ्रजीवनकरं ज्वरम् (विश्व-

हे सब प्रकार सामर्थ्य वाले [कुष्ठ !] (तक्मानम्) उस दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (अधराञ्चम्) नीचे स्थान में (परा सुव) दूर गिरा दे ॥ १० ॥

भावार्थ—कुष्ठ महौषध के सेवन से सब प्रकार के ज्वर नष्ट होते हैं १०

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आचुका है—अ० ५ । २२ । ३ ॥

सूक्तम् ४० ॥

१-४ ॥ १ बृहस्पतिः, २ आपः, ३, ४ अश्विनौ देवते ॥ १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्, २ विराडार्षी बृहती, ३ अनुष्टुप्, ४ गायत्री ॥

बुद्धिवर्धनोपदेशः—बुद्धि बढ़ाने का उपदेश ॥

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम ।
विश्वैस्तद् देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः ॥ १ ॥

यत् । मे । छिद्रम् । मनसः । यत् । च । वाचः । सरस्वती । मन्यु-मन्तम् । जगाम ॥ विश्वैः । तत् । देवैः । सह । सम्-विदानः । सम् । दधातु । बृहस्पतिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (मे) मेरे (मनसः) मन का (च) और (यत्) जो (वाचः) वाणी का (छिद्रम्) दोष है, [जिससे] (सरस्वती) सरस्वती [उत्तम वेदविद्या] (मन्युमन्तम्) क्रोधयुक्त [व्यवहार] को (जगाम) प्राप्त हुयी है । (तत्) उस [दोष] को (विश्वैः) सब (देवैः सह) उत्तम गुणों के साथ (संविदानः) मिलता हुआ (बृहस्पतिः) बड़े आकाश आदि का पालक परमेश्वर (सं दधातु) सन्धि युक्त करे ॥ १ ॥

धार्वीर्य) हे सर्वथा सामर्थ्योपेत (अधराञ्चम्) अ० ५ । २२ । ३ । निम्नदेशम् (परा) दूरे (सुव) प्रेरय ॥

१—(यत्) (मे) मम (छिद्रम्) दोषम् (मनसः) हृदयस्य (यत्) (च) (वाचः) वाण्याः (सरस्वती) विज्ञानवती वेदविद्या (मन्युमन्तम्) क्रोधवन्तं व्यवहारम् (जगाम) प्राप (विश्वैः) सर्वैः (तत्) छिद्रम् (देवैः) उत्तमगुणैः (सह) (संविदानः) संगच्छमानः (सं दधातु) सन्धानं करोतु (बृहस्पतिः) बृहतामाकाशादीनां पालक ईश्वरः ॥

भावार्थ—जब मनुष्य मानसिक वा वाचिक दोष से विद्या देवी को क्रोधित कर देवे, वह परमात्मा की शरण लेकर अपनी न्यूनतायें पूरी करे ॥ १॥

इस मन्त्र का मिलान करो–यजु० ३६ । २ ॥

मा न॒ आपो॑ मे॒धां मा ब्रह्म॒ प्र म॑थिष्टन ।

सु॒ष्य॒दा यू॒यं स्य॑न्दध्व॒मुप॑हूतो॒ऽहं सु॒मेधा॑ वर्च॒स्वी ॥ २ ॥

मा । नः॒ । आपः॑ । मे॒धाम् । मा । ब्रह्म॑ । प्र । म॒थि॒ष्ट॒न॒ ॥ सु॒-स्य॒दाः । यू॒यम् । स्य॒न्द॒ध्व॒म् । उप॑-हूतः । अ॒हम् । सु॒-मेधाः॑ । वर्च॒स्वी ॥ २ ॥

भाषार्थ—(आपः) जल [के समान शान्त स्वरूप प्रजाओ] तुम (मा) न (नः) हमारी (मेधाम्) धारणावती बुद्धि को और (मा) न (ब्रह्म) वेदज्ञान को (प्र मथिष्टन) नष्ट करो । (सुष्यदाः) सहज में बहने वाले (यूयम्) तुम (स्यन्दध्वम्) बहते जाओ । (उपहूतः) आवाहन किया हुआ (अहम्) मैं (सुमेधाः) सुन्दर बुद्धि वाला और (वर्चस्वी) बड़ा प्रतापी [हो जाऊं] २

भावार्थ—जैसे प्रभूत जल बे रोक टोक सहज में बहता चला जाता है, वैसे ही मनुष्य सब विघ्नों को हटाकर अपने सन्तान आदि को बुद्धिमान् और प्रतापी बनावें ॥ २ ॥

मा नो॑ मे॒धां मा नो॑ दी॒क्षां मा नो॑ हिंसिष्टं॒ यत् तपः॑ ।

शि॒वा नः॒ शं स॒न्त्वायु॑षे शि॒वा भ॑वन्तु मा॒तरः॑ ॥ ३ ॥

मा । नः॒ । मे॒धाम् । मा । नः॒ । दी॒क्षाम् । मा । नः॒ । हिं॒सि॒-

२—(मा) निषेधे (नः) अस्माकम् (आपः) जलानीव शान्तस्वभावाः प्रजाः (मेधाम्) धारणावतीं बुद्धिम् (मा) निषेधे (ब्रह्म) वेदज्ञानम् (प्र मथिष्टन) मथे विलोडने—लङि छान्दसं रूपम् । प्रमथत । प्रभ्रंशं कुरुत (सुष्यदाः) सु+स्यन्दू प्रस्रवणे—क, टाप् । सहजस्रवणशीलाः (यूयम्) (स्यन्दध्वम्) प्रवहत (उपहूतः) आहूतः (अहम्) (सुमेधाः) अ० ५ । ११ । १ । सु+मेधा-असिच् । सुबुद्धियुक्तः (वर्चस्वी) प्रतापी, भूयासमिति शेषः ॥

द्रुम् । यत् । तपः ॥ शिवाः । नः । शम् । सुन्तु । आयुषे । शिवाः । भवन्तु । मातरः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे माता पिता ! म० ४] तुम दोनों (न) न तौ (नः) हमारी (मेधाम्) धारणावती बुद्धि को, (मा) न (नः) हमारी (दीक्षाम्) दीक्षा [नियम और व्रत की शिक्षा] को और (मा) न (नः) हमारा (यत्) जो कुछ (तपः) तप [ब्रह्मचर्यादि] है, [उसको] (हिंसिष्टम्) नष्ट करो। (नः) हमारे (आयुषे) जीवन के लिये [वे प्रजायें] (शिवाः) कल्याणकारिणी और (शम्) शान्तिदायिनी (सन्तु) होवें, और (शिवाः) कल्याणकारिणी (मातरः) माताओं [के समान] (भवन्तु) होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—माता पिता ऐसा प्रयत्न करें कि उनके सन्तान बुद्धिमान्, धर्मात्मा और सर्वहितैषी होवें, जिससे उन से सब लोग माता के समान प्रीति करें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से महर्षि दयानन्दकृतसंस्कारविधि वानप्रस्थप्रकरण में व्याख्यात है ॥

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः ।
तामस्मे रासतामिषम् ॥ ४ ॥

या । नः । पीपरत् । अश्विना । ज्योतिष्मती । तमः । तिरः ॥
ताम् । अस्मे । रासताम् । इषम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(या) जो (ज्योतिष्मती) उत्तम ज्योति वाली [अन्न सामग्री] (तमः) अन्धकार का (तिरः) तिरस्कार करके (नः) हमें (पीप-

---

३—(मा) निषेधे (नः) अस्माकम् (मेधाम्) धारणावतीं बुद्धिम् (मा) (नः) (दीक्षाम्) नियमव्रतयोः शिक्षाम् (मा) (नः) (हिंसिष्टम्) नाशयतं युवाम् (यत्) (तपः) ब्रह्मचर्यादि तपश्चरणम् (शिवाः) मङ्गलकारिण्यः प्रजाः (नः) अस्माकम् (शम्) शान्तिदायिन्यः (सन्तु) (आयुषे) जीवनाय (शिवाः) मङ्गलप्रदाः (भवन्तु) (मातरः) जननीवद्धितकारिण्यः ॥

४—(या) इट् । अन्नसामग्री (नः) अस्मान् (पीपरत्) पूरयेत् (अश्विना) व्यवहारेषु व्यापकौ मातापितरौ (ज्योतिष्मती) प्रकाशवती (तमः) अन्धकारम्

रत्) पूर्ण करे, (अश्विना) व्यवहारों में व्यापक दोनों [माता पिता] (ताम्) उस (इषम्) अन्न सामग्री को (अस्मे) हमें (रासताम्) दिया करें ॥४॥

भावार्थ—माता पिता सन्तानों को ऐसा विद्वान् और बलवान् बनावें कि जिससे उत्तम अन्न के भोगने से नेत्रों में कभी अन्धकार न छावे, किन्तु सदा ज्योति बनी रहे ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१ । ४६ । ६ ॥

सूक्तम् ४१ ॥

मन्त्रः १ ॥ ऋषयो देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

कल्याणप्राप्त्युपदेशः—कल्याण की प्राप्ति का उपदेश ॥

भुद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदुस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥ १ ॥

भुद्रम् । इच्छन्तः । ऋषयः । स्वः-विदः । तपः । दीक्षाम् । उप-निसेदुः । अग्रे ॥ ततः । राष्ट्रम् । बलम् । ओजः । च । जातम् । तत् । अस्मै । देवाः । उप-संनमन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(भद्रम्) कल्याण [श्रेष्ठ वस्तु] (इच्छन्तः) चाहते हुये, (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त होने वाले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (तपः) तप [ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदाध्ययन जितेन्द्रियतादि] और (दीक्षाम्) दीक्षा [नियम और व्रत की शिक्षा] का (अग्रे) पहिले (उपनिषेदुः) अनुष्ठान किया है । (ततः) उस से (राष्ट्रम्) राज्य, (बलम्) बल [सामर्थ्य]

(तिरः) तिरस्कृत्य (ताम्) तादृशीम् (अस्मे) अस्मभ्यम् (रासताम्) प्रयच्छतां तौ (इषम्) इषम्, अन्ननाम-निघ० २ । ७ । इष्यमानामन्नसामग्रीम् ॥

१—(भद्रम्) कल्याणम् (इच्छन्तः) कामयमानाः (ऋषयः) वेदार्थ-ज्ञानिनः (स्वर्विदः) सुखं लभमानाः (तपः) ब्रह्मचर्यादि तपश्चरणम् (दीक्षाम्) नियमव्रतयोः शिक्षाम् (उपनिषेदुः) षद्लृ गतौ-लिट् । अनुष्ठितवन्तः । सेवितवन्तः (अग्रे) आदौ (ततः) तस्मात् कारणात् (राष्ट्रम्) राज्यम् (बलम्) सामर्थ्यम् (ओजः) पराक्रमः (च) (जातम्) निष्पन्नम् (तत्) भद्रम्

(च) और (ओजः) पराक्रम (जातम्) सिद्ध हुआ है, (तत्) उस [कल्याण] को (अस्मै) इस पुरुष के लिये (देवाः) विद्वान् लोग (उपसंनमन्तु) झुका देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोगों ने पराक्रम से पहिले वेदाध्ययन, जितेन्द्रियता आदि तप का अभ्यास करके महासुख पाया है, इस लिये ऋषि लोग प्रयत्न करें कि सब मनुष्य विद्वान् होकर महासुख को प्राप्त होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम प्रकरण में व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ४२ ॥

१-४ ॥ ब्रह्म देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ विराट् पथ्या पङ्क्तिः; ३ निचृत् त्रिष्टुप्; ४ विराडार्षी जगती ॥

ब्रह्मस्तुत्युपदेशः—वेद की स्तुति का उपदेश ॥

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः ।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः ॥ १ ॥

ब्रह्म । होता । ब्रह्म । यज्ञाः । ब्रह्मणा । स्वरवः । मिताः ॥
अध्वर्युः । ब्रह्मणः । जातः । ब्रह्मणः । अन्तः-हितम् । हविः १

भाषार्थ—(ब्रह्म = ब्रह्मणा) वेद द्वारा (होता) होता [हवनकर्ता], (ब्रह्म) वेद द्वारा (यज्ञाः) अनेक यज्ञ होते हैं, (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (स्वरवः) यज्ञस्तम्भ (मिताः) खड़े किये जाते हैं । (ब्रह्मणः) वेद से (अध्वर्युः) यज्ञ कर्ता (जातः) प्रसिद्ध होता है, (ब्रह्मणः) वेद के (अन्तर्हितम्) भीतर

(अस्मै) पुरुषाय (देवाः) विद्वांसः (उपसंनमन्तु) आदरेण नमयन्तु । प्रापयन्तु ॥

१—(ब्रह्म) तृतीयार्थे प्रथमा । ब्रह्मणा । वेदद्वारा (होता) हवनकर्ता (ब्रह्म) वेदद्वारा (यज्ञाः) यज्ञव्यवहाराः (ब्रह्मणा) वेदद्वारा (स्वरवः) यूपाः । यज्ञस्तम्भाः (मिताः) डु मिञ् प्रक्षेपणे-क्त । प्रक्षिप्ताः । स्थापिताः (अध्वर्युः) ऋत्विक् (ब्रह्मणः) वेदात् (जातः) प्रसिद्धो भवति (ब्रह्मणः)

रक्खा हुआ (हविः) हवि [हवन विधान] है ॥ १ ॥

भावार्थ—वेद द्वारा ही याजक, यज्ञव्यवहार और यज्ञविधान निश्चित होते हैं ॥ १ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि संन्यासाश्रम प्रकरण में उद्धृत है ॥

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता । ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः । शमिताय स्वाहा ॥ २ ॥

ब्रह्म । स्रुचः । घृत-वतीः । ब्रह्मणा । वेदिः । उत्-हिता ॥ ब्रह्म । यज्ञस्य । तत्त्वम् । च । ऋत्विजः । ये । हविः-कृतः ॥ शमिताय । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्म=ब्रह्मणा) वेद द्वारा (घृतवतीः) घी वाली (स्रुचः) स्रुचायें [चमचे], (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (वेदिः) वेदी (उद्धिता) स्थिर की गयी है। (ब्रह्म) वेद द्वारा (यज्ञस्य) यज्ञ का (तत्त्वम्) तत्त्व (च) और (ये) जो (हविष्कृतः) हवन करने वाले (ऋत्विजः) ऋत्विज हैं [वे भी स्थिर किये हैं]। (शमिताय) शान्तिकारक [वेद] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] है ॥ २ ॥

भावार्थ—वेद से ही यज्ञ के साधनों और यज्ञकर्ताओं का विधान किया जाता है ॥ २ ॥

वेदस्य (अन्तर्हितम्) मध्ये धृतम् । प्रणीतम् (हविः) हवनविधानम् ॥

२—(ब्रह्म) ब्रह्मणा । वेदद्वारा (स्रुचः) यज्ञपात्राणि । चमसाः (घृतवतीः) घृतवत्यः । घृतेन पूर्णाः (ब्रह्मणा) वेदद्वारा (वेदिः) यज्ञभूमिः (उद्धिता) सम्पादिता (ब्रह्म) ब्रह्मणा । वेदद्वारा (यज्ञस्य) यागस्य (तत्त्वम्) स्वरूपम् । याथातथ्यम् (च) (ऋत्विजः) होतारः (ये) (हविष्कृतः) यज्ञकर्तारः (शमिताय) हृश्यारुयामितन् । उ० ३ । ६३ । शमु उपशमे-इतन् । शान्तिकारकाय वेदाय (स्वाहा) सुवाणी ॥

अं॒हो॒मुचे॒ प्र भ॑रे मनी॒षामा सु॒त्राव्णे॑ सुम॒तिमा॑वृणा॒नः ।
इ॒ममि॑न्द्र॒ प्रति॑ ह॒व्यं गृ॑भाय स॒त्याः स॑न्तु॒ यज॑मानस्य॒ कामाः॑ ॥३॥

अं॒हः॒ऽमुचे॑ । प्र । भ॒रे॒ । म॒नी॒षाम् । आ । सु॒ऽत्राव्णे॑ । सु॒ऽम॒तिम् । आ॒ऽवृ॒णा॒नः ॥ इ॒मम् । इ॒न्द्र॒ । प्रति॑ । ह॒व्यम् । गृ॒भा॒य॒ । स॒त्याः । स॒न्तु॒ । यज॑मानस्य । कामाः॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सुमतिम्) सुमति (आवृणानः) मांगता हुआ मैं (अंहोमुचे) कष्ट से छुड़ाने हारे, (सुत्राव्णे) बड़े रक्षक [परमात्मा] के लिये (मनीषाम्) अपनी मनन शक्ति को (आ) सब ओर से (प्र भरे) समर्पण करता हूं। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (इमम्) इस (हव्यम्) ग्राह्य स्तुति को (प्रति गृभाय) स्वीकार कर, (यजमानस्य) यजमान के (कामाः) मनोरथ (सत्याः) सत्य [पूर्ण] (सन्तु) होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि परमात्मा को आत्मसमर्पण करके सुमति के साथ अपने उत्तम मनोरथ सिद्ध करे ॥ ३ ॥

अं॒हो॒मुचं॑ वृष॒भं य॒ज्ञिया॑नां वि॒राज॑न्तं प्रथ॒मम॑ध्व॒राणा॑म् ।
अ॒पां नपा॑तम॒श्विना॑ हुवे॒ धिय॑ इन्द्रि॒येण॑ त इन्द्रि॒यं द॑त्त॒मोजः॑ ॥४॥

अं॒हः॒ऽमुच॑म् । वृ॒ष॒भम् । य॒ज्ञिया॑नाम् । वि॒ऽराज॑न्तम् । प्र॒थ॒मम् । अ॒ध्व॒राणा॑म् ॥ अ॒पाम् । नपा॑तम् । अ॒श्विना॑ । हु॒वे॒ । धियः॑ । इ॒न्द्रि॒येण॑ । ते॒ । इ॒न्द्रि॒यम् । द॒त्त॒म् । ओजः॑ ॥ ४ ॥

३—(अंहोमुचे) कष्टाद् मोचयित्रे (प्रभरे) समर्पयामि (मनीषाम्) अ० ५ । ६ । ८ । कृतॄभ्यामीषन् । उ० ४ । २६ । मनु अवबोधने-ईषन्, टाप् । मननशक्तिम् । प्रज्ञाम् (आ) समन्तात् (सुत्राव्णे) सु+त्रैङ् पालने-वनिप् । महारक्षकाय परमेश्वराय (सुमतिम्) कल्याणबुद्धिम् (आवृणानः) याचमानः (इमम्) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (हव्यम्) ग्राह्यं स्तोमम् (प्रति गृभाय) प्रतिगृहाण । स्वीकुरु (सत्याः) यथार्थाः । पूर्णाः (सन्तु) (यजमानस्य) (कामाः) मनोरथाः ॥

भाषार्थ—(अंहोमुचम्) कष्ट से छुड़ाने हारे, (यज्ञियानाम्) पूजा योग्यों में (वृषभम्) श्रेष्ठ, (अध्वराणाम्) हिंसा रहित यज्ञों के (विराजन्तम्) विशेष शोभायमान (प्रथमम्) मुख्य, (अपाम्) प्रजाओं के (नपातम्) न गिराने वाले [बड़े रक्षक, परमात्मा] को (हुवे) मैं बुलाता हूं । [हे उपासक !] (अश्विना) व्यवहारों में व्यापक माता पिता दोनों (इन्द्रियेण) परम ऐश्वर्य-वान् पुरुष के पराक्रम से (ते) तुझ को (धियः) बुद्धियां, (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य और (ओजः) पराक्रम (दत्तम् = दत्ताम्) देवें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता आचार्य आदि की शिक्षा से बुद्धिमान्, ऐश्वर्यवान् और पराक्रमी होकर परमात्मा की भक्ति करके उन्नति करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ४३ ॥

१—८ ॥ ब्रह्म देवता ॥ भुरिग् ब्राह्मी गायत्री ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपदेशः—ब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश ॥

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह । अ॒ग्निर्मा॒ तत्र॑ नयत्व॒ग्निर्मे॒धा द॑धातु मे । अ॒ग्नये॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

यत्र॑ । ब्र॒ह्म॒-विदः॑ । यान्ति॑ । दी॒क्षया॑ । तप॑सा । स॒ह ॥ अ॒ग्निः । मा॒ । तत्र॑ । न॒य॒तु॒ । अ॒ग्निः । मे॒धाः । द॒धा॒तु॒ । मे॒ ॥ अ॒ग्नये॑ । स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां [सुख में] (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी [ईश्वर वा वेद के जानने वाले लोग] (दीक्षया) दीक्षा [नियम और व्रत की शिक्षा]

४—(अंहोमुचम्) पापाद् मोचयितारम् (वृषभम्) श्रेष्ठम् (यज्ञियानाम) पूजनीयानाम् (विराजन्तम्) विशेषेण शोभायमानम् (प्रथमम्) मुख्यम् (अध्वराणाम्) हिंसारहितानां यज्ञानाम् (अपाम्) प्रजानाम् (नपातम्) न पातयितारम् । महारक्षकम् (अश्विना) हे कर्मसु व्यापकौ मातापितरौ (हुवे) आह्वयामि (धियः) बुद्धीः (इन्द्रियेण) इन्द्रयोग्यपराक्रमेण (ते) तुभ्यम् (इन्द्रियम्) परमैश्वर्यम् (दत्तम्) दत्ताम् । प्रयच्छताम् (ओजः) पराक्रमम् ॥

१—(यत्र) यस्मिन् सुखे (ब्रह्मविदः) ईश्वरस्य वेदस्य वा वेत्तारः (यान्ति) गच्छन्ति (दीक्षया) नियमव्रतयोः शिक्षया (तपसा) ब्रह्मचर्यादित-

और (तपसा सह) तप [वेदाध्ययन, जितेन्द्रियता] के साथ (यान्ति) पहुंचते हैं। (अग्निः) अग्नि [अग्नि समान सर्वव्यापक परमात्मा] (मा) मुझे (तत्र) वहां [सुख में] (नयतु) पहुंचावे, (अग्निः) अग्नि [व्यापक परमात्मा] (मेधाः) धारणावती बुद्धियां (मे) मुझ को (दधातु) देवे। (अग्नये) अग्नि [परमात्मा] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य योगी महात्माओं के समान दीक्षा और ब्रह्मचर्य आदि व्रत से परमेश्वर और शारीरिक और आत्मिक बल में दृढ़ रहकर अनेक प्रकार बुद्धियों को बढ़ाते हुये सुख प्राप्त करें ॥ १ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि संन्यासाश्रम प्रकरण में उद्धृत है ॥

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह। वा॒युर्मा॒ तत्र॑ नयतु वा॒युः प्रा॒णान् द॑धातु मे। वा॒यवे॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

यत्र॑। ब्र॒ह्म॒-विदः॑। यान्ति॑। दी॒क्षया॑। तप॑सा। स॒ह ॥ वा॒युः। मा॒। तत्र॑। न॒य॒तु॒। वा॒युः। प्रा॒णान्। द॒धा॒तु॒। मे॒ ॥ वा॒यवे॑। स्वाहा॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [सुख] में (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी...... [मन्त्र १]। (वायुः) वायु [पवन के समान शीघ्रगामी परमात्मा] (मा) मुझ को (तत्र) वहां (नयतु) पहुंचावे, (वायुः) वायु [परमात्मा] (मे) मुझे (प्राणान्) प्राणों को (दधातु) देवे, (वायवे) वायु [परमात्मा] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] होवे ॥ २ ॥

पश्चरणेन (सह) (अग्निः) अग्निवत् सर्वव्यापकः परमात्मा (मा) माम् (तत्र) सुखे (नयतु) प्रापयतु (अग्निः) व्यापकः परमेश्वरः (मेधाः) धारणावतीर्बुद्धीः (दधातु) ददातु (मे) मह्यम् (अग्नये) परमात्मने (स्वाहा) सुवाणी ॥

२—(वायुः) वायुसमानशीघ्रगामी परमात्मा (वायुः) (प्राणान्) जीवनसाधनानि (दधातु) ददातु (मे) मह्यम् (वायवे) शीघ्रगामिने परमात्मने (स्वाहा) सुवाणी। अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ २ ॥

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
सूर्यो॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ चक्षुः॒ सूर्यो॑ दधातु॒ मे । सूर्या॑य॒ स्वाहा॑ ॥३॥

यत्र॑ । ब्र॒ह्म॒-विदः॑ । यान्ति॑ । दी॒क्षया॑ । तप॑सा । स॒ह ॥ सूर्यः॑ । मा॒ । तत्र॑ । न॒य॒तु॒ । चक्षुः॑ । सूर्यः॑ । द॒धा॒तु॒ । मे॒ ॥ सूर्या॑य । स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [सुख] में (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी...... [मन्त्र १] । (सूर्यः) सूर्य [सूर्य के समान प्रकाशमान परमात्मा] (मा) मुझे (तत्र) वहां (नयतु) पहुंचावे, (सूर्यः) सूर्य [परमात्मा] (मा) मुझ को (चक्षुः) दर्शन सामर्थ्य (दधातु) देवे (सूर्याय) सूर्य [परमात्मा] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
च॒न्द्रो मा॒ तत्र॑ नयतु॒ मन॑श्च॒न्द्रो द॑धातु मे । च॒न्द्राय॒ स्वाहा॑ ४

यत्र॑ । ब्र॒ह्म॒-विदः॑ । यान्ति॑ । दी॒क्षया॑ । तप॑सा । स॒ह ॥ च॒न्द्रः । मा॒ । तत्र॑ । न॒य॒तु॒ । मनः॑ । च॒न्द्रः । द॒धा॒तु॒ । मे॒ ॥ च॒न्द्राय॑ । स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [सुख] में (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी..... [मन्त्र १] । (चन्द्रः) चन्द्र [चन्द्र समान आनन्द देने वाला परमात्मा] (मा) मुझे (तत्र) वहां (नयतु) पहुंचावे, (चन्द्रः) चन्द्र [परमात्मा]

३—(सूर्यः) सूर्यवत्प्रकाशमानः परमात्मा (चक्षुः) दर्शनसामर्थ्यम् (सूर्यः) (सूर्याय) प्रकाशमानाय परमात्मने । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(चन्द्रः) चन्द्र इवाह्लादकः परमात्मा (मनः) मननसामर्थ्यम

(मे) मुझको (मनः) मननसामर्थ्य (दधातु) देवे । (चन्द्राय) चन्द्र [परमात्मा] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ४ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय स्वाहा ॥ ५ ॥

यत्र । ब्रह्म-विदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ॥ सोमः । मा । तत्र । नयतु । पयः । सोमः । दधातु । मे ॥ सोमाय । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [सुख] में (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी······ [मन्त्र १] । (सोमः) सोम [सर्वोत्पादक परमेश्वर] (मा) मुझे (तत्र) वहां (नयतु) पहुंचावे, (सोमः) सोम [परमात्मा] (मे) मुझ को (पयः) अन्न (दधातु) देवे । (सोमाय) सोम [परमात्मा] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ५ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह । इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा ६॥

यत्र । ब्रह्म-विदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ॥ इन्द्रः । मा । तत्र । नयतु । बलम् । इन्द्रः । दधातु । मे ॥ इन्द्राय । स्वाहा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [सुख] में (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी·····

(चन्द्रः) (चन्द्राय) आह्लादकाय परमात्मने । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(सोमः) सर्वोत्पादकः परमात्मा (पयः) अन्नम्—निघ० २ । ७ (सोमः) (सोमाय) परमात्मने । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (बलम्) सामर्थ्यम् (इन्द्रः)

[मन्त्र १] । (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा] (मा) मुझे (तत्र) वहां (नयतु) पहुंचावे, (इन्द्रः) इन्द्र [परमात्मा] (मे) मुझको (बलम्) बल (दधातु) देवे। (इन्द्राय) इन्द्र [परमात्मा] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ६ ॥

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह ।
आपो॒ मा॒ तत्र॑ नयन्त्व॒मृतं॒ मोप॑ तिष्ठतु । अ॒द्भ्यः स्वाहा॑ ॥७॥

यत्र॑ । ब्र॒ह्म॒-विदः॑ । यान्ति॑ । दी॒क्षया॑ । तप॑सा । स॒ह ॥ आपः॑ । मा॒ । तत्र॑ । न॒य॒न्तु॒ । अ॒मृत॑म् । मा॒ । उप॑ । ति॒ष्ठ॒तु॒ ॥ अ॒त्-भ्यः॑ । स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [सुख] में (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी...... [मन्त्र १]। (आपः) आप [जल के समान व्यापक परमात्मा] (मा) मुझे (तत्र) वहां (नयतु=नयन्तु) पहुंचावे, (अमृतम्) अमृत [अमरपन, दुःख रहित सुख] (मा) मुझ को (उप-तिष्ठतु) प्राप्त होवे। (अद्भ्यः) आप [व्यापक परमात्मा] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] होवे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ७ ॥

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह । ब्र॒ह्मा मा॒ तत्र॑ नयतु ब्र॒ह्मा ब्रह्म॑ दधातु मे । ब्र॒ह्मणे॒ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

यत्र॑ । ब्र॒ह्म॒-विदः॑ । यान्ति॑ । दी॒क्षया॑ । तप॑सा । स॒ह ॥ ब्र॒ह्मा ।

(इन्द्राय) परमैश्वर्यवते परमेश्वराय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(आपः) जलानीव व्यापकः परमात्मा (नयतु) नयन्तु (अमृतम्) अमरणम् । दुःखरहितं सुखम् (मा) माम् (उपतिष्ठतु) प्राप्नोतु (अद्भ्यः) सर्वव्यापकाय परमेश्वराय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

मा । तत्र । नयतु । ब्रह्मा । ब्रह्म । दधातु । मे ॥ ब्रह्मणे । स्वाहा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [सुख] में (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी [ईश्वर वा वेद के जानने वाले लोग] (दीक्षया) दीक्षा [नियम और व्रत की शिक्षा] और (तपसा सह) तप [वेदाध्ययन, जितेन्द्रियता] के साथ (यान्ति) पहुंचते हैं । (ब्रह्मा) ब्रह्मा [सब से बड़ा जगत्स्रष्टा परमात्मा] (मा) मुझे (तत्र) वहां (नयतु) पहुंचावे, (ब्रह्मा) ब्रह्मा [परमात्मा] (मे) मुझ को (ब्रह्म) वेदज्ञान (दधातु) देवे । (ब्रह्मणे) ब्रह्म [परमात्मा] के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ब्रह्मज्ञानियों के समान दीक्षा और तप के साथ परमात्मा की प्राप्ति का उपाय करते हैं, वे ही ब्रह्मानन्द भोगते हैं ॥ ८ ॥

सूक्तम् ४४ ॥

१—१० ॥ आञ्जनं देवता ॥ १—३, ६—१० अनुष्टुप्; ४ विराडार्ष्युष्णिक्; ५ निचृदार्षी गायत्री ॥

ब्रह्मोपासनोपदेशः—ब्रह्म की उपासना का उपदेश ॥

आयुषोऽसि प्रतरणं विप्रं भेषजमुच्यसे ।

तदाञ्जन त्वं शंताते शमापो अभयं कृतम् ॥ १ ॥

आयुषः । असि । प्र-तरणम् । विप्रम् । भेषजम् । उच्यसे ॥ तत् । आ-अञ्जन । त्वम् । शम्-ताते । शम् । आपः । अभयम् । कृतम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्म !] तू (आयुषः) जीवन का (प्रतरणम्) बढ़ाने वाला (असि) है, तू (विप्रम्) परिपूर्ण (भेषजम्) औषध (उच्यसे) कहा

८—(ब्रह्मा) सर्ववृद्धः । जगत्स्रष्टा परमेश्वरः (ब्रह्म) (ब्रह्म) वेदज्ञानम् (ब्रह्मणे) जगदुत्पादकाय परमेश्वराय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(आयुषः) जीवनस्य (असि) (प्रतरणम्) प्रवर्धकम् (विप्रम्) वि+प्रा पूरणे—क । परिपूर्णम् (भेषजम्) औषधम् (उच्यसे) कथ्यसे (तत्)

जाता है। (तत्) सो, (शन्ताते) हे शान्तिकारक ! (आञ्जन) आञ्जन [संसार प्रकट करने वाले ब्रह्म], (त्वम्) तू (आपः) हे सुकर्म ! [तुम दोनों] (शम्) शान्ति और (अभयम्) अभय (कृतम्) करो ॥ १ ॥

भावार्थ—जो प्राणी परमात्मा के नियम पर चलकर सुकर्म करते हैं, वे सदा सुखी और निर्भय रहते हैं ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान करो—अ० ४ । ६ ॥

आञ्जन शब्द का अर्थ लेप औषध भी है ॥

यो ह॑रि॒मा जा॒याना॒न्योऽङ्गभे॒दो वि॑स॒ल्पकः॑ ।
सर्वं॑ ते॒ यक्ष्म॒मङ्गे॑भ्यो ब॒हिर्नि॑र्ह॒न्त्वाञ्ज॑नम् ॥ २ ॥

यः । ह॒रि॒मा । जा॒यान्यः॑ । अ॒ङ्ग॒ऽभे॒दः । वि॒ऽस॒ल्पकः॑ ॥ सर्व॑म् । ते॒ । यक्ष्म॑म् । अङ्गे॑भ्यः । ब॒हिः । निः । ह॒न्तु॒ । आ॒ऽअ॒ञ्जन॑म् २

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यः) जो (हरिमा) पीलिया रोग (जायान्यः) क्षय रोग, और (अङ्गभेदः) अङ्गों का तोड़ने वाला (विसल्पकः) विसल्पक [शरीर में फूटने वाली हड़फूटन] है। (सर्वम्) सब (यक्ष्मम्) राजरोग को

तस्मात् कारणात् (आञ्जन) अ० ४ । ६ । ३ । आङ्+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—ल्युट्। हे यथावत् संसारस्य व्यक्तिकारक ब्रह्म । हे प्रलेप (त्वम्) (शन्ताते) अ० ४ । १३ । ५ । शिवशमरिष्टस्य करे । पा० ४ । ४ । १४३ । तातिल् प्रत्ययः करणेऽर्थे । हे शान्तिकारक (शम्) शान्तिम् (आपः) आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा । उ० ४ । २०८ । आप्लृ व्याप्तौ—असुन् । हे सुकर्म (अभयम्) भयराहित्यम् (कृतम्) कुरुतं युवाम् ॥

२—(यः) (हरिमा) अ० १ । २२ । १ । हरित्—इमनिच् भावे । पाण्डुरोगः (जायान्यः) अ० ७ । ७६ । ३ । वदेरान्यः । उ० ३ । १०४ । जै क्षये—आन्य । क्षयरोगः (अङ्गभेदः) अङ्गानां भेदकः (विसल्पकः) अ० ६ । १२७ । १ । वि+सृप सर्पणे-अच्, कन्, रस्य लः । शरीरे विसर्पणशीलो विसर्परोगः (सर्वम्) (ते) तव (यक्ष्मम्) राजरोगम् (अङ्गेभ्यः) शरीरावयवसकाशात् (बहिः)

(ते) तेरे (अङ्गेभ्यः) अङ्गों से (आञ्जनम्) आञ्जन [संसार का प्रकट करने वाला ब्रह्म] (बहिः) बाहिर (निः हन्तु) निकाल मारे ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के नियम पर चलने वाला धर्मात्मा पुरुष शारीरिक और आत्मिक रोगों से ज्ञान द्वारा पृथक् रहे ॥ २ ॥

आञ्जनं पृथिव्यां जातं भद्रं पुरुषजीवनम् ।
कृणोत्वप्रमायुकं रथजूतिमनागसम् ॥ ३ ॥

आ-अञ्जनम् । पृथिव्याम् । जातम् । भद्रम् । पुरुष-जीवनम् ॥
कृणोतु । अप्र-मायुकम् । रथ-जूतिम् । अनागसम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पृथिव्याम्) पृथिवी पर (जातम्) प्रसिद्ध, (भद्रम्) कल्याण कारक, (पुरुषजीवनम्) पुरुषों का जीवन (आञ्जनम्) आञ्जन [संसार का प्रकट करने वाला ब्रह्म, वा लेप विशेष] [मुझको] (अप्रमायुकम्) मृत्यु रहित, (रथजूतिम्) रथ [शरीर] का वेग रखने वाला, और (अनागसम्) निर्दोष (कृणोतु) करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा पृथिवी आदि में प्रसिद्ध है, उस की भक्ति से मनुष्य मोक्ष सुख पाकर अपने शरीर और आत्मा को वेगवान् करके शुद्ध निष्पाप रहें ॥ ३ ॥

प्राणं प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड ।
निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च ॥ ४ ॥

पृथक् (निः) नितराम् (हन्तु) नाशयतु (आञ्जनम्) म० १ । संसारस्य व्यक्तिकारकं ब्रह्म । प्रलेपः ॥

३—(आञ्जनम्) म० १ । संसारस्य व्यक्तिकारकं ब्रह्म । प्रलेपविशेषः (पृथिव्याम्) भूमौ (जातम्) प्रसिद्धम् (भद्रम्) कल्याणकरम् (पुरुषजीवनम्) पुरुषाणां जीवयितृ (कृणोतु) करोतु—मामिति शेषः (अप्रमायुकम्) पचिनशोर्णुकन्कनुमौ च । उ० २ । ३० । मीञ् हिंसायां मरणे च—णुकन् । मृत्युरहितम् (रथजूतिम्) रथस्य शरीरस्य जूतिर्वेगो यस्मात्तम् (अनागसम्) निर्दोषम् ॥

प्राण॑ । प्रा॒णम् । त्रा॒यस्व॒ । असो॒ इति॑ । अस॑वे । मृ॒ड ॥
निः-ऋ॑ते । निः-ऋ॑त्याः । नः॒ । पाशे॑भ्यः । मु॒ञ्च॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(प्राण) हे प्राण ! [जीवन दाता परमेश्वर] [मेरे] (प्राणम्) प्राण [जीवन] को (त्रायस्व) बचा, (असो) हे बुद्धिरूप ! (असवे) [मेरी] बुद्धि के लिये (मृड) प्रसन्न हो । (निर्ऋते) हे नित्य व्यापक ! (निर्ऋत्याः) महाविपत्ति के (पाशेभ्यः) फन्दों से (नः) हमें (मुञ्च) छुड़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा की आज्ञा में प्रवृत्त रहकर अपनी बुद्धि बढ़ाते हैं वे क्लेशों में नहीं पड़ते ॥ ४ ॥

सिन्धो॒र्गर्भो॑ऽसि वि॒द्युतां॒ पुष्प॑म् ।
वातः॑ प्रा॒णः सूर्य॒श्चक्षु॑र्दि॒वस्पयः॑ ॥ ५ ॥

सिन्धोः॑ । गर्भः॑ । अ॒सि॒ । वि॒-द्युता॑म् । पुष्प॑म् ॥
वातः॑ । प्रा॒णः । सूर्यः॑ । चक्षुः॑ । दि॒वः । पयः॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] तू (सिन्धोः) समुद्र का (गर्भः) गर्भ [उदर समान आधार] और (विद्युताम्) प्रकाश वालों का (पुष्पम्) विकाश [फैलाव रूप] (असि) है। (वातः) पवन (प्राणः) [तेरा] प्राण [श्वास], (सूर्यः) सूर्य (चक्षुः) [तेरा] नेत्र है, और (दिवः) आकाश (पयः) [तेरा] अन्न है ॥ ५ ॥

४-(प्राण) हे जीवनप्रद परमेश्वर (प्राणम्) मम जीवनम् (त्रायस्व) पालय (असो) असुरिति प्रज्ञानाम-निरु० १० । ३४ । हे प्रज्ञारूप (असवे) प्रज्ञायै (निर्ऋते) निः+ऋ गतौ—क्तिन् । हे नित्यव्यापक (निर्ऋत्याः) अ० २ । १० । १ । निः+ऋ हिंसायाम्—क्तिन् । महाविपत्तेः (नः) अस्मान् (पाशेभ्यः) बन्धनेभ्यः (मुञ्च) मोचय ॥

५—(सिन्धोः) समुद्रस्य (गर्भः) उदारसमान आधारः (असि) (विद्युताम्) विविधदीप्यमानानाम् (पुष्पम्) पुष्प विकसने—अच् । विकाशरूपः (वातः) वायुः (प्राणः) तव श्वासरूपः (सूर्यः) आदित्यः (चक्षुः) नेत्ररूपः (दिवः) दिवु-क । आकाशः (पयः) तवान्नम् ॥

भावार्थ—मनुष्य विराट् रूप परमात्मा को सर्वनियन्ता जानकर सदा पुरुषार्थ करें ॥ ५ ॥

देवा॑ञ्जन॒ त्रैक॑कुदं॒ परि॑ मा पाहि वि॒श्वतः॑ ।
न त्वा॑ तर॒न्त्योष॑धयो॒ बाह्याः॑ पर्व॒तीया॑ उ॒त ॥ ६ ॥

देव॑-आ॒ञ्जन॑ । त्रैक॑कुदम् । परि॑ । मा॒ । पा॒हि॒ । वि॒श्वतः॑ ॥
न । त्वा॒ । त॒र॒न्ति॒ । ओष॑धयः । बाह्याः॑ । प॒र्व॒तीयाः॑ । उ॒त ॥६॥

भाषार्थ—(देवाञ्जन) हे देवाञ्जन ! [दिव्य स्वरूप, संसार के प्रकट करने वाले ब्रह्म] (त्रैककुदम्) तीन [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] सुखों का पहुंचाने वाला तू (मा) मुझे (विश्वतः) सब ओर (परि पाहि) बचाता रहे । (बाह्याः) बाहिरी [पर्वतों से भिन्न स्थानों में उत्पन्न] (उत) और (पर्वतीयाः) पहाड़ी (ओषधयः) ओषधियां (त्वा) तुझ से (न) नहीं (तरन्ति) बढ़कर होती हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के नियमों पर चलते हैं, उन्हें भौतिक ओषधियों की आवश्यकता नहीं होती ॥ ६ ॥

वी॒३॒दं मध्य॒मवा॑सृपद् र॒क्षो॒हामी॑व॒चात॑नः ।
अमी॑वाः॒ सर्वा॑श्चा॒तय॑न् ना॒शय॑द॒भि॒भा इ॒तः ॥ ७ ॥

६—(देवाञ्जन) हे दिव्य, हे संसारस्य व्यक्तिकारक ब्रह्म (त्रैककुदम्) अ० ४ । ६ । ६-१० । त्रि+क+कुत्—अण् । कं सुखम्—निघ० ३ । ६ । कवते, गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । कुङ् गतिशोषणयोः—क्विप्, तुक् च, अन्तर्गतण्यर्थः तस्य दः आध्यात्मिकादीनि त्रीणि कानि सुखानि कावयति गमयतीति त्रिककुत, स्वार्थे अण्, त्रिककुदमेव त्रिककुत् । त्रयाणां सुखानां प्रापकम् (परि) (मा) माम् (पाहि) रक्ष (विश्वतः) सर्वतः (न) निषेधे (त्वा) त्वाम् (तरन्ति) लङ्घयन्ति (ओषधयः) औषधानि (बाह्याः) बहिस्-ष्यञ् । बहिर्भवाः । पर्वतव्यतिरेकस्थलेषूत्पन्नाः (पर्वतीयाः) पर्वत-छप्रत्ययः पर्वतेषु भवाः (उत) अपि च ॥

वि । इदम् । मध्यम् । अव । असृपत् ॥ रक्षः-हा । अमीव-चातनः ॥ अमीवाः । सर्वाः । चातयत् । नाशयत् । अभि-भाः । इतः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(रक्षोहा) राक्षसों का मारने वाला, (अमीवचातनः) रोगनाशक [परमात्मा] (इदम्) इस (मध्यम्) मध्यस्थान में (वि अव असृपत्) सरक आया है । (इतः) यहां से (सर्वाः) सब (अमीवाः) पीड़ाओं को (चातयत्) हटाता हुआ, और (अभिभाः) विपत्तियों को (नाशयत्) नाश करता हुआ [ब्रह्म, वर्तमान है] ॥ ७ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमात्मा को साक्षात् करके मनुष्य सब विघ्नों को हटावे ॥ ७ ॥

बह्वी३दं राजन् वरुणानृतमाह पूरुषः ।
तस्मात् सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥ ८ ॥

बहु । इदम् । राजन् । वरुण । अनृतम् । आह । पुरुषः ॥ तस्मात् । सहस्र-वीर्य । मुञ्च । नः । परि । अंहसः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे राजन् (वरुण) वरुण ! [सर्वश्रेष्ठ परमात्मन्] (पुरुषः) पुरुष (इदम्) अब (बहु) बहुत (अनृतम्) असत्य (आह) बोलता है । (सहस्रवीर्य) हे सहस्रप्रकार के पराक्रम वाले ! [ईश्वर] (तस्मात्) उस (अंहसः) पाप से (नः) हमें (परि) सर्वथा (मुञ्च) छुड़ा ॥ ८ ॥

७—(वि) विविधम् (इदम्) दृश्यमानम् (मध्यम्) मध्यस्थानम् (अव असृपत्) सर्पणेन व्याप्तवान् (रक्षोहा) राक्षसानां हन्ता (अमीवचातनः) रोगनाशकः परमात्मा (अमीवाः) रोगान् (सर्वाः) (चातयत्) नाशयत् (नाशयत्) दूरीकुर्वत् (अभिभाः) अ० ११ । २ । ११ । विपत्तीः (इतः) अस्मात् स्थानात् ॥

८—(बहु) (इदम्) इदानीम् (राजन्) हे सर्वशासक (वरुण) हे सर्वश्रेष्ठ परमात्मन् (अनृतम्) असत्यम् (आह) ब्रूते (पुरुषः) मनुष्यः (तस्मात्) निर्दिष्टात् (सहस्रवीर्य) हे अपरिमितपराक्रमवन् (मुञ्च) मोचय (नः) अस्मान् (परि) सर्वथा (अंहसः) पापात् ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा को साक्षी करके असत्य कभी न बोले ॥८॥

यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ।
तस्मात् सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥ ९ ॥

यत् । आपः। अघ्न्याः। इति । वरुण । इति । यत् । ऊचिम॥
तस्मात् । सहस्र-वीर्य । मुञ्च । नः । परि । अंहसः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यत्) क्योंकि (आपः) प्राण और (अघ्न्याः) न मारने योग्य गौयें हैं, (इति) इस लिये, (वरुण) हे वरुण ! [सर्वश्रेष्ठ परमात्मन्] (इति) इस लिये, (यत्) जो कुछ [असत्य] (ऊचिम) हम ने बोला है । (सहस्रवीर्य) हे सहस्रप्रकार के पराक्रम वाले ! [ईश्वर] (तस्मात्) उस (अंहसः) पाप से (नः) हमें (परि) सर्वथा (मुञ्च) छुड़ा ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने प्राणों, गौओं और परमात्मा का शपथ करके कभी असत्य न बोलें और न कभी पाप करें ॥ ९ ॥

इस मन्त्र का पहिला भाग आ चुका है—अ० ७ । ८३ । २, और कुछ भेद से यजुर्वेद में है-२० । १८ ॥

मित्रश्च त्वा वरुणश्चानुप्रेयतुराञ्जन ।
तौ त्वानुगत्य दूरं भोगाय पुनरोहतुः ॥ १० ॥

मित्रः । च । त्वा । वरुणः । च । अनु-प्रेयतुः । आ-अञ्जन॥
तौ। त्वा । अनु-गत्य । दूरम्। भोगाय । पुनः। आ । ऊहतुः१०

भाषार्थ—(आञ्जन) हे आञ्जन ! [संसार के प्रकट करने वाले ब्रह्म] [मेरे] (मित्रः) प्राण (च च) और (वरुणः) अपान दोनों (त्वा अनुप्रेयतुः)

९—(यत्) यस्मात् (आपः) प्राणाः (अघ्न्याः) अहन्तव्या गावः (इति) अनेन प्रकारेण (वरुण) हे सर्वोत्कृष्ट (इति) एवम् (यत्) अनृतम् (ऊचिम) वयं कथितवन्तः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१०—(मित्रः) मम प्राणः (च) (त्वा) त्वां परमात्मानम् (वरुणः) अपानः (च) (अनुप्रेयतुः) इण गतौ—लिट् । अनुसृत्य अग्रे जग्मतुः (आञ्जन)

तेरे पीछे आगे चले गये हैं। (तौ) वे दोनों (दूरम्) दूर तक (अनुगत्य) पीछे चलकर (त्वा) तुझ को (भोगाय) सुख भोगने के लिये (पुनः) फिर (आ ऊहतुः) ले आये हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्राण और अपान अर्थात् पूरे सामर्थ्य से परमात्मा को दूर दूर तक खोजते हैं, वे ही उसको अपने समीप पाकर आनन्द भोगते हैं ॥ १० ॥

सूक्तम् ४५ ॥

१-१० ॥१-५ आञ्जनं देवता ; ६—१० मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १ भुरिगनुष्टुप्; २ निचृदार्ष्यनुष्टुप् ; ३, ४ भुरिक् त्रिष्टुप् । ५ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ; ६ भुरिगार्ष्यनुष्टुप् ; ७-९ स्वराडार्ष्यनुष्टुप् ; १० निचृदार्षी बृहती ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

ऋणादृणमिव सं नयन् कृत्यां कृत्याकृतो गृहम् ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन ॥ १ ॥

ऋणात् । ऋणम्-इव । सम्-नयन् । कृत्याम् । कृत्या-कृतः । गृहम् ॥ चक्षुः-मन्त्रस्य । दुः-हार्दः । पृष्टीः । अपि । शृण । आ-अञ्जन ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इव) जैसे (ऋणात्) ऋण में से (ऋणम्) ऋण को [अर्थात् जैसे ऋण का भाग ऋण दाता को मनुष्य शीघ्र भेजता है वैसे] (कृत्याम्) हिंसा को (कृत्याकृतः) हिंसा करने वाले के (गृहम्) घर (संनयन्) भेज देता हुआ तू, (आञ्जन) हे आञ्जन ! [संसार के प्रकट करने वाले ब्रह्म]

म० १०—संसारस्य व्यक्तीकारक ब्रह्म (तौ) प्राणापानौ (त्वा) त्वाम् (अनुगत्य) अनुसृत्य (भोगाय) सुखानुभवाय (पुनः) (आ ऊहतुः) वह प्रापणे—लिट् । आनीतवन्तौ ॥

१—(ऋणात्) ऋ गतौ—क्तप्रत्ययः, तस्य नत्वम् । पुनर्देयत्वेन गृहीताद्धनात् (ऋणम्) ऋणभागम् (इव) यथा (संनयन्) सम्यक् प्रापयन् (कृत्याम्) हिंसाम् (कृत्याकृतः) हिंसाकारकस्य (गृहम्) चक्षुर्मन्त्रस्य) अ० २ । ७ । ५ । चक्षुः+मन्त्रि गुप्तभाषणे-अच् घञ् वा । नेत्रसंकेतेन विचारशीलस्य पिशुनस्य

(चक्षुर्मन्त्रस्य) आंख से गुप्त बात करने वाले (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले की (पृष्टीः) पसलियों को (अपि) अवश्य (शृण) तोड़ डाल ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य उधार देने वाले को उधार लिया हुआ शीघ्र भेजकर सुख पाता है, वैसे ही मनुष्य पीड़ा देने वाले को शीघ्र दण्ड देकर आनन्द पावें ॥ १ ॥

इस मन्त्रका उत्तरार्द्ध कुछ भेद से ऊपर आ चुका है—अ० २ । ७ । ५ ॥

यदुस्मासु दुष्वप्न्यं यद् गोषु यच्च नो गृहे ।
अनामगुस्तं च दुर्हार्दः प्रियः प्रति मुञ्चताम् ॥ २ ॥

यत् । अस्मासु । दुःऽस्वप्न्यम् । यत् । गोषु । यत् । च । नः । गृहे ॥ अनामऽगः । तम् । च । दुःऽहार्दः । प्रियः । प्रति । मुञ्चताम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (दुःष्वप्न्यम्) दुष्ट स्वप्न (अस्मासु) हम में, (यत्) जो (गोषु) गौओं में (च) और (यत्) जो (नः) हमारे (गृहे) घर में है । (च) और (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले का (अनामगः) अनामय [स्वास्थ्य] है, (तम्) उस को [भी] (प्रियः) [हमारा] प्रिय (प्रति) प्रतिकूल (मुञ्चताम्) छोड़े ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि दुष्ट लोग धर्मात्माओं के साथ पीड़ाजनक व्यवहार करें, तो उनको उसका यथोचित दण्ड दिया जावे ॥ २ ॥

अपामार्ज ओजसो वावृधानमुग्नेर्जातमधि जातवेदसः । चतुं-

(दुर्हार्दः) दुष्टहृदयस्य (पृष्टीः) पार्श्वास्थीनि (अपि) अवश्यम् (शृण) विनाशय (आञ्जन) ४४ । १ । हे संसारस्य व्यक्तीकारक ब्रह्म ॥

२—(यत्) (अस्मासु) धर्मात्मसु (दुःष्वप्न्यम्) निद्रावैकल्यम् (यत्) (गोषु) धेनुषु (यत्) (च) (नः) अस्माकम् (गृहे) निवासे (अनामगः) नञ्+आम+गमेः-डप्रत्ययः । आमो रोगः । अनामं नैरोग्यं गच्छति प्राप्नोति यस्मात् सः । अनामयः । स्वास्थ्यम् (तम्) अनामयम् (च) (दुर्हार्दः) दुष्टहृदयस्य (प्रियः) अस्माकं हितकरः (प्रति) प्रतिकूलम् (मुञ्चताम्) मोचयतु ॥

वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्ते॥३॥

अपाम् । ऊर्जः । ओजसः । वावृधानम् । अग्नेः । जातम् । अधि । जात-वेदसः ॥ चतुः-वीरम् । पर्वतीयम् । यत् । आ-अञ्जनम् । दिशः । प्र-दिशः । करत् । इत् । शिवाः । ते ॥३

भाषार्थ—(अपाम्) प्रजाओं के (ऊर्जः) अन्न के और (ओजसः) पराक्रम के (वावृधानम्) बढ़ाने वाले और (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान (अग्नेः) अग्नि [सूर्य आदि] से (अधि) अधिक (जातम्) प्रसिद्ध, (चतुर्वीरम्) चारो दिशाओं में वीर और (पर्वतीयम्) मेघों में वर्तमान (यत्) जो (आञ्जनम्) आञ्जन [संसार का प्रकट करने वाला ब्रह्म] है, वह (दिशः) दिशाओं और (प्रदिशः) बड़ी दिशाओं [पूर्व आदि] को (ते) तेरे लिये, हे मनुष्य ! (इत्) अवश्य (शिवाः) कल्याणकारी (करत) करे ॥३॥

भावार्थ—जो मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा में भक्ति करके पुरुषार्थ करते हैं, वे सब दिशाओं में सुख पाते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्वीरं बध्यत आञ्जनं ते सर्वा दिशोअभयास्ते भवन्तु । ध्रुवस्तिष्ठासि सवितेव चार्य इमा विशो अभि हरन्तु ते बलिम् ॥ ४ ॥

चतुः वीरम् । बध्यते । आ-अञ्जनम् । ते । सर्वाः । दिशः । अभयाः । ते । भवन्तु ॥ ध्रुवः । तिष्ठासि । सविता-इव । च । आर्यः । इमाः । विशः । अभि । हरन्तु । ते । बलिम्॥४॥

३—(अपाम्) प्रजानाम् (ऊर्जः) अन्नस्य (ओजसः) पराक्रमस्य च (वावृधानम्) अतिवर्धकम् (अग्नेः) सूर्यादिसकाशात् (जातम्) प्रसिद्धम् (अधि) अधिकम् (जातवेदसः) जातेषु पदार्थेषु विद्यमानात् (चतुर्वीरम्) चतसृषु दिक्षु शूरम् (पर्वतीयम्) पर्वतेषु मेघेषु वर्तमानम् (यत्) (आञ्जनम्) संसारस्य व्यक्तीकारकं ब्रह्म (दिशः) अवान्तरदिशाः (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः प्रागाद्याः (करत्) कुर्यात् (इत्) अवश्यम् (शिवाः) सुखप्रदाः (ते) तुभ्यम् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (चतुर्वीरम्) चारों दिशाओं में वीर, (आञ्जनम्) आञ्जन [संसार का प्रकट करने वाला ब्रह्म] (बध्यते) धारण किया जाता है, (ते) तेरे लिये (सर्वाः) सब (दिशः) दिशायें (अभयाः) निर्भय (भवन्तु) होवें । (च) और (आर्यः) श्रेष्ठ तू (सविता इव) सूर्य के समान (ध्रुवः) दृढ़ होकर (तिष्ठासि) ठहरा रह, (इमाः) यह (विशः) प्रजायें (ते) तेरे लिये (बलिम्) बलि [कर] (अभि) सब ओर से (हरन्तु) लावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा के दृढ़स्वभाव उपासक पुरुष दिग्विजयी होकर सब प्रजाओं को वश में करें ॥ ४ ॥

आस्वैकं मणिमेकं कृणुष्व स्नाह्येकेना पिबैकमेषाम् । चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परि पात्वस्मान् ॥ ५ ॥

आ । अस्व । एकम् । मणिम् । एकम् । कृणुष्व । स्नाहि । एकेन । आ । पिब । एकम् । एषाम् ॥ चतुः-वीरम् । नैःऋतेभ्यः । चतुःभ्यः । ग्राह्याः । बन्धेभ्यः । परि । पातु । अस्मान् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (एकम्) एक [ब्रह्म] को (आ) सब ओर से (अस्व) प्राप्त हो, (एकम्) एक को (मणिम्) श्रेष्ठ (कृणुष्व) बना, (एकेन) एक के साथ (स्नाहि) शुद्ध हो, (एषाम्) इन [पदार्थों] में से

४—(चतुर्वीरम्) चतसृषु दिक्षु शूरम् (बध्यते) ध्रियते (आञ्जनम्) संसारस्य व्यक्तीकारकं ब्रह्म (ते) तुभ्यम् (सर्वाः) समस्ताः (दिशः) (अभयाः) निर्भयाः (ते) तुभ्यम् (भवन्तु) (ध्रुवः) दृढः सन् (तिष्ठासि) स्थितो भूयाः (सविता) सूर्यः (इव) यथा (च) (आर्यः) श्रेष्ठस्त्वम् (इमाः) वर्तमानाः (विशः) प्रजाः (अभि) अभितः (हरन्तु) प्रापयन्तु (ते) तुभ्यम् (बलिम्) करम् । भागम् ॥

५—(आ) समन्तात् (अस्व) अशू व्याप्तौ—आत्मनेपदं लोट् । प्राप्नुहि (एकम्) अद्वितीयं ब्रह्म (मणिम्) श्रेष्ठम् (एकम्) ब्रह्म (कृणुष्व) कुरु (स्नाहि) शुद्धो भव (एकेन) ब्रह्मणा (आ) आनीय (पिब) पानं कुरु

(एकम्) एक को (आ) लेकर (पिब) पान कर । (चतुर्वीरम्) चारों दिशाओं में वीर [ब्रह्म] (ग्राह्याः) ग्राही [गठिया रोग] के (नैर्ऋतेभ्यः) महाविपत्ति वाले (चतुर्भ्यः) चारों [दिशाओं में फैले] (बन्धेभ्यः) बन्धनों से (अस्मान्) हमें (परि पातु) बचाये रक्खे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य एक अद्वितीय परमात्मा में श्रद्धा करके शारीरिक और आत्मिक रोगों से मुक्त होवे ॥ ५ ॥

अ॒ग्निर्मा॒ग्निना॑वतु प्रा॒णाया॑पा॒नाया॒युषे॒ वर्च॑स॒ ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

अ॒ग्निः । मा॒ । अ॒ग्निना॑ । अ॒व॒तु॒ । प्रा॒णाय॑ । अ॒पा॒नाय॑ । आ॒युषे॑ । वर्च॑से । ओज॑से । तेज॑से । स्व॒स्तये॑ । सु॒-भू॒तये॑ । स्वाहा॑ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) ज्ञानवान् [परमेश्वर] (मा) मुझे (अग्निना) ज्ञान के साथ (अवतु) बचावे, (प्राणाय) प्राण के लिये, (अपानाय) अपान के लिये, (आयुषे) जीवन के लिये, (वर्चसे) प्रताप के लिये, (ओजसे) पराक्रम के लिये, (तेजसे) तेज के लिये, (स्वस्तये) स्वस्ति [सुन्दर सत्ता] के लिये और (सुभूतये) बड़े ऐश्वर्य के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की उपासना पूर्वक शारीरिक कान्ति और आत्मिक उन्नति करके अपना बल, पराक्रम आदि बढ़ावें ॥ ६ ॥

(एकम्) एषाम्) पदार्थानां मध्ये (चतुर्वीरम्) चतसृषु दिक्षु वीररूपं ब्रह्म (नैर्ऋतेभ्यः) निर्ऋति-अण् । महाविपत्तिसम्बन्धिभ्यः (चतुर्भ्यः) चतसृषु दिक्षु व्याप्तेभ्यः (ग्राह्याः) अ० २ । ६ । १ । ग्रहणशीलपीडायाः (बन्धेभ्यः) पाशेभ्यः (परि) सर्वतः (पातु) रक्षतु (अस्मान्) ॥

६—(अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वरः (मा) माम् (अग्निना) ज्ञानेन (अवतु) रक्षतु (प्राणाय) प्राणस्थैर्याय (अपानाय) अपानस्वास्थ्याय (आयुषे) श्रेष्ठजीवनाय (वर्चसे) प्रतापाय (ओजसे) पराक्रमाय (तेजसे) शरीरकान्तिवर्धनाय (स्वस्तये) कल्याणाय । सुसत्ताप्राप्तये (सुभूतये) शोभनायै सम्पदे (स्वाहा) सुवाणी भवतु ॥

इन्द्रो॑ मेन्द्रि॒येणा॑वतु प्रा॒णाया॑पा॒नाया॒युषे॒ वर्च॑स॒ ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

इन्द्रः॑ । मा॒ । इ॒न्द्रि॒येण॑ । अ॒व॒तु॒ । प्रा॒णाय॑ । अ॒पा॒नाय॑ । आयु॑षे । वर्च॑से । ओज॑से । तेज॑से । स्व॒स्तये॑ । सु॒-भू॒तये॑ । स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर] (मा) मुझे (इन्द्रियेण) इन्द्र के चिह्न [परम ऐश्वर्य] के साथ (अवतु) बचावे, (प्राणाय) प्राण के लिये ...[म० ६] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मन्त्र ६ के समान है ॥ ७ ॥

सोमो॑ मा॒ सौम्ये॑नावतु प्रा॒णाया॑पा॒नाया॒युषे॒ वर्च॑स॒ ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

सोमः॑ । मा॒ । सौम्ये॑न । अ॒व॒तु॒ । प्रा॒णाय॑ । अ॒पा॒नाय॑ । आ॒युषे॑ । वर्च॑से । ओज॑से । तेज॑से । स्व॒स्तये॑ । सु॒-भू॒तये॑ । स्वाहा॑ ॥ ८

भाषार्थ—(सोमः) शान्तस्वभाव परमेश्वर (मा) मुझे (सौम्येन) शान्त गुण के साथ (अवतु) बचावे, (प्राणाय) प्राण के लिये......[मन्त्र ६] ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ६ के समान है ॥ ८ ॥

भगो॑ मा॒ भगे॑नावतु प्रा॒णाया॑पा॒नाया॒युषे॒ वर्च॑स॒ ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥ ९ ॥

७—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (इन्द्रियेण) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग० । पा० ५ । २ । ९३ । इन्द्र—घच् । इन्द्रलिङ्गेन । इन्द्रत्वेन । परमैश्वर्येण । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८—(सोमः) शान्तस्वभावः परमेश्वरः (सौम्येन) शान्तगुणेन । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भगः । मा । भगेन । अवतु । प्राणाय । अपानाय । आयुषे ।
वर्चसे । ओजसे । तेजसे । स्वस्तये । सु-भूतये । स्वाहा ॥९॥

भाषार्थ—(भगः) सेवनीय [परमेश्वर] (मा) मुझे (भगेन) सेवनीय ऐश्वर्य के साथ (अवतु) बचावे, (प्राणाय) प्राण के लिये......[मन्त्र ६] ॥ ९ ॥

भावार्थ—मन्त्र ६ के समान है ॥ ९ ॥

मरुतो मा गणैरवन्तु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे
स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ १० ॥

मरुतः । मा । गणैः । अवन्तु । प्राणाय । अपानाय । आयुषे ।
वर्चसे । ओजसे । तेजसे । स्वस्तये । सु-भूतये । स्वाहा ॥१०॥

भाषार्थ—(मरुतः) शूर पुरुष (मा) मुझे (गणैः) सेना दलों के साथ (अवन्तु) बचावें, (प्राणाय) प्राण के लिये, (अपानाय) अपान के लिये, (आयुषे) जीवन के लिये, (वर्चसे) प्रताप के लिये, (ओजसे) पराक्रम के लिये, (तेजसे) तेज के लिये, (स्वस्तये) स्वस्ति [सुन्दर सत्ता] के लिये और (सुभूतये) बड़े ऐश्वर्य के लिये (स्वाहा) स्वाहा [सुन्दर वाणी] हो ॥ १० ॥

भावार्थ—सब मनुष्य परस्पर रक्षा करके संसार में उन्नति करें ॥१०॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ४६ ॥

१—७ ॥ अस्तृतो देवता ॥ १ विराडार्षी त्रिष्टुप्; २ भुरिक् शक्वरी; ३, ७ निचृत्पथ्या पङ्क्तिः; ४ निचृदार्षी त्रिष्टुप्; ५ स्वराडार्षी जगती; ६ विराडार्षीजगती॥

९—(भगः) सेवनीयः परमेश्वरः (भगेन) सेवनीयेनैश्वर्येण । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१०—(मरुतः) म० १ । २० । १ । शत्रुनाशकाः शूराः (गणैः) सैन्यैः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

विजयप्राप्त्युपदेशः—विजय की प्राप्ति का उपदेश ॥

प्रजापतिष्ट्वा बध्नात् प्रथममस्तृतं वीर्याय कम् । तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चस ओजसे च बलाय चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥१॥

प्रजा-पतिः । त्वा । बध्नात् । प्रथमम् । अस्तृतम् । वीर्याय । कम् ॥ तत् । ते । बध्नामि । आयुषे । वर्चसे । ओजसे । च । बलाय । च । अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा = तुभ्यम्) तेरे लिये (प्रजापतिः) प्रजापति [प्रजापालक परमेश्वर] ने (प्रथमम्) पहिले से (अस्तृतम्) अटूट [नियम] को (वीर्याय) वीरता के लिये और (कम्) सुख के लिये (बध्नात्) बांधा है । (तत्) इस लिये [उस नियम को] (ते) तेरे (आयुषे) जीवन के लिये, (वर्चसे) प्रताप के लिये, (ओजसे) पराक्रम के लिये, (च च) और (बलाय) बल [सामर्थ्य] के लिये (बध्नामि) मैं [आचार्यादि] बांधता हूं, (अस्तृतः) अटूट [नियम] (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्षा करे ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने सृष्टि के आदि में मनुष्यादि के पुरुषार्थ करने और सुख भोगने के लिये वेद शास्त्र द्वारा नियम ठहराये हैं । मनुष्य उन नियमों में सुशिक्षित होकर अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १ ॥

ऊर्ध्वस्तिष्ठतु रक्षन्नप्रमादमस्तृतेमं मा त्वा दभन् पणयो यातुधानाः । इन्द्र इव दस्यूनव धूनुष्व पृतन्यतः सर्वाञ्छत्रून् वि षहस्वास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ २ ॥

१—(प्रजापतिः) प्रजानां पालकः परमात्मा (त्वा) तुभ्यमित्यर्थः (बध्नात्) अबध्नात् । धारितवान् (प्रथमम्) सृष्ट्यादौ (अस्तृतम्) स्तृञ् हिंसायाम्—क्त । अबाधितं सुदृढं नियमम् (वीर्याय) वीरकर्मणे (कम्) सुखाय (तत्) तस्मात् कारणात् (ते) तुभ्यम् (बध्नामि) धारयामि (आयुषे) जीवनाय (वर्चसे) प्रतापाय (ओजसे) पराक्रमाय (च) (बलाय) सामर्थ्याय (च) (अस्तृतः) अबाधितो नियमः (अभि) सर्वतः (रक्षतु) पालयतु ॥

ऊर्ध्वः । तिष्ठतु । रक्षन् । अप्र-मादम् । अस्तृतः । इमम् । मा । त्वा । दुभन् । पणयः । यातु-धानाः ॥ इन्द्रः-इव । दस्यून् । अव । धुनुष्व । पृतन्यतः । सर्वान् । शत्रून् । वि । सहस्व । अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (अस्तृतः) अटूट [नियम] (अप्रमादम्) बिना भूल (रक्षन्) रक्षा करता हुआ (ऊर्ध्वः) ऊंचा (तिष्ठतु) ठहरे, (इमम् त्वा) इस तुझ को (पणयः) कुव्यवहारी, (यातुधानाः) पीड़ा देने वाले लोग (मा दभन्) न दबावें । (इन्द्रः इव) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् पुरुष] के समान (दस्यून्) लुटेरों को (अव धूनुष्व) हिला दे, और (पृतन्यतः) सेना चढ़ाने वाले (सर्वान्) सब (शत्रून्) शत्रुओं को (वि सहस्व) हरा दे, (अस्तृतः) अटूट [नियम] (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्षा करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य नियम के साथ प्रमाद छोड़कर निरन्तर उन्नति करते हैं, वे ही शत्रुओं पर विजय पाते हैं ॥ २ ॥

शतं च न प्रहरन्तो निघ्नन्तो न तस्तिरे । तस्मिन्निन्द्रः पर्यदत्त चक्षुः प्राणमथो बलमस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ३ ॥

शतम् । च । न । प्र-हरन्तः । न । तस्तिरे ॥ तस्मिन् । इन्द्रः । परि । अदत्त । चक्षुः । प्राणम् । अथो इति । बलम् । अ-स्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ३ ॥

२—(ऊर्ध्वः) उन्नतः (तिष्ठतु) वर्तताम् (रक्षन्) पालयन् (अप्रमादम्) अनवधानेन विना । सावधानम् (अस्तृतः) म० १ । अबाधितो नियमः (इमम्) उपस्थितम् (अस्तृतेमम्) अस्तृतः+इमम् । इति पदपाठे सति छान्दसः सन्धिः । अस्तृत इमम् (त्वा) त्वाम् (मा दभन्) मा हिंसन्तु (पणयः) कुव्यवहारिणः (यातुधानाः) पीडाप्रदाः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (इव) यथा (दस्यून्) उपक्षपयितॄन् तस्करान् (अव धूनुष्व) धूञ् कम्पने—लोट् । अवाङ्मुखान् कम्पय (पृतन्यतः) अ० १६ । ३२ । १० । सेनामिच्छतः । युयुत्सून् (सर्वान्) शत्रून् । रिपून् (वि) विविधम् (सहस्व) अभिभव । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (न) न तो (शतम्) सौ (प्रहरन्तः) चोट चलाने वाले (च) और (न) न (निघ्नन्तः) मार गिराने वाले शत्रु [उस नियम को] (तस्तिरे) तोड़ सके हैं। (तस्मिन्) उस [नियम] में (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा] ने (चक्षुः) दर्शनसामर्थ्य, (प्राणम्) जीवन सामर्थ्य (अथो) और (बलम्) बल (परि अदत्त) दे रक्खा है; (अस्तृतः) अटूट [नियम] (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्षा करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—उन लोगों को वैरी लोग कभी नहीं सता सकते जो देख भाल कर नियम पर चलते हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परि धापयामो यो देवानामधिराजो बभूव। पुनस्त्वा देवाः प्र णयन्तु सर्वेऽस्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥४

इन्द्रस्य। त्वा। वर्मणा। परि। धापयामः। यः। देवानाम्। अधि-राजः। बभूव॥ पुनः। त्वा। देवाः। प्र। नयन्तु। सर्वे। अस्तृतः। त्वा। अभि॥ रक्षतु॥ ४॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझ को (इन्द्रस्य) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर] के (वर्मणा) कवच से (परि धापयामः) हम ढकते हैं, (यः) जो [परमेश्वर] (देवानाम्) विद्वानों का (अधिराजः) अधिराजा (बभूव) हुआ है। (पुनः) फिर (त्वा) तुझको (सर्वे) सब (देवाः) विद्वान्

३—(शतम्) बहवः (च) (न) निषेधे (प्रहरन्तः) प्रहारं कुर्वन्तः। शस्त्रादिभिर्बाधमानाः (निघ्नन्तः) नितरां हिंसन्तो मारयन्तः (न) निषेधे (तस्तिरे) स्तृञ् हिंसायाम्—लिट्। जिहिंसुः (तस्मिन्) अस्तृते। नियमे (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (परि अदत्त) समर्पितवान् (चक्षुः) दर्शनसामर्थ्यम् (प्राणम्) जीवनसामर्थ्यम् (अथो) अपि च (बलम्)। अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमात्मनः (त्वा) (वर्मणा) कवचेन (परि) सर्वतः (धापयामः) आवृणमः (यः) (देवानाम्) विदुषाम् (अधि-राजः) टच् समासान्तः। अधिपतिः (बभूव) (पुनः) अनन्तरम् (त्वा)

लोग (प्र णयन्तु) आगे ले चलें, (अस्तृतः) अटूट [नियम] (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्षा करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—माता पिता आदि सन्तानों को ऐसी उत्तम शिक्षा देवें, जिस से वे सत्य नियम पर चलकर विद्वानों के अगुआ होवें ॥ ४॥

अस्मिन् मणावेकशतं वीर्याणि सुहस्रं प्राणा अस्मिन्नस्तृते । व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान् यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्त्वस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ५ ॥

अस्मिन् । मणौ । एक-शतम् । वीर्याणि । सहस्रम् । प्राणाः । अस्मिन् । अस्तृते ॥ व्याघ्रः । शत्रून् । अभि । तिष्ठ । सर्वान् । यः । त्वा । पृतन्यात् । अधरः । सः । अस्तु । अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्मिन्) इस, (अस्मिन्) इस ही (मणौ) प्रशंसनीय (अस्तृते) अटूट [नियम] में (एकशतम्) एकसौ एक [असंख्य] (वीर्याणि) वीरतायें और (सहस्रम्) सहस्र [बहुत ही] (प्राणाः) जीवन सामर्थ्य हैं । (व्याघ्रः) बाघ तू (सर्वान्) सब (शत्रून्) शत्रुओं पर (अभि तिष्ठ) धावा कर, (यः) जो (त्वा) तुझ पर (पृतन्यात्) सेना चढ़ावे, (सः) वह (अधरः) नीचा (अस्तु) होवे, (अस्तृतः) अटूट [नियम] (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्षा करे ॥ ५ ॥

(देवाः) विद्वांसः (प्र) अग्रे (नयन्तु) गमयन्तु (सर्वे) समस्ताः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(अस्मिन्) पूर्वनिर्दिष्टे (मणौ) प्रशंसनीये (एकशतम्) एकोत्तरं शतम् । असंख्यानि (वीर्याणि) वीरकर्माणि (सहस्रम्) बहवः (प्राणाः) जीवनसामर्थ्यानि (अस्मिन्) वीप्सायां द्विर्वचनम् । अस्मिन्नेव (अस्तृते) म० १ । अहिंसिते नियमे (व्याघ्रः) वि+आङ्+घ्रा गन्धोपादाने—क । सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम्, व्याघ्रो व्याघ्राणाद् व्यादाय हन्तीति वा—निरु० ३ । १८ । व्याघ्र इव शत्रुगन्धं विशेषेण आजिघ्रन् (शत्रून्) रिपून् (अभितिष्ठ) आक्रमेण प्राप्नुहि । अभिभव (सर्वान्) समस्तान् (यः) शत्रुः (त्वा) (पृतन्यात्) योद्धुमिच्छेत् (अधरः) निकृष्टः (सः) (अस्तु) अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के अटूट नियम पर चल कर शत्रुओं को नीचा करें। और जैसे व्याघ्र सूंघने से आखेट को जान लेता है, वैसे ही मनुष्य वैरियों को पकड़ने में तीव्रबुद्धि होवें ॥ ५ ॥

घृतादुल्लु॑प्तो मधु॑मान् पय॑स्वान्त्सहस्र॑प्राणः शतयो॑निर्वयो॒धाः।
शं॒भूश्च॑ मयो॒भूश्चोर्ज॑स्वांश्च॒ पय॑स्वाँश्चास्तृ॑तस्त्वा॒भि र॑क्षतु ॥६॥

घृतात् । उत्-लु॑प्तः । मधु॑-मान् । पय॑स्वान् । सहस्र॑-प्राणः । शत-यो॑निः । वयः॒-धाः ॥ शम्-भूः । च । मयः॒-भूः । च । ऊर्ज॑स्वान् । च । पय॑स्वान् । च । अस्तृ॑तः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(घृतात्) प्रकाश से (उल्लुप्तः) ऊपर खींचा गया, (मधुमान्) ज्ञानवान्, (पयस्वान्) अन्नवान्, (सहस्रप्राणः) सहस्रों जीवन सामर्थ्य वाला, (शतयोनिः) सैकड़ों कारणों में व्यापक, (वयोधाः) पराक्रम देने वाला, (शंभूः) शान्ति करने वाला (च) और (मयोभूः) सुख देने वाला, (च) और (ऊर्जस्वान्) बल वाला (च च) और (पयस्वान्) दूध वाला, (अस्तृतः) अटूट [नियम] (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्षा करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का वेदोक्त नियम संसार में प्रकाशमान है, मनुष्य उस पर ही चलकर अपना शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल बढ़ाकर सुखी होवें ॥ ६ ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद आचुका है—अ० १९ । ३३ । २ और मन्त्र का मिलान करो—अ० ५ । २८ । १४ ॥

६—(घृतात्) प्रकाशात् (उल्लुप्तः) उद्धृतः (मधुमान्) ज्ञानवान् (पयस्वान्) अन्नवान् (सहस्रप्राणः) बहुजीवनसामर्थ्योपेतः (शतयोनिः) बहुकारणेषु विद्यमानः (वयोधाः) पराक्रमप्रदः (शंभूः) शान्तिदाता (च) (मयोभूः) सुखस्य कर्ता (च) (ऊर्जस्वान्) बलवान् (च) (पयस्वान्) दुग्धवान् (च)। अन्यत् पूर्ववत् ॥

यथा त्वमुत्तरोऽसो असपत्नः सपत्नहा । सजातानामसद् वशी
तथा त्वा सविता करदस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

यथा । त्वम् । उत्-तरः । असः । असपत्नः । सपत्न-हा ॥ सु-
जातानाम् । असत् । वशी । तथा । त्वा । सविता । करत् ।
अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यथा) जिस से (त्वम्) तू (उत्तरः) अति ऊंचा, (असपत्नः) बिना शत्रु और (सपत्नहा) शत्रुओं का मारने वाला (असः) होवे । और आप (सजातानाम्) सजातियों के (वशी) वश में करने वाला (असत्) होवें, (तथा) वैसा ही (त्वा) तुझ को (सविता) सब का प्रेरक [परमात्मा] (करत्) बनावे, (अस्तृतः) अटूट [नियम] (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्षा करे ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा के वेदोक्त नियम पर चलने वाले मनुष्य सब विघ्नों को हटाकर आनन्द से रहें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ४७ ॥

१—६ ॥ रात्रिर्देवता ॥ १ पथ्या बृहती; २ निचृदतिजगती; ३ निचृदनुष्टुप्; ४, ५, ८ अनुष्टुप्; ६ पुरस्ताद् बृहती; ७ विराडार्षी जगती; ९ विराडार्ष्यनुष्टुप् ॥

रात्रौ रक्षोपदेशः—रात्रि में रक्षा का उपदेश ॥

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः ।
दिवः सदांसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ॥ १ ॥

आ । रात्रि । पार्थिवम् । रजः । पितुः । अप्रायि । धामभिः ॥

७—(यथा) येन प्रकारेण (त्वम्) (उत्तरः) उत्कृष्टतरः (असः) अस्तेर्लेटि रूपम् । भवेः (असपत्नः) अशत्रुः (सपत्नहा) विरोधिनां हन्ता (सजातानाम्) समानजन्मनां पुरुषाणाम् (असत्) भवेद् भवान् । भवच्छब्दयोगे प्रथमपुरुषः (वशी) वशयिता (तथा) तेन प्रकारेण (सविता) सर्वप्रेरकः परमात्मा (करत्) कुर्यात् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

दिवः । सदांसि । बृहती । वि । तिष्ठसे । आ । त्वेषम् । वर्तते । तमः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे रात्रि ! (पार्थिवम्) पृथिवी संबन्धी (रजः) लोक, (पितुः) पिता [मध्यलोक] के (धामभिः) स्थानों के साथ [अन्धकार से] (आ) सर्वथा (अप्रायि) भर गया है । (बृहती) बड़ी तू (दिवः) प्रकाश के (सदांसि) स्थानों को (वि तिष्ठसे) व्याप्त होती है, (त्वेषम्) चमकीला [ताराओं वाला] (तमः) अन्धकार (आ वर्तते) आकर घेरता है ॥१॥

भावार्थ—पृथिवी की गोलाई, और सूर्य के चारों ओर दैनिक घुमाव के कारण, पृथिवी का आधा भाग प्रत्येक समय सूर्य से आड़ में रहता है, अर्थात् प्रत्येक क्षण आधे भाग में अन्धकार और आधे में प्रकाश होता जाताहै । अन्धकार समय को रात्रि कहते हैं । रात्रि में तारे और चन्द्र चमकते दीखते हैं । मनुष्य रात्रि समय को यथावत् काम में लावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—३६ । ३२ और—निरुक्त ४ । २४ में भी व्याख्यात है॥

न यस्याः पारं ददृशे न योयुवद् विश्वमस्यां नि विशते यदेजति । अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि ॥ २ ॥

न । यस्याः । पारम् । ददृशे । न । योयुवत् । विश्वम् । अस्याम् । नि । विशते । यत् । एजति ॥ अरिष्टासः । ते । उर्वि । तमस्वति । रात्रि । पारम् । अशीमहि । भद्रे । पारम् । अशीमहि ॥ २ ॥

१—(आ) समन्तात् (रात्रि) हे रात्रि (पार्थिवम्) पृथिवीसम्बन्धि (रजः) लोकः (पितुः) पालकस्य । मध्यलोकस्य (अप्रायि) प्रा पूरणे—कर्मणि लुङ् । अपूरि (धामभिः) स्थानैः सह (दिवः) प्रकाशस्य (सदांसि) स्थानानि (बृहती) महती त्वम् (वितिष्ठसे) व्याप्नोषि (आ) समन्तात् (त्वेषम्) ताराभिर्दीप्यमानम् (वर्तते) विद्यते (तमः) अन्धकारः ॥

भाषार्थ—(न) न तो (यस्याः) जिस [रात्रि] का (पारम्) पार और (न) न (योयुवत्) [प्रकाश से] अलग होने वाला [स्थान] (ददृशे) दिखाई पड़ता है, (यत्) जो कुछ (एजति) चेष्टा करता है, (सर्वम्) वह सब (अस्याम्) उस [रात्रि] में (नि विशते) ठहर जाता है । (उर्वि) हे फैली हुयी, (तमस्वति) अंधेरी (रात्रि) रात्रि ! (अरिष्टासः) बिना कष्ट पाये हुये हम (ते) तेरे (पारम्) पार को (अशीमहि) पावें, (भद्रे) हे कल्याणी ! [तेरे] (पारम्) पार को (अशीमहि) पावें ॥ २ ॥

भावार्थ—पृथिवी के अपनी धुरी पर घूमने और सूर्य की परिक्रमा करने में प्रकाश की निवृत्ति और अन्धकार की प्रवृत्ति ऐसी शीघ्र होती है कि मनुष्य को उस समय का अनुभव करना अति कठिन है । मनुष्य विश्राम करके यथा योग्य अपने कामों में प्रवृत्त होवें ॥ २ ॥

ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव ।
अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥ ३ ॥

ये । ते । रात्रि । नृ-चक्षसः । द्रष्टारः । नवतिः । नव ॥
अशीतिः । सन्ति । अष्टौ । उतो इति । ते । सप्त । सप्ततिः ॥ ३ ॥

षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत् पञ्च सुम्नयि ।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥ ४ ॥

षष्टिः । च । षट् । च । रेवति । पञ्चाशत् । पञ्च । सुम्नयि ॥
चत्वारः । चत्वारिंशत् । च । त्रयः । त्रिंशत् । च । वाजिनि ॥ ४ ॥

२—(न) निषेधे (यस्याः) रात्रेः (पारम्) अन्तः (ददृशे) दृष्टम् (न) निषेधे (योयुवत्) यौतेर्यङ्लुगन्तात्—शतृ । प्रकाशाद् विभज्यमानं स्थानम् (विश्वम्) सर्वम् (अस्याम्) रात्रौ (निविशते) तिष्ठति (यत्) यत् किञ्चित् (एजति) चेष्टते (अरिष्टासः) अरिष्टाः । अहिंसिताः (ते) तव (उर्वि) हे विस्तृते (तमस्वति) हे अन्धकारयुक्ते (पारम्) अन्तम् (अशीमहि) वयं प्राप्नुयाम (भद्रे) हे कल्याणि (पारम् अशीमहि) आदरार्थं पुनरुक्तिः ॥

द्वौ च॑ ते विंश॒तिश्च॑ ते॒ रात्र्येकादशाव॒माः ।
तेभि॑र्नो अ॒द्य पा॒युभि॒र्नु पा॑हि दुहितर्दिवः ॥ ५ ॥

द्वौ । च॒ । ते॒ । विं॒श॒तिः । च॒ । ते॒ । रात्रि॑ । एका॑दश । अ॒व॒माः ॥ तेभि॑ः । नः॒ । अ॒द्य । पा॒यु-भिः॑ । नु । पा॒हि॒ । दु॒हि॒तः॒ । दि॒वः॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे रात्रि ! (ये) जो (ते) तेरे (नृचक्षसः) मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाले (द्रष्टारः) दर्शक लोग (नवतिः नव) नव्वे और नौ [निन्नानवे], (अशीतिः अष्टौ) अस्सी और आठ [अठासी] (उतो) और (ते) तेरे (सप्ततिः सप्त) सत्तर और सात [सतहत्तर] (सन्ति) हैं ॥ ३ ॥

(रेवति) हे धनवती ! (षष्टिः च षट्) साठ और छह [छियासठ] (च) और (सुम्नयि) हे सुखप्रदे ! (पञ्चाशत् पञ्च) पंचास और पांच [पचपन], (च) और (वाजिनि) हे बलवती ! [वा वेगवती] (चत्वारिंशत् चत्वारः) चालीस और चार [चवालीस], (च) और (त्रिंशत् त्रयः) तीस और तीन [तेतीस] ॥ ४ ॥

३—(ये) (ते) तव (रात्रि) हे रात्रि (नृचक्षसः) मनुष्येषु दृष्टियुक्ताः (द्रष्टारः) दर्शकाः । रक्षकाः (नवतिर्नव) नवोत्तरनवतिसंख्याकाः (अशीतिः अष्टौ) अष्टोत्तराशीतिसंख्याकाः (सन्ति) भवन्ति (उतो) अपि च (सप्ततिः सप्त) सप्तोत्तरसप्ततिसंख्याकाः ॥

४—(षष्टिः षट्) षडुत्तरषष्टिसंख्याकाः (च) (च) (रेवति) हे धनवति (पञ्चाशत् पञ्च) पञ्चोत्तरपञ्चाशत् संख्याकाः (सुम्नयि) छन्दसि परेच्छायां क्यच् । वा० पा० ३ । १ । ८ । सुम्न—क्यच्, अच्, गौरादित्वाद् ङीप् । सुम्नं सुखं परेषामिच्छतीति या सा सुम्नयी तत्सम्बुद्धौ । हे सुखप्रदे (चत्वारिंशत् चत्वारः) चतुरुत्तरचत्वारिंशत्संख्याकाः (च) (त्रयस्त्रिंशत्) त्रिरुत्तरत्रिंशतसंख्याकाः (च) (वाजिनि) हे बलवति हे वेगवति ॥

(रात्रि) हे रात्रि ! (च) और (ते) तेरे (विंशतिः द्वौ) बीस और दो [बाईस], (च) और (ते) तेरे (एकादश) ग्यारह और (अवमाः) [जो इस संख्या से] नीचे हैं, (दिवः दुहितः) हे आकाश की भरदेने वाली ! (तेभिः पायुभिः) उन रक्षकों द्वारा (नः) हमें (अद्य) आज (नु) शीघ्र (पाहि) बचा ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३—५ में ४४ में से ११, ११ घटते घटते ११ तक रहे हैं और [नीचे] शब्द से शेष संख्या एक तक मानी है । भाव यह है कि मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार बहुत वा थोड़े रक्षकों द्वारा रात्रि में रक्षा करते रहें ॥ ३—५ ॥

रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत मा नो दुःशंस ईशत ।
मा नो अद्य गवां स्तेनो मावीनां वृक ईशत ॥ ६ ॥

रक्ष । माकिः । नः । अघ-शंसः । ईशत । मा । नः । दुः-शंसः । ईशत ॥ मा । नः । अद्य । गवाम् । स्तेनः । मा । अवीनाम् । वृकः । ईशत ॥ ६ ॥

माश्वानां भद्रे तस्करो मा नृणां यातुधान्यः ।
परमेभिः पथिभि स्तेनो धावतु तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ ७ ॥

मा । अश्वानाम् । भद्रे । तस्करः । मा । नृणाम् । यातु-धान्यः ॥ परमेभिः । पथि-भिः । स्तेनः । धावतु । तस्करः ॥ परेण । दत्वती । रज्जुः । परेण । अघ-युः । अर्षतु ॥ ७ ॥

५—(द्वौ विंशतिः) द्व्यधिकविंशतिसंख्याकाः (च) (ते) तव (च) (ते) तव (रात्रि) (एकादश) एकोत्तरदशसंख्याकाः (अवमाः) उक्तसंख्यातो निकृष्टा न्यूनाः (तेभिः) तैः (नः) अस्मान् (अद्य) अस्मिन् दिने (पायुभिः) रक्षकैः (नु) क्षिप्रम् (पाहि) रक्ष (दुहितः) हे प्रपूरयित्रि (दिवः) आकाशस्य ॥

भाषार्थ—(रक्ष) तू रक्षा कर, (अघशंसः) बुराई चीतने वाला (माकिः) न कभी (नः) हमारा (ईशत) राजा होवे, और (मा) न (दुःशंसः) अनहित सोचने वाला (नः) हमारा (ईशत) राजा होवे। (मा) न (स्तेनः) चोर (अद्य) आज (नः) हमारी (गवाम्) गौओं का, और (मा) न (वृकः) भेड़िया (अवीनाम्) भेड़ों का (ईशत) राजा होवे ॥ ६ ॥

(भद्रे) हे कल्याणी ! (मा) न (तस्करः) लुटेरा (अश्वानाम्) घोड़ों का, और (मा) न (यातुधान्यः) पीड़ा देने वाली [सेनायें] (नृणाम्) मनुष्यों की [राजा होवें]।

(स्तेनः) चोर, (तस्करः) लुटेरा (परमेभिः पथिभिः) अति दूर मार्गों से (धावतु) दौड़ जावे। (परेण) दूर [मार्ग] से (दत्वती रज्जुः) दंतीली रसरी [सांप], और (परेण) दूर [मार्ग] से (अघायुः) द्रोही जन (अर्षतु) चला जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऐसा प्रबन्ध करें कि चोर डकैत आदि दुष्ट लोग और भेड़िया सर्प आदि हिंसक जीव प्राणियों और सम्पत्ति को हानि न पहुंचावें ॥ ६, ७ ॥

मन्त्र ६ का प्रथम पाद ऋग्वेद में है-६। ७१। ३ तथा ६। ७५। १० और यजुर्वेद ३३। ६९ ॥

६—(रक्ष) पालय (माकिः) न कदापि (नः) अस्माकम् (अघशंसः) पापवक्ता (ईशत) ईश्वरो भवेत् (मा) निषेधे (नः) अस्माकम् (दुःशंसः) दुष्टहिंसकः (ईशत) (मा) निषेधे (नः) अस्माकम् (अद्य) अस्मिन् दिने (गवाम्) धेनूनाम् (स्तेनः) चोरः (मा) निषेधे (अवीनाम्) अजानाम् (वृकः) अरण्यश्वा (ईशत) समर्थो भवेत् ॥

७—(मा) निषेधे—ईशत, इत्यनुवर्तते (अश्वानाम्) तुरङ्गाणाम् (भद्रे) हे कल्याणि (तस्करः) परधनहारकः (मा) निषेधे (नृणाम्) मनुष्याणाम् (यातुधान्यः) पीडाप्रदाः सेनाः (परमेभिः) अतिदूरैः (पथिभिः) मार्गैः (स्तेनः) (धावतु) शीघ्रं गच्छतु (तस्करः) (परेण) अतिदूरेण मार्गेण (दत्वती) दन्तवती (रज्जुः) रज्जुवत्सर्पादिः (परेण) अतिदूरेण मार्गेण (अघायुः) अघ—क्यच्—उप्रत्ययः। पापेच्छुकः (अर्षतु) ऋषी गतौ भौवादिकः। गच्छतु ॥

अधं रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु ।
हनू वृकस्य जम्भयास्तेन तं द्रुपदे जहि ॥ ८ ॥

अधं । रात्रि । तृष्ट-धूमम् । अशीर्षाणम् । अहिम् । कृणु ॥
हनू इति । वृकस्य । जम्भयाः । तेन । तम् । द्रु-पदे । जहि ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अध) और (रात्रि) हे रात्रि ! (तृष्टधूमम्) क्रूर धुयें वाले [विषैली श्वास वाले] (अहिम्) सांप को (अशीर्षाणम्) रुण्ड [बिना शिर का] (कृणु) कर दे, [शिर कुचल कर मार डाल] (वृकस्य) भेड़िये के (हनू) दोनों जावड़े (जम्भयाः) तोड़ डाल, (तेन) उससे (तम्) उसको (द्रुपदे) काठ के बन्धन में (जहि) मार डाल ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य हिंसक जीव और मनुष्यों को ऐसे प्रबन्ध से रक्खें कि वे किसी को हानि न करें ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आगे है—५० । १ ॥

त्वयि रात्रि वसामसि स्वपिष्यामसि जागृहि ।
गोभ्यो नः शर्म यच्छाश्वेभ्यः पुरुषेभ्यः ॥ ९ ॥

त्वयि । रात्रि । वसामसि । स्वपिष्यामसि । जागृहि ॥
गोभ्यः । नः । शर्म । यच्छ । अश्वेभ्यः । पुरुषेभ्यः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे रात्रि ! (त्वयि) तुझ में (वसामसि) हम निवास करते हैं, (स्वपिष्यामसि) हम सोवेंगे, (जागृहि) तू जागती रह । (नः)

८—(अध) अथ । अपि च (रात्रि) (तृष्टधूमम्) ञितृषा पिपासायाम्—क्त । क्रूरधूमम् । विषयुक्तश्वासोपेतम् (अशीर्षाणम्) शिरोरहितम् (अहिम्) सर्पम् (कृणु) कुरु (हनू) मुखस्य अन्तःस्थूलदन्तयुक्तौ पार्श्वौ (वृकस्य) अजादीनामपहर्तुः । अरण्यशुनः (जम्भयाः) जभि गात्रविनामे लेटि, आडागमः । जम्भयेः । विनाशय (तेन) (तम्) वृकम् (द्रुपदे) काष्ठबन्धे (जहि) मारय ॥

९—(त्वयि) (रात्रि) (वसामसि) वसामः । निवसामः (स्वपिष्यामसि) छान्दस इडागमः । स्वप्स्यामः । निद्रां करिष्यामः (जागृहि) जागरिता भव

हमारी (गोभ्यः) गौओं को, (अश्वेभ्यः) घोड़ों को और (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (शर्म) सुख (यच्छ) दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परिश्रम करके रात्रि में प्रबन्ध के साथ सोवें, जिससे सब गौ, घोड़े, मनुष्य आदि सुख से रहें ॥ ६ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-६ ॥ रात्रिर्देवता ॥ १ गायत्री; २ विराडार्ष्यनुष्टुप्; ३ भुरिगनुष्टुप्; ४, ६ अनुष्टुप्; ५ पथ्या पङ्क्तिः ॥

रात्रौ रक्षोपदेशः—रात्रि में रक्षा का उपदेश ॥

अथो यानि च यस्मा ह यानि चान्तः परीणहि। तानि ते परि दद्मसि ॥ १ ॥

अथो इति। यानि। च। यस्म। ह। यानि। च। अन्तः। परि-नहि ॥ तानि। ते। परि। दद्मसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(च) और (अथो) फिर (ह) निश्चय करके (यानि) जिन [वस्तुओं] का (यस्म) हम प्रयत्न करें, (च) और (यानि) जो [वस्तुयें] (अन्तः) भीतर (परीणहि) बांधने के आधार [मंजूषा आदि] में हैं। (तानि) उन सब को (ते) तुझे (परि दद्मसि) हम सौंपते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने सब पदार्थों को रात्रि में सावधानी से रखकर रक्षा करें ॥ १ ॥

बम्बई गवर्नमेन्ट छापे की पुस्तक के पदपाठ में (यस्म) पद के स्थान पर [यस्मै] छपा है, हमने (यस्म) मूल पद माना है ॥

(गोभ्यः) धेनुभ्यः (अश्वेभ्यः) तुरङ्गेभ्यः (शर्म) सुखम् (यच्छ) देहि ॥

१—(अथो) अपि च (यानि) वस्तूनि (च) (यस्म) यसु प्रयत्ने—लेट्, अडभावश्छान्दसः। स उत्तमस्य। पा० ३। ४। ९८। उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपः। प्रयत्नेन प्राप्नुयाम (ह) निश्चयेन (यानि) वस्तूनि (च) (अन्तः) मध्ये (परीणहि) परि+णह बन्धने—क्विप्। बन्धनाधारे मञ्जूषादौ (तानि) वस्तूनि (ते) तुभ्यम् (परि दद्मसि) समर्पयामः ॥

रात्रि मातरुषसे नः परि देहि । उषा नो अह्ने परि ददात्वहस्तुभ्यं विभावरि ॥ २ ॥

रात्रि । मातः । उषसे । नः । परि । देहि ॥ उषाः । नः । अह्ने । परि । ददातु । अहः । तुभ्यम् । विभावरि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(रात्रि) रात्रि (मातः) माता ! तू (उषसे) उषा [प्रभात वेला] को (नः) हमें (परि देहि) सौंप । (उषाः) उषा (नः) हमें (अह्ने) दिन को, और (अहः) दिन (तुभ्यम्) तुझ को, (विभावरि) हे चमक वाली! (परि ददातु) सौंपे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य तारों से शोभायमान रात्रि बीतने पर प्रातःकाल उठें और दिन के कर्तव्य करके रात्रि में रात्रि के कर्तव्य करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आगे है-२० । ७ ॥

यत् किं चेदं पतयति यत् किं चेदं सरीसृपम् ।
यत् किं च पर्वतायासत्वं तस्मात् त्वं रात्रि पाहि नः ॥ ३ ॥

यत् । किम् । च । इदम् । पतयति । यत् । किम् । च । इदम् । सरीसृपम् ॥ यत् । किम् । च । पर्वताय । असत्वम् । तस्मात् । त्वम् । रात्रि । पाहि । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत् किम् च) जो कुछ (इदम्) यह (पतयति) उड़ता है, (यत् किम् च) जो कुछ (इदम्) यह (सरीसृपम्) टेढ़ा टेढ़ा रेंगने वाला

२—(रात्रि) (मातः) हे मातृतुल्ये (उषसे) प्रभातवेलायै (नः) अस्मान् (परि देहि) समर्पय (उषाः) प्रभातवेला (नः) अस्मान् (अह्ने) दिनाय (परि ददातु) समर्पयतु (अहः) दिनम् (तुभ्यम्) (विभावरि) वि+भा दीप्तौ—क्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । ङीब्रेफौ । हे दीप्तिमति ॥

३—(यत्) (किञ्च) किञ्चित् (इदम्) दृश्यमानम् (पतयति) उड्डीयते (यत्) (किञ्च) (इदम्) (सरीसृपम्) सृपॢ गतौ—यङ् , पचाद्यच्

[सर्प आदि] है। (यत् किम् च) और जो कुछ (पर्वताय) पहाड़ पर (असत्वम्) दुष्ट जन्तु [सिंह आदि] है, (तस्मात्) उस से, (त्वम्) तू (रात्रि) हे रात्रि ! (नः) हमें (पाहि) बचा ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य घरों को ऐसा सुडौल बनावें कि रात्रि में सब प्रकार के हिंसक प्राणियों से रक्षा रहे ॥ ३ ॥

सा पश्चात् पाहि सा पुरः सोत्तरादधरादुत ।
गोपाय नो विभावरि स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ४ ॥

सा । पश्चात् । पाहि । सा । पुरः । सा । उत्तरात् । अधरात् । उत ॥ गोपाय । नः । विभावरि । स्तोतारः । ते । इह । स्मसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे रात्रि !] (सा) सो तू (पश्चात्) पीछे से, (सा) सो तू (पुरः) सामने से, (सा) सो तू (उत्तरात्) ऊपर से (उत) और (अधरात्) नीचे से (पाहि) बचा। (विभावरि) हे चमक वाली ! (नः) हमारी (गोपाय) रक्षा कर, हम लोग (इह) यहां पर (ते) तेरी (स्तोतारः) स्तुति करने वाले (स्मसि) हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को रात्रि में सावधानी के साथ सब ओर से रक्षा का प्रबन्ध रखना चाहिये ॥ ४ ॥

कुटिलगतिशीलं सर्पादिकम् (यत् किम् च) (पर्वताय) सप्तम्यर्थे चतुर्थी । पर्वते (असत्वम्) सत्त्वशब्दः प्राणिवाची । दुष्टं सत्त्वम् असत्त्वम्, व्याघ्रसिंहादिकम् (तस्मात्) पूर्वोक्तात् सर्वस्मात् (त्वम्) (रात्रि) (पाहि) रक्ष (नः) अस्मान् ॥

४—(सा) पूर्वोक्तलक्षणा त्वम् (पश्चात्) (पाहि) रक्ष (सा) सा त्वम् (पुरः) पुरस्तात् (सा) (उत्तरात्) उपरिदेशात् (अधरात्) अधोदेशात् (उत) अपि च (गोपाय) रक्ष (नः) अस्मान् (विभावरि) म० २ । हे दीप्तिमति (स्तोतारः) स्तावकाः (ते) तव (इह) अत्र (स्मसि) स्मः । भवामः ॥

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति । पशून् ये सर्वान्
रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति ॥ ५ ॥

ये । रात्रिम् । अनु-तिष्ठन्ति । ये । च । भूतेषु । जाग्रति ॥
पशून् । ये । सर्वान् । रक्षन्ति । ते । नः । आत्म-सु । जाग्रति ।
ते । नः । पशुषु । जाग्रति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [पुरुष] (रात्रिम्) रात्रि के (अनुतिष्ठन्ति) साथ चलते हैं [रात्रि में सावधान रहते हैं] (च) और (ये) जो (भूतेषु) सत्ता वालों पर (जाग्रति) जागते हैं। (ये) जो (सर्वान्) सब (पशून्) पशुओं की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं, (ते) वे (नः) हमारे (आत्मसु) आत्माओं [जीवों] पर (जाग्रति) जागते हैं, (ते) वे (नः) हमारे (पशुषु) पशुओं पर (जाग्रति) जागते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य रात्रि में सावधान रह कर संसार के सब पदार्थों, पशुओं और पुरुषों की रक्षा करें ॥ ५ ॥

वेद वै रात्रि ते नाम घृताची नाम वा असि ।
तां त्वां भरद्वाजो वेद सा नो वित्तेऽधि जाग्रति ॥ ६ ॥

वेद । वै । रात्रि । ते । नाम । घृताची । नाम । वै । असि ॥
ताम् । त्वाम् । भरत्-वाजः । वेद । सा । नः । वित्ते । अधि ।
जाग्रति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे रात्रि ! (ते) तेरा (नाम) नाम (वै) निश्चय

५—(ये) जनाः (रात्रिम्) (अनुतिष्ठन्ति) अनुसृत्य वर्तन्ते (ये) (च) (भूतेषु) भवनवत्सु । सत्तावत्सु (जाग्रति) सावधानाः सन्ति (पशून्) गवादीन् (ये) (सर्वान्) (रक्षन्ति) पालयन्ति (ते) जनाः (नः) अस्माकम् (आत्मसु) जीवेषु (जाग्रति) (ते) (नः) अस्माकम् (पशुषु) गवादिषु (जाग्रति) जागरिता भवन्ति ॥

६—(वेद) अहं जानामि (वै) निश्चयेन (रात्रि) (ते) तव (नाम)

करके (वेद) मैं जानता हूं, तू (घृताची) घृताची [प्रकाश को प्राप्त होने वाली] (नाम) नाम वाली (वै) निश्चय करके (असि) है। (तां त्वा) उस तुझ को (भरद्वाजः) भरद्वाज [विज्ञान पोषक महात्मा] (वेद) जानता है, (सा) सो आप (नः) हमारी (वित्ते) सम्पत्ति पर (अधि) अधिकार पूर्वक (जाग्रति) जागती रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य तारे आदि से युक्त रात्रि में वेदादि शास्त्रों का मनन करके ज्ञान से प्रकाशित होकर सब की रक्षा करें ॥ ६ ॥

सूक्तम् ४९ ॥

१—१० ॥ रात्रिर्देवता ॥ १, ४, ८ त्रिष्टुप्; २, ३, विराडार्षी त्रिष्टुप्; ५ विराट् त्रिष्टुप्; ६ निचृत् पङ्क्तिः; ७ पथ्या पङ्क्तिः; ९ आर्ष्यनुष्टुप्; १० षट्पदा जगती ॥

रात्रौ रक्षोपदेशः—रात्रि में रक्षा का उपदेश ॥

इषिरा योषा युवतिर्दमूना रात्री देवस्य सवितुर्भगस्य। अश्वक्षुभा सुहवा संभृतश्रीरा पप्रौ द्यावापृथिवी महित्वा ॥ १ ॥

इषिरा । योषा । युवतिः । दमूनाः । रात्री । देवस्य । सवितुः । भगस्य ॥ अश्व-क्षुभा । सु-हवा । सम्-भृतश्रीः । आ । पप्रौ । द्यावापृथिवी इति । महि-त्वा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इषिरा) फुरतीली, (योषा) सेवनीया (युवतिः) युवा [बलवती], (देवस्य) प्रकाशमान, (भगस्य) ऐश्वर्यवान् (सवितुः) प्रेरक

नामधेयम् (घृताची) घृ क्षरणदीप्त्योः—क + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्, ङीप्। घृतं दीप्तिम् अञ्चति प्राप्नोतीति सा (नाम) नाम्ना (वै) (असि) (ताम्) तादृशीम् (त्वाम्) (भरद्वाजः) भृञ् भरणे—शतृ। भरत् पोषकं वाजो विज्ञानं यस्य सः (वेद) वेत्ति (सा) सा भवती (नः) अस्माकम् (वित्ते) धने। सम्पत्तौ (अधि) अधिकृत्य (जाग्रति) जागर्तेर्लेटि अडागमः, गुणाभावश्छान्दसः। जागर्तु। सावधानो भवतु ॥

१—(इषिरा) इषिमदिमुदि० । उ० १ । ५१ । इष गतौ—किरच्।

सूर्य की (दमूनाः) वश में करने वाली, (अश्वक्षभा) शीघ्र फैलने वाली, (सुहवा) सहज में बुलाने योग्य, (संभृतश्रीः) सम्पूर्ण सम्पत्ति वाली (रात्री) रात्री ने (महित्वा) महिमा से (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी को (आ) सर्वथा (पप्रौ) भर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस समय विश्रामदात्री रात्री का बड़ा अन्धकार संसार में फैले, मनुष्य सावधानी से अपनी सम्पत्ति की रक्षा करें ॥ १ ॥

मन्त्र के पदपाठ के (अश्व—क्षभा) को (अशु—अक्षभा) मानकर अर्थ किया गया है ॥

अति विश्वा॑न्यरुहद् गम्भी॒रो वर्षि॑ष्ठमरुहन्त॒ श्रवि॑ष्ठाः ।
उ॒श॒ती रात्र्यनु॒ सा भ॒द्राभि ति॑ष्ठते मि॒त्र इ॑व स्व॒धाभिः॑ ॥२॥

अति॑ । विश्वा॑नि । अ॒रु॒ह॒त् । ग॒म्भी॒रः । वर्षि॑ष्ठम् । अ॒रु॒ह॒न्त॒ । श्रवि॑ष्ठाः ॥ उ॒श॒ती । रात्री॑ । अनु॑ । सा । भ॒द्रा । अ॒भि । ति॒ष्ठ॒ते॒ । मि॒त्रः-इ॑व । स्व॒धाभिः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(गम्भीरः) गम्भीर पुरुष (विश्वानि) सब [विघ्नों] को (अति) लांघ कर (अरुहत्) ऊंचा हुआ है, और (श्रविष्ठाः) अति बलवान् पुरुष (वर्षिष्ठम्) अति चौड़े स्थान पर (अरुहन्त) चढ़े हैं । (उशती) प्रीति

शीघ्रगतिः (योषा) युष सेवने—अच्, टाप् । सेवनीया (युवतिः) तरुणी । बलवती (दमूनाः) अ० ७ । १४ । ४ । दमेरुनसि । उ० ४ । २३५ । दमु । उपशमे- उनसि, वा दीर्घः । दमनशीला (रात्री) (देवस्य) प्रकाशमानस्य (सवितुः) प्रेरकस्य सूर्यस्य (भगस्य) ऐश्वर्यवतः (अश्वक्षभा) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । अशू व्याप्तौ—उप्रत्ययः+कृशृशलिकलि० । उ०३ । १२२ । अक्षू व्याप्तौ—अभच्, टाप् । अशु आशु शीघ्रं अक्षभा व्यापनशीला (सुहवा) सुखेन ह्वातव्या (संभृतश्रीः) सम्पूर्णसम्पत्तिः (आ) समन्तात् (पप्रौ) प्रा पूरणे—लिट् । पूरितवती (द्यावापृथिवी) आकाशभूमी (महित्वा) महिम्ना ॥

२—(अति) उल्लङ्घ्य (विश्वानि) सर्वाण्यनिष्टानि (अरुहत्) आरूढवान् (गम्भीरः) शान्तः (वर्षिष्ठम्) उरुतमं स्थानम् (अरुहन्त)

करती हुयी (भद्रा) कल्याणी (सा) वह (रात्री) रात्री (अनु) निरन्तर (मित्रः इव) मित्र के समान, (स्वधाभिः) अपनी धारण शक्तियों के साथ (अभि तिष्ठते) सब ओर ठहरती है ॥ २ ॥

भावार्थ—शान्त स्वभाव बलवान् पुरुषों ने संसार में ऊंचे स्थान पाये हैं, इसी प्रकार जो मनुष्य रात्रि अर्थात् कठिनाई को मित्र समान जानकर सावधान रहते हैं, वे सब प्रकार के पोषणों को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

वर्ये वन्दे सुभंगे सुजात आजगन् रात्रि सुमना इह स्याम् ।
अस्मांस्त्रायस्व नर्याणि जाता अथो यानि गव्यानि पुष्ट्या ॥३॥

वर्ये । वन्दे । सु-भंगे । सु-जाते । आ । अजगन् । रात्रि । सु-मनाः । इह । स्याम् ॥ अस्मान् । त्रायस्व । नर्याणि । जाता । अथो इति । यानि । गव्यानि । पुष्ट्या ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वर्ये) हे चाहने योग्य ! (वन्दे) हे वन्दना योग्य ! (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! (सुजाते) हे सुन्दर जन्म वाली ! (रात्रि) रात्रि (आ अजगन्) तू आयी है, मैं (इह) यहां (सुमनाः) प्रसन्नचित्त (स्याम्) रहूं । (अस्मान्) हमारे लिये (नर्याणि) मनुष्यों की हितकारी (जाता) उत्पन्न वस्तुओं को (अथो) और भी [उनको], (यानि) जो

आरूढवन्तः (अविष्ठाः) अतिशयेन अवस्विनः । बलिष्ठाः (उशती) कामयमाना (रात्री) रात्रीरूपं काठिन्यम् (अनु) निरन्तरम् (सा) प्रसिद्धा (भद्रा) कल्याणी (अभि) सर्वतः (मित्रः) सुहृत् (इव) यथा (स्वधाभिः) स्वधारणशक्तिभिः ॥

३—(वर्ये) हे वरणीये (वन्दे) वदि अभिवादनस्तुत्योः—घञ् । हे वन्दनीये (सुभगे) बह्वैश्वर्यवति (सुजाते) हे सुजन्मयुक्ते (आ अजगन्) गमेर्लङि मध्यमपुरुषे सिपि शपः श्लुः । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति मत्वम् । हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घा० । पा० ६ । १ । ६८ । इति सिपो लोपः । आगच्छः । आगतासि (रात्रि) (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः (इह) अत्र (स्याम्) अहं भवेयम् (अस्मान्) चतुर्थ्यर्थे द्वितीया । अस्मभ्यम् (त्रायस्व) पालय (नर्याणि)

(गव्यानि) गौ [आदि] की हितकारी वस्तु हैं, (पुष्ट्या) वृद्धि के साथ (त्रायस्व) रक्षा कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य रात्रि रूप कठिनाई में प्रसन्नचित्त रह कर अपना कर्तव्य करते रहें, वे उन्नति करके अपनी सम्पत्ति की रक्षा कर सकें ॥ ३ ॥

सिंहस्य रात्र्युशती पींषस्य व्याघ्रस्य द्वीपिनो वर्च आ ददे।
अश्वस्य ब्रध्नं पुरुषस्य मायुं पुरु रूपाणि कृणुषे विभाती ॥४॥

सिंहस्य । रात्री । उशती । पींषस्य । व्याघ्रस्य । द्वीपिनः । वर्चः । आ । ददे ॥ अश्वस्य । ब्रध्नम् । पुरुषस्य । मायुम् । पुरु । रूपाणि । कृणुषे । वि-भाती ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(उशती) प्रीति करती हुई (रात्री) रात्री ने (सिंहस्य) सिंह की, (पींषस्य) चूर्ण करने वाले [हाथी] की, (व्याघ्रस्य) बाघ की और (द्वीपिनः) चीते की (वर्चः) कान्ति को, (अश्वस्य) घोड़े के (ब्रध्नम्) मूल [वेग] को और (पुरुषस्य) पुरुष की (मायुम्) ललकार को (आ ददे) ग्रहण किया है, (विभाती) चमकती हुई तू (पुरु) बहुत से (रूपाणि) रूपों को (कृणुषे) बनाती है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य रात्रिरूप कठिनाई में सिंह आदि के समान पराक्रमी होते हैं, वे ही कीर्तिमान् और तेजस्वी होते हैं ॥ ४ ॥

नरहितानि (जाता) उत्पन्नानि वस्तूनि (अथो) अपि च (यानि) वस्तूनि (गव्यानि) गवादिभ्यो हितानि (पुष्ट्या) वृद्ध्या ॥

४—(सिंहस्य) (रात्री) (उशती) कामयमाना (पींषस्य) पाघ्राध्माधेट्दृशः शः । पा० ३ । १ । १३७ । इति बाहुलकात् शप्रत्ययः । तस्य सार्वधातुकत्वाद् नुम्, छान्दसो दीर्घः । संचूर्णकस्य गजस्य (व्याघ्रस्य) हिंसकजीवविशेषस्य (द्वीपिनः) व्याघ्रभेदस्य (वर्चः) कान्तिम् (आददे) आहृतवती । प्राप्तवती (अश्वस्य) तुरङ्गस्य (ब्रध्नम्) मूलम् । वेगम् (पुरुषस्य) मनुष्यस्य (मायुम्) माङ् शब्दे—उण्, युक् च । शब्दम् (पुरु) पुरूणि (रूपाणि) (कृणुषे) करोषि (विभाती) वि+भा दीप्तौ—शतृ । विशेषेण भासमाना ॥

शिवां रात्रिमनुसूर्यं च हिमस्य माता सुहवा नो अस्तु ।
अस्य स्तोमस्य सुभगे नि बोध येन त्वा वन्दे विश्वासु दिक्षु ५

शिवाम् । रात्रिम् । अनु-सूर्यम् । च । हिमस्य । माता । सु-हवा । नः । अस्तु ॥ अस्य । स्तोमस्य । सु-भगे । नि । बोध । येन । त्वा । वन्दे । विश्वासु । दिक्षु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(च) और (हिमस्य) हिम [शीतलता] की (माता) माता [आप] (नः) हमारे लिये (सुहवा) सहज में बुलाने योग्य (अस्तु) होवें, (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! तू (अस्य) इस (स्तोमस्य) स्तोत्र का (नि बोध) ज्ञान कर, (येन) जिस [स्तोत्र] से (त्वाम्) तुझ (शिवाम्) कल्याणी (रात्रिम्) रात्रि को (अनुसूर्य्यम्) सूर्य के साथ साथ (विश्वासु) सब (दिक्षु) दिशाओं में (वन्दे) मैं वन्दना करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कठिनाई को पार करके अन्त में शान्ति और ऐश्वर्य को प्राप्त हों, वे उस कठिनाई को उन्नति का कारण समझ कर उसका आदर करें ॥ ५ ॥

स्तोमस्य नो विभावरि रात्रि राजेव जोषसे ।
असाम सर्ववीरा भवाम सर्ववेदसो व्युच्छन्तीरनूषसः ॥ ६ ॥

स्तोमस्य । नः । विभावरि । रात्रि । राजा-इव । जोषसे ॥ असाम । सर्व-वीराः । भवाम । सर्व-वेदसः । वि-उच्छन्तीः । अनु । उषसः ॥ ६ ॥

५—(शिवाम्) कल्याणीम् (रात्रिम्) (अनुसूर्यम्) सूर्यमनुसृत्य (च) समुच्चये (हिमस्य) शीतलत्वस्य (माता) निर्मात्री भवतीति शेषः (सुहवा) सुखेन ह्वातव्या (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) (अस्य) क्रियमाणस्य (स्तोमस्य) स्तोत्रस्य (सुभगे) हे बह्वैश्वर्यवति (नि) नितराम् (बोध) ज्ञानं कुरु (येन) स्तोमेन (त्वा) त्वाम् (वन्दे) आदरेण नमामि (विश्वासु) सर्वासु (दिक्षु) ॥

भाषार्थ—(विभावरि) हे चमक वाली (रात्रि) रात्रि ! (नः) हमारे (स्तोमस्य) स्तोत्र का (राजा इव) राजा के समान (जोषसे) तू सेवन करती रहे। (व्युच्छन्तीः) विविध प्रकार चमकती हुई (उषसः अनु) उषाओं के साथ साथ हम (सर्ववीराः) सब वीरों वाले (असाम) होवें, और (सर्ववेदसः) सब सम्पत्ति वाले (भवाम) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य ताराओं वाली रात्रि के सुन्दर उपयोग से स्तुति योग्य कर्म करके सदा बड़े बड़े वीर पुरुषों वाले और बड़ी सम्पत्ति वाले होवें ॥ ६ ॥

शम्या॑ ह॒ नाम॑ दधि॒षे मम॒ दिप्स॑न्ति॒ ये धना॑। रात्री॒हि तान॑सु॒तपा॒ य स्ते॒नो न वि॒द्यते॒ यत् पुन॒र्न वि॒द्यते॑ ॥ ७ ॥

शम्या॑। ह॒। नाम॑। द॒धि॒षे। मम॑। दिप्स॑न्ति। ये। धना॑ ॥ रात्रि॑। इ॒हि। तान्। अ॒सु॒ऽत॒पा। यः। स्ते॒नः। न। वि॒द्यते॑। यत्। पुन॑ः। न। वि॒द्यते॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(शम्या) शान्ति वाली, (नाम) यह नाम (ह) निश्चय करके (दधिषे) तू धारण करती है, (ये) जो [चोर] (मम) मेरे (धना) धनों को (दिप्सन्ति) हानि पहुंचाना चाहते हैं। (रात्रि) हे रात्रि ! (असुतपा) [उनके] प्राणों को तपाने वाली तू (तान्) उनको (इहि) पहुंच,

---

६—(स्तोमस्य) स्तोत्रस्य (नः) अस्माकम् (विभावरि) हे विशेषदीप्तियुक्ते (रात्रि) (राजा) (इव) यथा (जोषसे) लेटि अडागमः। सेवस्व (असाम) (सर्ववीराः) सर्ववीरोपेताः (भवाम) (सर्ववेदसः) बहुसम्पत्तियुक्ताः (व्युच्छन्तीः) विशेषेण भासमानाः (अनु) अनुलक्ष्य (उषसः) प्रभातवेलाः ॥

७—(शम्या) शमु उपशमे—यत्। शान्तियुक्ता (ह) निश्चयेन (नाम) नामधेयम् (दधिषे) दधातेर्लेडर्थे लिट्। धारयसि (दिप्सन्ति) दम्भु दम्भे—सन्। दम्भितुं हिंसितुमिच्छन्ति (ये) चोराः (धना) धनानि (रात्रि) (इहि) प्राप्नुहि (तान्) चोरान् (असुतपा) असु + तप सन्तापे—कप्रत्ययो मूलविभुजादित्वात्, टाप्। असूनां प्राणानां सन्तापयित्री (यः) (स्तेनः) (न)

यो अद्य स्तेन आयत्यघायुर्मर्त्यो रिपुः ।
रात्री तस्य प्रतीत्य प्र ग्रीवाः प्र शिरो हनत् ॥ ९ ॥

यः । अद्य । स्तेनः । आ-अयति । अघ-युः । मर्त्यः । रिपुः ॥
रात्री । तस्य । प्रति-इत्य । प्र । ग्रीवाः । प्र । शिरः ।
हनत् ॥ ९ ॥

प्र पादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथाशिषत् । यो मलिम्लुरुपायति स संपिष्टो अपायति । अपायति स्वपायति शुष्के स्थाणावपायति ॥ १० ॥

प्र । पादौ । न । यथा । अयति । प्र । हस्तौ । न । यथा । अशिषत् ॥ यः । मलिम्लुः । उप-अयति । सः । सम्-पिष्टः । अप । अयति ॥ अप । अयति । सु-अपायति । शुष्के । स्थाणौ । अप । अयति ॥ १० ॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (यः) जो (अघायुः) पाप चीतने वाला (रिपुः) वैरी, (स्तेनः) चोर (मर्त्यः) मनुष्य (आ—अयति) आवे। (रात्री) रात्रि (प्रतीत्य) प्रतीति करके (तस्य) उसके (ग्रीवाः) गले को (प्र) सर्वथा, और (शिरः) शिर को (प्र) सर्वथा (हनत्) तोड़ डाले ॥ ९ ॥

(पादौ) [उसके] दोनों पैरों को (प्र) सर्वथा [तोड़ डाले-मन्त्र

९—(यः) (अद्य) अस्मिन् दिने (स्तेनः) चोरः (आयति) आङ्+इण् गतौ—लेट् । आगच्छेत् (अघायुः) पापचिन्तकः (मर्त्यः) मनुष्यः (रिपुः) शत्रुः (रात्री) (तस्य) शत्रोः (प्रतीत्य) प्रतीतिं प्रत्यक्षज्ञानं प्राप्य (प्र) सर्वथा (ग्रीवाः) कन्धरावयवान् (प्र) सर्वथा (शिरः) मस्तकम् (हनत्) लेटि रूपम् । हन्यात् । नाशयेत् ॥

१०—(प्र) सर्वथा हनत्—म० ९ (पादौ) गमनसाधनभूतौ (न)

(यत्) जिस से (यः स्तेनः) जो चोर है, (न विद्यते) वह न रहे, (पुनः) फिर (न विद्यते) वह न रहे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो चोर डाकू आदि रात्रि में हानि करें, उन को लोग दण्ड देकर शान्ति स्थापित करें और चोरों को न रहने दें ॥ ७ ॥

भुद्रासि रात्रि चमसो न विष्टो विष्वङ् गोरूपं युवतिर्बिभर्षि। चक्षुष्मती मे उशती वपूंषि प्रति त्वं दिव्या न क्षामंमुक्थाः ॥८॥

भुद्रा। असि। रात्रि। चमसः। न। विष्टः। विष्वङ्। गोऽरूपम्। युवतिः। बिभर्षि ॥ चक्षुष्मती। मे। उशती। वपूंषि। प्रति। त्वम्। दिव्या। न। क्षाम्। अमुक्थाः ॥ ८॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे रात्रि ! तू (विष्टः) परोसे हुये (चमसः न) अन्नपात्र के समान (भद्रा) कल्याणी (असि) है, (युवतिः) युवती [बलवती] तू (विष्वङ्) सम्पूर्ण (गोरूपम्) गौ के स्वभाव को (बिभर्षि) धारण करती है। (चक्षुष्मती) नेत्र वाली, (उशती) प्रीति करती हुई (त्वम्) तू ने (मे) मेरे लिये (दिव्या) आकाश वाले (वपूंषि न) शरीरों के समान (क्षाम्) पृथिवी को (प्रति अमुक्थाः) ग्रहण किया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे गौ दुग्ध आदि से उपकार करती है, वैसे ही रात्रि शीतलता आदि से अन्न आदि की वृद्धि करती है, और जैसे आकाश के तारों से रात्रि शोभायमान होती है, वैसे ही वृक्ष, पुष्प, आदि रात्रि की शीतलता वा ओस से हरे भरे होकर पृथिवी को सुन्दर बनाते हैं ॥ ८ ॥

निषेधे (विद्यते) स वर्तते (यत्) यस्मात् (पुनः) पश्चात् (न) निषेधे (विद्यते) ॥

८—(भद्रा) कल्याणी (असि) भवसि (रात्रि) (चमसः) अन्नपात्रम् (न) इव (विष्टः) परिवेष्टः परिष्कृतः (विष्वङ्) विषु+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। सम्पूर्णम् (गोरूपम्) धेनुसमानोपकारित्वम् (युवतिः) यौवनवती। बलवती त्वम् (बिभर्षि) धारयसि (चक्षुष्मती) दर्शनशक्तियुक्ता (मे) मह्यम् (उशती) कामयमाना (वपूंषि) शरीराणि (त्वम्) (दिव्या) दिवि आकाशे भवानि शरीराणि (न) इव (क्षाम्) क्षि निवासगत्योः—डप्रत्ययः, टाप्। पृथिवीम्—निघ० १।१ (प्रति अमुक्थाः) स्वीकृतवती, गृहीतवती ॥

९], (यथा) जिस से वह (न) न (अयति) चल सके, (हस्तौ) [उस के] दोनों हाथों को (प्र) सर्वथा [तोड़ डाले], (यथा) जिस से वह (न) न (अशिपत्) खा सके। (यः) जो (मलिम्लुः) मलिन आचरण वाला लुटेरा (उप—अयति) पास आवे, (सः) वह (संपिष्टः) पीस डाला गया (अप अयति) निकल जावे। (अप अयति) वह निकल जावे, (सु—अप—अयति) वह सर्वथा निकल जावे, (शुष्के) सूखे (स्थाणौ) स्थान में (अप अयति) निकल जावे ॥ १० ॥

भावार्थ—यदि रात्रि में चोर डाकू आदि आकर लूट खसोट मचावें, रक्षक गण उन को यथावत् दण्ड देकर प्रजा की रक्षा करें ॥ ९, १० ॥

सूक्तम् ५० ॥

१—७ ॥ रात्रिर्देवता ॥ १, ३, ४, ६, ७ अनुष्टुप्; २, ५ भुरिगार्ष्युष्णिक् ॥

रात्रौ रक्षोपदेशः—रात्रि में रक्षा का उपदेश ॥

अधं रात्रि तृष्टधूंमम<u>शी</u>र्षाणमहिं कृणु ।
अ॒क्षौ वृक॑स्य नि॒र्जह्या॒स्तेन॒ तं द्रु॑प॒दे ज॑हि ॥ १ ॥

अध॑ । रा॒त्रि॒ । तृ॒ष्ट-धू॑मम् । अ॒शी॒र्षाण॑म् । अहि॑म् । कृ॒णु॒ ॥
अ॒क्षौ । वृक॑स्य । निः । ज॒ह्याः॒ । तेन॑ । तम् । द्रु॒-प॒दे । ज॒हि॒ ॥ १

निषेधे (यथा) येन प्रकारेण (अयति) गच्छेत् (प्र) प्रहनत् (हस्तौ) करौ (न) निषेधे (यथा) (अशिपत्) अश भोजने—लेट्, अडागमः। सिब्बहुलं लेटि। पा० ३।१।३४ इति सिप्, इडागमः। भोजनं कुर्यात् (यः) (मलिम्लुः) अ० ८।६।२। मलि+म्लुचु गतौ—डुप्रत्ययः। मलिं मलं पापं म्लोचति प्राप्नोतीति सः। मलिनाचारः (उप—अयति) आगच्छेत् (सः) (सं पिष्टः) सम्यक् चूर्णितः (अप—अयति) दूरे गच्छेत् (अप अयति) स दूरं गच्छेत् (सु—अप—अयति) स सर्वथा दूरे गच्छतु (शुष्के) शुष शोषणे—क्त। शुषः कः। पा० ८।२।५१। इति कत्वम्। प्राप्तशोषणे। नीरसे (स्थाणौ) स्थाने (अप अयति) दूरे गच्छतु ॥

यो अद्य स्तेन आयत्यघायुर्मर्त्यो रिपुः ।
रात्री तस्य प्रतीत्य प्र ग्रीवाः प्र शिरो हनत् ॥ ९ ॥

यः । अद्य । स्तेनः । आ-अयति । अघ-युः । मर्त्यः । रिपुः ॥ रात्री । तस्य । प्रति-इत्य । प्र । ग्रीवाः । प्र । शिरः । हनत् ॥ ९ ॥

प्र पादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथाशिषत् । यो मलिम्लुरुपायति स संपिष्टो अपायति । अपायति स्वपायति शुष्के स्थाणावपायति ॥ १० ॥

प्र । पादौ । न । यथा । अयति । प्र । हस्तौ । न । यथा । अशिषत् ॥ यः । मलिम्लुः । उप-अयति । सः । सम्-पिष्टः । अप । अयति ॥ अप । अयति । सु-अपायति । शुष्के । स्थाणौ । अप । अयति ॥ १० ॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (यः) जो (अघायुः) पाप चीतने वाला (रिपुः) बैरी, (स्तेनः) चोर (मर्त्यः) मनुष्य (आ—अयति) आवे । (रात्री) रात्रि (प्रतीत्य) प्रतीति करके (तस्य) उसके (ग्रीवाः) गले को (प्र) सर्वथा, और (शिरः) शिर को (प्र) सर्वथा (हनत्) तोड़ डाले ॥ ९ ॥

(पादौ) [उसके] दोनों पैरों को (प्र) सर्वथा [तोड़ डाले-मन्त्र

९—(यः) (अद्य) अस्मिन् दिने (स्तेनः) चोरः (आयति) आङ्+इण् गतौ—लेट् । आगच्छेत् (अघायुः) पापचिन्तकः (मर्त्यः) मनुष्यः (रिपुः) शत्रुः (रात्री) (तस्य) शत्रोः (प्रतीत्य) प्रतीतिं प्रत्यक्षज्ञानं प्राप्य (प्र) सर्वथा (ग्रीवाः) कन्धरावयवान् (प्र) सर्वथा (शिरः) मस्तकम् (हनत्) लेटि रूपम् । हन्यात् । नाशयेत् ॥

१०—(प्र) सर्वथा हनत्—म० ९ (पादौ) गमनसाधनभूतौ (न)

९]; (यथा) जिस से वह (न) न (अयति) चल सके, (हस्तौ) [उस के] दोनों हाथों को (प्र) सर्वथा [तोड़ डाले], (यथा) जिस से वह (न) न (अशिपत्) खा सके। (यः) जो (मलिम्लुः) मलिन आचरण वाला लुटेरा (उप—अयति) पास आवे, (सः) वह (संपिष्टः) पीस डाला गया (अप अयति) निकल जावे। (अप अयति) वह निकल जावे, (सु—अप—अयति) वह सर्वथा निकल जावे, (शुष्के) सूखे (स्थाणौ)स्थान में (अप अयति) निकल जावे ॥ १० ॥

भावार्थ—यदि रात्रि में चोर डाकू आदि आकर लूट खसोट मचावें, रक्षक गण उन को यथावत् दण्ड देकर प्रजा की रक्षा करें ॥ ९, १० ॥

सूक्तम् ५० ॥

१—७॥ रात्रिर्देवता ॥ १, ३, ४, ६, ७ अनुष्टुप्; २, ५ भुरिगार्ष्युष्णिक् ॥

रात्रौ रक्षोपदेशः—रात्रि में रक्षा का उपदेश ॥

अधं रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु ।
अक्षौ वृकस्य निर्जह्यास्तेन तं द्रुपदे जहि ॥ १ ॥

अध । रात्रि । तृष्ट-धूमम् । अशीर्षाणम् । अहिम् । कृणु ॥
अक्षौ । वृकस्य । निः । जह्याः । तेन । तम् । द्रु-पदे । जहि १

निषेधे (यथा) येन प्रकारेण (अयति) गच्छेत् (प्र) प्रहनत् (हस्तौ) करौ (न) निषेधे (यथा) (अशिपत्) अश भोजने—लेट्; अडागमः। सिब्बहुलं लेटि। पा० ३। १। ३४ इति सिप्, इडागमः। भोजनं कुर्यात् (यः) (मलिम्लुः) अ० ८। ६। २। मलि+म्लुचु गतौ—डुप्रत्ययः। मलिं मलं पापं म्लोचति प्राप्नोतीति सः। मलिनाचारः (उप—अयति) आगच्छेत् (सः) (सं पिष्टः) सम्यक् चूर्णितः (अप—अयति) दूरे गच्छेत् (अप अयति) स दूरं गच्छेत् (सु—अप—अयति) स सर्वथा दूरे गच्छतु (शुष्के) शुष शोषणे—क्त। शुषः कः। पा० ८। २। ५१। इति कत्वम्। प्राप्तशोषणे। नीरसे (स्थाणौ) स्थाने (अप अयति) दूरे गच्छतु ॥

भाषार्थ—(अध) और (रात्रि) हे रात्रि ! (तृष्टधूमम्) क्रूर धुयें वाले [विषैली श्वास वाले] (अहिम्) सांप को (अशीर्षाणम्) रुण्ड [बिना शिर का] (कृणु) करदे [शिर कुचल कर मार डाल] । (वृकस्य) भेड़िये के (अक्षौ) दोनों आंखें (निः जह्याः) निकाल कर फेंक दे, (तेन) उस से (तम्) उसको (द्रुपदे) काठ के बन्धन में (जहि) मार डाल ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सर्प और भेड़िये आदि के समान रात्रि में दुःख देवें, उन्हें बन्दीगृह में बन्द करके कष्ट दिया जावे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऊपर आ चुका है—४७ । ८ ॥

ये ते॑ रात्र्यनु॒ड्वाह॒स्तीक्ष्ण॑शृङ्गाः स्वा॒शवः॑ ।
तेभि॑र्नो अ॒द्य पा॑र॒याति॑ दु॒र्गाणि॑ वि॒श्वहा॑ ॥ २ ॥

ये । ते॒ । रा॒त्रि॒ । अ॒न॒ड्वाहः॑ । तीक्ष्ण॑-शृङ्गाः । सु॒-आ॒शवः॑ ॥
तेभिः॑ । नः॒ । अ॒द्य । पा॒र॒य॒ । अति॑ । दुः॒-गानि॑ । वि॒श्वहा॑ ॥२॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे रात्रि ! (ते) तेरे (ये) जो (तीक्ष्णशृङ्गाः) पैने सींग वाले और (स्वाशवः) बड़े फुरतीले (अनड्वाहः) रथ ले चलने वाले बैल [अर्थात् बैलों के समान रक्षा भार उठाने वाले पुरुष] हैं । (तेभिः) उन के द्वारा (नः) हमें (अद्य) आज और (विश्वाहा) सब दिन (दुर्गाणि अति) विघ्नों को लांघ कर (पारय) पार लगा ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि रथ ले चलने वाले फुरतीले बलवान् बलों के समान रक्षा भार उठाने में फुरतीले और पराक्रमी होकर सब विघ्नों को हटावें ॥ २ ॥

१—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—४७ । ८ । अत्र विशेषो व्याख्यायते (अक्षौ) अक्षिणी । चक्षुषी (निः) निःसार्य (जह्याः) ओ हाक् त्यागे—लिङ् । त्यजेः । प्रक्षिपेः ॥

२—(ये) रक्षकाः (ते) तव (रात्रि) (अनड्वाहः) अनसः शकटस्य वाहकाः पुङ्गवा इव रक्षाभारवाहकाः पुरुषाः (तीक्ष्णशृङ्गाः) निशितविषाणाः (स्वाशवः) अतिशीघ्रगामिनः (तेभिः) तैः (नः) अस्मान् (अद्य) अस्मिन् दिने (पारय) तारय (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (दुर्गाणि). विघ्नान् (विश्वहा) विश्वेषु सर्वेषु अहःसु दिनेषु ॥

रात्रिरात्रिमरिष्यन्तुस्तरेम तन्वावयम् ।
गम्भीरमप्लवा इव न तरेयुररातयः ॥ ३ ॥

रात्रिम्-रात्रिम् । अरिष्यन्तः । तरेम । तन्वा । वयम् ॥ गम्भीरम् । अप्लवाः-इव । न । तरेयुः । अरातयः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अरिष्यन्तः) विना कष्ट उठाये हुये (वयम्) हम लोग (तन्वा) अपने शरीर के साथ (रात्रिं रात्रिम्) रात्रि के पीछे रात्रि को (तरेम) पार करें । (अरातयः) वैरी लोग [उसको] (न तरेयुः) न पार करें, (इव) जैसे (अप्लवाः) विना नाव वाले मनुष्य (गम्भीरम्) गहरे [समुद्र] को ॥३॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य सब विघ्नों को सह कर उन्नति करें, विरोधी आलसी पुरुष सुकर्मों को सिद्ध नहीं कर सकते ॥ ३ ॥

यथा शाम्याकः प्रपतन्नपवान् नानुविद्यते ।
एवा रात्रि प्र पातय यो अस्माँ अभ्यघायति ॥ ४ ॥

यथा । शाम्याकः । प्र-पतन् । अप-वान् । न । अनु-विद्यते ॥ एव । रात्रि । प्र । पातय । यः । अस्मान् । अभि-अघायति ॥४

भाषार्थ—(यथा) जैसे (शाम्याकः) सामा [छोटा अन्न विशेष] (प्रपतन्) गिरता हुआ और (अपवान्) दूर चला जाता हुआ (न) नहीं (अनुविद्यते) कुछ भी मिलता है । (एव) वैसे ही, (रात्रि) हे रात्रि ! [उस दुष्ट को] (प्र पातय) गिरा दे, (यः) जो (अस्मान्) हमारा (अभ्यघायति) बुरा चीतता है ॥ ४ ॥

३—(रात्रिंरात्रिम्) रात्रिं प्रति रात्रिम् (अरिष्यन्तः) दुःखं न प्राप्नुवन्तः (तरेम) पारं गच्छेम (तन्वा) स्वशरीरेण (वयम्) पुरुषार्थिनः (गम्भीरम्) अगाधं समुद्रम् (अप्लवाः) नौकादिरहिताः (इव) यथा (न) निषेधे (तरेयुः) अतिक्रामेयुः (अरातयः) शत्रवः ॥

४—(यथा) (शाम्याकः) श्यामाकाख्यः क्षुद्रधान्यविशेषः (प्रपतन्) निपतन् (अपवान्) वा गतौ—शतृ । अपगच्छन् (न) निषेधे (अनुविद्यते) कदापि लभ्यते (एव) एवम् (रात्रि) (प्रपातय) निपातय शत्रुम् (यः) शत्रुः (अस्मान्) धार्मिकान् (अभ्यघायति) अभिलक्ष्य अघं पापमिच्छति ॥

भावार्थ—धर्मात्मा लोग दुष्टों को ऐसा दूर करें कि फिर उसका पता न लगे जैसे सामा अन्न धूलि में वा पवन में जाकर नहीं मिलता ॥ ४ ॥

अप॑ स्ते॒नं वासो॑ गो॒अ॒जमु॒त तस्क॑रम् ।
अथो॒ यो अर्व॑तः॒ शिरो॑ऽभि॒धाय॒ निनी॑षति ॥५॥

अप॑ । स्ते॒नम् । वासः॑ । गो॒-अ॒जम् । उ॒त । तस्क॑रम् ॥ अथो॒-इति॑ । यः । अर्व॑तः । शिरः॑ । अ॒भि॒-धाय॑ । निनी॑षति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—तू (स्तेनम्) चोर को (उत) और (गोअजम्) गौ को हांक ले जाने वाले (तस्करम्) लुटेरे को (अप वासः) बाहिर बसा दे । (अथो) और भी [उसको], (यः) जो (अर्वतः) घोड़े के (शिरः) शिर को (अभिधाय) बांधकर (निनीषति) [उसे] ले जाना चाहता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो पुरुष गौ आदि दूध के पशुओं को चुरा ले जावें, और इस लिये कि घोड़े फिर घर को न लौट आवें और न शब्द करें, उनका शिर अर्थात् आंखें और मुख बन्द करके भगाले जावें, उन्हें देश से निकाल देना चाहिये ॥ ५ ॥

यद॒द्या रा॑त्रि सुभगे वि॒भज॒न्त्ययो॒ वसु॑ ।
यदे॒तद॒स्मान् भो॑जय॒ यथेद॒न्याँ उ॒पाय॑सि ॥ ६ ॥

यत् । अ॒द्य । रा॒त्रि॒ । सु॒-भ॒गे॒ । वि॒-भज॑न्ति । अयः॑ । वसु॑ ॥ यत् । ए॒तत् । अ॒स्मान् । भो॒ज॒य॒ । यथा॑ । इत् । अ॒न्यान् । उ॒प॒-अय॑सि ॥ ६ ॥

५—(अप) दूरे (स्तेनम्) चोरम् (वासः) वस निवासे-णिजन्ताल्लेटि । छान्दसरूपम् । त्वं वासयः । निवासं देहि (गोअजम्) गो+अज गतिक्षेपणयोः अच् । सर्वत्र विभाषा गोः । पा० ६ । १ । १२२ । इति प्रकृतिभावः । गोः नेतारं प्रेरकम् (उत) अपिच-(तस्करम्) (अथो) अपि च (यः) तस्करः (अर्वतः) अश्वस्य (शिरः) (अभिधाय) बध्वा (निनीषति) अपजिहीर्षति ॥

भाषार्थ—(सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली (रात्रि) रात्रि ! (अद्य) आज (यत्) जिस (अयः) सुवर्ण और (यत्) जिस (वसु) धन को (विभजन्ति) वे [चोर] बांटते हैं। (एतत्) उस को (अस्मान्) हमें (भोजय) भोगने दे, (यथा) जिस से (इत्) निश्चय करके (अन्यान्) दूसरे [पदार्थों] को [हमें] (उप-अयसि) तू पहुंचाती रहे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके डाकू चोर आदि दुष्टों से धन और सम्पत्ति की रक्षा करके वृद्धि करते रहें ॥ ६ ॥

उषसे नः परि देहि सर्वान् रात्र्यनागसः ।
उषा नो अह्ने आ भजादहस्तुभ्यं विभावरि ॥ ७ ॥

उषसे । नः । परि । देहि । सर्वान् । रात्रि । अनागसः ॥ उषाः । नः । अह्ने । आ । भजात् । अहः । तुभ्यम् । विभावरि ॥७॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे रात्रि! (उषसे) उषा [प्रभात वेला] को (नः) हम (सर्वान्) सब (अनागसः) निर्दोषों को (परि देहि) सौंप । (उषाः) उषा (नः) हमें (अह्ने) दिन को, और (अहः) दिन (तुभ्यम्) तुझ को (आ भजात्) देवे, (विभावरि) हे बड़ी चमक वाली ! ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य दिन और राति सदा धर्म के साथ अपनी वृद्धि करें ७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऊपर आ चुका है—४८ । २ ॥

६—(यत्) (अद्य) अस्मिन् दिने (रात्रि) (सुभगे) हे बह्वैश्वर्यवति (विभजन्ति) विभागेन प्राप्नुवन्ति (अयः) हिरण्यम्-निघ० १ । २ (वसु) धनम् (यत्) (एतत्) (अस्मान्) (भोजय) भोक्तॄन् कुरु (यथा) येन प्रकारेण (इत्) निश्चयेन (अन्यान्) पदार्थान् (उप-अयसि) इण् गतौ—लेटि, अडागमः, अन्तर्गतण्यर्थः । उपगमयेः ॥

७—(उषसे) प्रभातवेलायै (नः) अस्मान् (परिदेहि) समर्पय (सर्वान्) (रात्रि) (अनागसः) निर्दोषान् (उषाः) प्रभातवेला (नः) अस्मान् (अह्ने) दिनाय (आभजात्) भज सेवायाम्—लेटि, आडागमः । आभजेत् समन्तात् सेवेत । समर्पयेत् । अन्यत् पूर्ववत्-४८ । २ ॥

सूक्तम् ५१ ॥

१, २ ॥ आत्मा देवता ॥ १ ब्राह्म्युष्णिक्; २ विराडार्ष्युष्णिक् ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥ १ ॥

अयुतः । अहम् । अयुतः । मे । आत्मा । अयुतम् । मे । चक्षुः । अयुतम् । मे । श्रोत्रम् । अयुतः । मे । प्राणः । अयुतः । मे । अपानः । अयुतः । मे । वि-आनः । अयुतः । अहम् । सर्वः ॥१॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (अयुतः) अनिन्दित [प्रशंसायुक्त] [होऊं] (मे) मेरा (आत्मा) आत्मा [जीवात्मा] (अयुतः) अनिन्दित, (मे) मेरी (चक्षुः) आंख (अयुतम्) अनिन्दित, (मे) मेरा (श्रोत्रम्) कान (अयुतम्) अनिन्दित, (मे) मेरा (प्राणः) प्राण [भीतर जाने वाला श्वास] (अयुतः) अनिन्दित, (मे) मेरा (अपानः) अपान [बाहिर जाने वाला श्वास] (अयुतः) अनिन्दित, (मे) मेरा (व्यानः) व्यान [सब शरीर में घूमने वाला वायु] (अयुतः) अनिन्दित [होवे], (सर्वः) सब का सब (अहम्) मैं (अयुतः) अनिन्दित [होऊं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने आप, अपने आत्मा, अपने इन्द्रियों, अपने अङ्गों और अपने सर्वस्व से सदा प्रशंसनीय कर्म करते हैं। वे ही आत्मोन्नति कर सकते हैं ॥ १ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आ रभे ॥ २ ॥

१—(अयुतः) यु निन्दायाम्, चुरादिः—क्त । अनिन्दितः । प्रशंसितः (अहम्) (मे) मम (आत्मा) जीवात्मा (चक्षुः) दर्शनेन्द्रियम् (श्रोत्रम्) श्रवणेन्द्रियम् (प्राणः) शरीराभ्यन्तरगामी वायुः (अपानः) शरीराद् बहिर्गामी वायुः (व्यानः) सर्वशरीरव्यापको वायुः (सर्वः) समस्तः । अन्यद् गतं स्पष्टं च ॥

देवस्यं । त्वा । सुवितुः । प्र-सुवे । अश्विनोः । बाहु-भ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् । प्र-सूतः । आ । रभे ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे शूर !] (देवस्य) प्रकाशमान, (सवितुः) सर्वोत्पादक [परमेश्वर] के (प्रसवे) बड़े ऐश्वर्य के बीच, (अश्विनोः) सब विद्याओं में व्याप्त दोनों [माता पिता] के (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से और (पूष्णः) पोषक [आचार्य] के (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (प्रसूतः) प्रेरणा किया हुआ मैं (त्वा) तुझ को (आ रभे) ग्रहण करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर भक्त विद्वान् पराक्रमी पुरुष माता पिता और आचार्य से उत्तम शिक्षा पाकर उन्नति करे, सब मनुष्य उस का सदा सत्कार करते रहें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है–३० । ३ और महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका राजप्रजा धर्म विषय में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ५२ [काम सूक्तम्] ॥

१—५ ॥ कामो देवता ॥ १, २ आर्षी त्रिष्टुप्; ३, उष्णिक्; ४ निचृदनुष्टुप् ५ उपरिष्टाद् बृहती ॥

कामप्रशंसोपदेशः—काम की प्रशंसा का उपदेश ॥

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
स कांम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥१॥

कामः । तत् । अग्रे । सम् । अवर्तत । मनसः । रेतः । प्रथमम् । यत् । आसीत् ॥ सः । काम । कामेन । बृहता । स-योनिः । रायः । पोषम् । यजमानाय । धेहि ॥ १ ॥

२—(देवस्य) प्रकाशमानस्य (त्वा) त्वां पुरुषार्थिनम् (सवितुः) सर्वोत्पादकस्य परमेश्वरस्य (प्रसवे) प्रकृष्टैश्वर्ये (अश्विनोः) सकलविद्याव्याप्तयोर्मातापित्रोः (बाहुभ्याम्) भुजयोः सकाशात् (पूष्णः) पोषकस्य आचार्यस्य (हस्ताभ्याम्) करयोः सकाशात् (प्रसूतः) प्रेरितः (आरभे) रभ राभस्ये । अहं गृह्णामि । स्वीकरोमि ॥

भाषार्थ—(तत्) फिर [प्रलय के पीछे] (अग्रे) पहिले ही पहिले (कामः) काम [इच्छा] (सम्) ठीक ठीक (अवर्तत) वर्तमान हुआ, (यत्) जो (मनसः) मन का (प्रथमम्) पहिला (रेतः) बीज (आसीत्) था। (सः) सो तू, (काम) हे काम ! (बृहता) बड़े (कामेन) काम [कामना करने वाले परमेश्वर] के साथ (सयोनिः) एक स्थानी होकर (रायः) धन की (पोषम्) वृद्धि (यजमानाय) यजमान [विद्वानों के सत्कार करने वाले] को (धेहि) दान कर ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रलय के पीछे प्राणियों के पूर्वजन्मों के कर्म फलों के अनुसार परमात्मा ने सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा की है, सो हे मनुष्यो तुम उत्तम कर्म करके अभीष्ट सुख प्राप्त करो ॥ १ ॥

१—इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध ऋग्वेद में है—१० । १२६ । ४ । और चौथा पाद आ चुका है—अ० १८ । १ । ४३ ॥

२—इस सूक्त का मिलान करो—अ० ६ । २ और देखो यजुर्वेद ७ । ४८ ॥

त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ सखीयते।
त्वमुग्रः पृतनासु सासहिः सह ओजो यजमानाय धेहि ॥ २ ॥

त्वम् । काम । सहसा । असि । प्रति-स्थितः । वि-भुः । विभा-वा । सखे । आ । सखीयते ॥ त्वम् । उग्रः । पृतनासु । ससहिः । सहः । ओजः । यजमानाय । धेहि ॥ २ ॥

१—(कामः) कमु कान्तौ—घञ् । अभिलाषः । इच्छा (तत्) ततः । प्रलयानन्तरम् (अग्रे) सृष्ट्यादौ (सम्) सम्यक् (अवर्तत) वर्तमानोऽभवत् (मनसः) चित्तस्य (रेतः) बीजम् (प्रथमम्) आद्यम् । पूर्वकल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यापुण्यात्मकं कर्म (यत्) कर्म (आसीत्) अभवत् (सः) स त्वम् (काम) हे काम (कामेन) कामयतेः—पचाद्यच् । कामयित्रा परमेश्वरेण सह (बृहता) महता (सयोनिः) समानगृहः । एकस्थानीयः (रायः) धनस्य (पोषम्) वृद्धिम् (यजमानाय) विदुषां सत्कर्त्रे (धेहि) देहि ॥

भाषार्थ—(काम) हे काम ! [आशा] (त्वम्) तू (सहसा) बल के साथ (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठा युक्त (असि) है, (आ) और, (सखे) हे मित्र ! (सखीयते) मित्र चाहने वाले के लिये तू (विभुः) समर्थ और (विभावा) तेजस्वी है । (त्वम्) तू (पृतनासु) सङ्ग्रामों में (उग्रः) उग्र और (सासहिः) विजयी है, (सहः) बल और (ओजः) पराक्रम (यजमानाय) यजमान को (धेहि) दान कर ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपनी आशाओं में दृढ़ होते हैं, वे ही संसार में प्रतापी और विजयी होकर कीर्ति पाते हैं ॥ २ ॥

दूराच्चकमानाय प्रतिपाणायाक्षये ।
आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्त्स्वः ॥ ३ ॥

दूरात् । चकमानाय । प्रति-पानाय । अक्षये ॥ आ । अस्मै । अशृण्वन् । आशाः । कामेन । अजनयन् । स्वः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अक्षये) निर्हानि [पूर्णता] के बीच (प्रतिपानाय) सब प्रकार रक्षा के लिये (दूरात्) दूर से [जन्म से पूर्व कर्म के संस्कार के कारण से] (चकमानाय) कामना कर चुकने वाले (अस्मै) इस [पुरुष] को (आशाः) दिशाओं ने (कामेन) काम [आशा] के साथ (स्वः) सुख को (आ अशृण्वन्) अङ्गीकार किया है और (अजनयन्) उत्पन्न किया है ॥ ३ ॥

२—(त्वम्) (काम) हे इच्छे । हे आशे (सहसा) बलेन (असि) (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठायुक्तः (विभुः) समर्थः (विभावा) भातेः—क्वनिप् । विशेषेण दीप्यमानः । तेजस्वी (सखे) हे मित्र (आ) समुच्चये (सखीयते) सखि—क्यच्, शतृ । मित्रमिच्छते पुरुषाय (त्वम्) (उग्रः) प्रचण्डः (पृतनासु) संग्रामेषु (सासहिः) सहेर्यङन्तात्—किप्रत्ययः । विजयी (सहः) बलम् (ओजः) पराक्रमम् (यजमानाय) (धेहि) देहि ॥

३—(दूरात्) पूर्वजन्मफलसंस्कारात् (चकमानाय) कमतेर्लिटः कानच् । कामनां कृतवते पुरुषाय (प्रतिपानाय) सर्वतोरक्षणाय (अक्षये) क्षयराहित्ये । अहानौ । सम्पूर्णत्वे (आ अशृण्वन्) अङ्गीकृतवत्यः (अस्मै) पुरुषाय (आशाः) प्राच्यादयो दिशाः (कामेन) इच्छया (अजनयन्) उदपादयन् (स्वः) सुखम् ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण जन्म से ही अक्षय सुख के लिये दृढ़ आशा और प्रयत्न करता हुआ प्रत्येक स्थान में आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

कामे॑न मा॒ काम॒ आग॒न् हृद॑याद्धृद॑यं॒ परि॑ ।

यद॒मीषा॑म॒दो मन॒स्तदैतू॒प मा॒मिह ॥ ४ ॥

कामे॑न । मा॒ । काम॑: । आ । अ॒ग॒न् । हृद॑यात् । हृद॑यम् । परि॑ ॥ यत् । अ॒मीषा॑म् । अ॒दः । मन॑: । तत् । आ । ए॒तु॒ । उप॑ । माम् । इ॒ह ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(कामेन) काम [कर्म फल इच्छा] के साथ (कामः) काम [आशा] (हृदयात्) [एक] हृदय से (हृदयं परि) [दूसरे] हृदय में होकर (मा) मुझ को (आ अगन्) प्राप्त हुआ है। (अमीषाम्) इन [विद्वानों] का (यत्) जो (अदः) वह (मनः) मनन है, (तत्) वह (माम्) मुझ को (इह) यहां (उप) आदर से (आ एतु) प्राप्त होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से विद्यायें प्राप्त करके दृढ़ आशायें करता हुआ उन्नति करता रहे ॥ ४ ॥

यत्का॑म का॒मय॑माना इ॒दं कृ॒ण्मसि॑ ते ह॒विः ।

तन्न॒: सर्वं॒ समृ॑ध्यता॒मथै॒तस्य॑ ह॒विषो॑ वीहि॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

यत् । का॒म॒ । का॒मय॑मानाः । इ॒दम् । कृ॒ण्मसि॑ । ते॒ । ह॒विः ॥ तत् । न॒: । सर्व॑म् । सम् । ऋ॒ध्य॒ता॒म् । अथ॑ । ए॒तस्य॑ । ह॒विष॑: । वी॒हि॒ । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

४—(कामेन) कर्मफलेच्छया सह (मा) माम् (कामः) अभिलाषः (आ अगन्) गमेर्लुङि च्लेर्लुकि मकारस्य नकारः। आगतवान् (हृदयात्) एकस्य अन्तःकरणात् (हृदयम्) द्वितीयस्य अन्तःकरणम् (परि) प्रति (यत्) (अमीषाम्) विदुषाम् (अदः) तत् (मनः) मननम् (तत्) (आ एतु) प्राप्नोतु (उप) आदरेण (माम्) (इह) अत्र ॥

भाषार्थ—(काम) हे काम ! [आशा] (यत्) जिस [फल] को (कामयमानाः) चाहते हुये हम (ते) तेरी (इदम्) यह (हविः) भक्ति (कृण्मसि) करते हैं। (तत्) वह (सर्वम्) सब (नः) हमारे लिये (सम्) सर्वथा (ऋध्यताम्) सिद्ध होवे, (अथ) इस लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ [वर्तमान] (एतस्य) इस (हविषः) भक्ति की (वीहि) प्राप्ति कर॥५॥

भावार्थ—मनुष्यों को दृढ़ भक्ति के साथ शुभ कामनाओं की सिद्धि के लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५ ॥

सूक्तम् ५३ [काल सूक्तम्] ॥

१—१० ॥ कालो देवता ॥ १,३ निचृत् त्रिष्टुप् ; २ निचृदार्षी त्रिष्टुप्;४ भुरिक् पङ्क्तिः; ५ विराडार्षी बृहती; ६, ९ निचृदनुष्टुप् ; ७, ८, १० अनुष्टुप् ॥

कालमहिमोपदेशः—काल की महिमा का उपदेश ॥

का॒लो अश्वो॑ वहति स॒प्तर॑श्मिः सह॒स्रा॒क्षो अ॒जरो॒ भूरि॑रेताः।
तमा रो॑हन्ति क॒वयो॑ विप॒श्चित॒स्तस्य॑ च॒क्रा भुव॑नानि॒ विश्वा॑१

का॒लः। अश्वः॑। व॒ह॒ति॒। स॒प्त-र॑श्मिः। स॒ह॒स्र-अ॒क्षः। अ॒जरः॑। भूरि॑-रेताः॥ तम्। आ। रो॒ह॒न्ति॒। क॒वयः॑। वि॒पः-चितः॑। तस्य॑। च॒क्रा। भुव॑नानि। विश्वा॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सप्तरश्मिः) सात प्रकार की किरणों वाले सूर्य [के समान प्रकाशमान], (सहस्राक्षः) सहस्रों नेत्र वाला, (अजरः) बूढ़ा न होने वाला, (भूरिरेताः) बड़े बल वाला (कालः) काल [समयरूपी] (अश्वः)

५—(यत्) कर्मफलम् (काम) हे अभिलाष (कामयमानाः) इच्छन्तः (इदम्) क्रियमाणम् (कृण्मसि) कुर्मः (ते) तव (हविः) आत्मदानम्। भक्तिम् (तत्) (नः) अस्मभ्यम् (सर्वम्) (सम्) सम्यक् (ऋध्यताम्) सिध्यतु (अथ) तस्मात् (एतस्य) (हविषः) आत्मदानस्य (वीहि) प्राप्तिं कुरु (स्वाहा) सुवाण्या ॥

१—(कालः) कल संख्याने प्रेरणे च-ण्यन्तात् पचाद्यच्। कालयति संख्याति सर्वान् पदार्थानिति। समयः। परमेश्वरः (अश्वः) अशू व्याप्तौ-क्वन्।

घोड़ा (वहति) चलता रहता है। (तम्) उस पर (कवयः) ज्ञानवान् (विपश्चितः) बुद्धिमान् लोग (आ रोहन्ति) चढ़ते हैं, (तस्य) उस [काल] के (चक्रा) चक्र [चक्र अर्थात् घूमने के स्थान] (विश्वा) सब (भुवनानि) सत्ता वाले हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—महा बलवान् काल सर्वत्रव्यापी और अति शीघ्रगामी, शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र वर्ण किरणों वाले सूर्य के समान प्रकाशमान है, उस काल को बुद्धिमान् लोग सब अवस्थाओं में घोड़े के समान सहायक जान कर अपना कर्तव्य सिद्ध करते हैं ॥ १ ॥

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः॥२॥

सप्त । चक्रान् । वहति । कालः । एषः । सप्त । अस्य । नाभीः । अमृतम् । नु । अक्षः ॥ सः । इमा । विश्वा । भुवनानि । अञ्जत् । कालः । सः । ईयते । प्रथमः । नु । देवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(एषः कालः) यह काल [समय] (सप्त) [तीन काल और चार दिशाओं रूपी] सात (चक्रान्) पहियों को (वहति) चलाता है, (अस्य) इस की (सप्त) [वेही] सात (नाभीः) नाभि [पहिये के मध्य] हैं, और (अक्षः) [इसका] धुरा (नु) निश्चय करके (अमृतम्) अमरपन

अशनो व्यापनः सर्वभूतानां परमेश्वरः। व्यापनो मार्गस्य वा तुरङ्गः (वहति) गच्छति (सप्तरश्मिः) अश्नोतेरश्च । उ० ४ । ४६ । अशू व्याप्तौ—मिप्रत्ययः, धातोरशादेशः । शुक्लनीलपीतादिकिरणयुक्तसूर्यवत् प्रकाशमानः (सहस्राक्षः) बहुलोचनः । अमितदर्शनसामर्थ्यः (अजरः) जरारहितः । नित्ययुवा (भूरिरेताः) प्रभूतवीर्यः (तम्) (आ रोहन्ति) अधितिष्ठन्ति (कवयः) ज्ञानिनः (विपश्चितः) मेधाविनः (तस्य) कालस्य (चक्रा) चक्राणि । भ्रमणस्थानानि (भुवनानि) सत्तायुक्तानि भूतजातानि (विश्वानि) सर्वाणि ॥

२—(सप्त) त्रयः कालाश्चतस्रो दिशश्चेति सप्तसंख्याकान् (चक्रान्) रथाङ्गविशेषान् (वहति) चालयति (कालः) समयः (एषः) सर्वत्रव्यापकः (सप्त) पूर्वोक्ताः (नाभीः) नाभयः । अक्षबन्धकानि मध्यच्छिद्राणि (अमृतम्)

है। (सः) वह (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवनानि) सत्तावालों को (अञ्जत्) प्रकट करता हुआ [है], (सः कालः) वह काल (नु) निश्चयकरके (प्रथमः) पहिला (देवः) देवता [दिव्य पदार्थ] (ईयते) जाना जाता है ॥२॥

भावार्थ—काल व्यापक और नित्य है, काल से ही संसार के सब कार्य सिद्ध होते हैं, मनुष्य काल के यथावत् उपयोग से उन्नति को प्राप्त होवें ॥ २ ॥

पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितुस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः पुरमे व्योमन् ॥३॥

पूर्णः । कुम्भः । अधि । काले । आ-हितः। तम् । वै । पश्यामः बहु-धा । नु । सन्तः ॥ सः । इमा । विश्वा । भुवनानि । प्रत्यङ् । कालम् । तम् । आहुः । परमे । वि-ओमन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(काले अधि) काल [समय] के ऊपर (पूर्णः) भरा हुआ (कुम्भः) घड़ा [सम्पत्तियों का कोश] (आहितः) रक्खा है, (तम्) उस [घड़े] को (वै) निश्चय करके (सन्तः) वर्त्तमान हम (नु) ही (बहुधा) अनेक प्रकार (पश्यामः) देखते हैं। (सः) वह [काल] (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवनानि) सत्ता वालों के (प्रत्यङ्) सामने चलता हुआ है,(तम्) उस

अमरत्वम् । अक्षयम् (नु) निश्चयेन (अवः) रथावयवः (सः) कालः (इमा) व्याकृतानि (विश्वा) सर्वाणि (भुवनानि) भवनवन्ति चराचरात्मकानि जगन्ति (अञ्जत्) अञ्जु व्यक्तौ—शतृ, छान्दसो नुमभावः । अञ्जन् । व्यक्तीकुर्वन् (कालः) (सः) (ईयते) इण् गतौ—कर्मणि यक् । ज्ञायते तत्त्वज्ञैः (प्रथमः) आदिमः (नु) निश्चयेन (देवः) दिव्यपदार्थः ॥

३—(पूर्णः) पूरितः (कुम्भः) घटः । सम्पत्तीनां कोशः (अधि) उपरि (काले) म० १ । समये (आहितः) स्थापितः (तम्) पूर्णं कुम्भम् (वै) निश्चयेन (पश्यामः) अनुभवामः (बहुधा) नानाप्रकारेण (नु) निश्चयेन (सन्तः) वर्त्तमाना वयम् (सः) कालः (इमा) दृश्यमानानि (भुवनानि) भवनवन्ति जगन्ति (प्रत्यङ्) प्रति प्रत्यक्षम् अञ्चन् गच्छन् वर्तते (कालम्)

(कालम्) काल को (परमे) अति ऊंचे (व्योमन्) विविध रक्षा स्थान [ब्रह्म] में [वर्तमान] (आहुः) वे [बुद्धिमान् लोग] बताते हैं ॥३॥

भावार्थ—समय के सुप्रयोग से धर्मात्मा लोग अनेक सम्पत्तियों के साथ सद्गति प्राप्त करते हैं, वह महाप्रबल सब स्थानों में परमात्मा के सामर्थ्य के बीच वर्तमान है, उस की महिमा को बुद्धिमान् जानते हैं ॥३॥

स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत् । पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥ ४ ॥

सः । एव । सम् । भुवनानि । आ । अभरत् । सः । एव । सम् । भुवनानि । परि । ऐत् ॥ पिता । सन् । अभवत् । पुत्रः । एषाम् । तस्मात् । वै । न । अन्यत् । परम् । अस्ति । तेजः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सः एव) उस ने ही (भुवनानि) सत्ताओं को (सम्) अच्छे प्रकार (आ) सब ओर से (अभरत्) पुष्ट किया है, (सः एव) उसने ही (भुवनानि) सत्ताओं को (सम्) अच्छे प्रकार (परि ऐत्) घेर लिया है। वह (एषाम्) इन [सत्ताओं] का (पिता) पिता [पिता समान पहिले] (सन्) होकर (पुत्रः) पुत्र [पुत्र समान पीछे] (अभवत्) हुआ है, (तस्मात्) उस से (परम्) बड़ा (अन्यत्) दूसरा (तेजः) तेज [सृष्टि के बीच] (वै) निश्चय करके (न) नहीं (अस्ति) है ॥ ४ ॥

(तम्) तादृशम् (आहुः) कथयन्ति (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) व्योमनि । विविधं रक्षके परमात्मनि वर्तमानम् ॥

४—(सः) कालः (एव) निश्चयेन (सम्) सम्यक् (भुवनानि) सत्तावन्ति जगन्ति (आ) समन्तात् (अभरत्) भृञ् भरणे भौवादिकः—लङ् । पोषितवान् (सः) (एव) (सम्) (भुवनानि) (परि ऐत्) इण गतौ—लङ् । आच्छादितवान् (पिता) पितृवत् पूर्वभावी (सन्) वर्तमानः (अभवत्) (पुत्रः) पुत्र इव पितुः पश्चाद् भावी (एषाम्) भुवनानाम् (तस्मात्) कालात् (वै) (न) निषेधे (अन्यत्) इतरत् (परम्) उत्कृष्टम् (अस्ति) भवति (तेजः) ज्योतिः ॥

भावार्थ—काल सब सत्ताओं में व्यापक है, काल ही सृष्टि का पिता और पुत्र है, अर्थात् पहिली, वर्तमान और आगामी सृष्टि काल से ही है, अर्थात् नित्य होने से वही पहिले और वही पीछे है, इसी से वह संसार में बड़ा प्रतापी है ॥ ४ ॥

कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥ ५ ॥

कालः । अमूम् । दिवम् । अजनयत् । कालः । इमाः । पृथिवीः । उत ॥ काले । ह । भूतम् । भव्यम् । च । इषितम् । ह । वि । तिष्ठते ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(कालः) काल [समय] ने (अमूम्) उस (दिवम्) आकाश को (उत) और (कालः) काल ने (इमाः) इन (पृथिवीः) पृथिवियों को (अजनयत्) उत्पन्न किया है । (काले) काल में (ह) ही (भूतम्) बीता हुआ (च) और (भव्यम्) होने वाला (इषितम्) प्रेरा हुआ (ह) ही (वि) विशेष करके (तिष्ठते) ठहरता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—काल को पाकर ही यह दीखता हुआ आकाश और पृथिवी आदि लोक उत्पन्न हुये हैं और परमेश्वर के नियम से भूत और भविष्यत् भी काल के भीतर हैं ॥ ५ ॥

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः ।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति ॥ ६ ॥

कालः । भूतिम् । असृजत । काले । तपति । सूर्यः ॥ काले । ह । विश्वा । भूतानि । काले । चक्षुः । वि । पश्यति ॥ ६ ॥

५—(कालः) म० १ । समयः (अमूम्) दृश्यमानाम् (दिवम्) आकाशम् (अजनयत्) उदपादयत् (कालः) (इमाः) दृश्यमानाः (पृथिवीः) पृथिव्यादिलोकान् (उत) अपि च (काले) (ह) एव (भूतम्) अतीतम् (भव्यम्) भविष्यत् (च) (इषितम्) प्रेरितम् (ह) (वि) विशेषेण (तिष्ठते) वर्तते ॥

भाषार्थ—(कालः) काल [समय] ने (भूतिम्) ऐश्वर्य को (असृजत) उत्पन्न किया है, (काले) काल में (सूर्यः) सूर्य (तपति) तपता है। (काले) काल में (ह) ही (विश्वा) सब (भूतानि) सत्तायें हैं, (काले) काल में (चक्षुः) आंख (वि) विविध प्रकार (पश्यति) देखती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—काल ही पाकर सब ऐश्वर्य, प्रकाश और पदार्थ उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ ७ ॥

काले । मनः । काले । प्राणः । काले । नाम । सम्-आहितम् ।
कालेन । सर्वाः । नन्दन्ति । आ-गतेन । प्र-जाः । इमाः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(काले) काल में (मनः) मन, (काले) काल में (प्राणः) प्राण, (काले) काल में (नाम) नाम (समाहितम्) संग्रह किया गया है। (आगतेन) आये हुये (कालेन) काल के साथ (इमाः) यह (सर्वाः) सब (प्रजाः) प्रजायें (नन्दन्ति) आनन्द पाती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—काल के उत्तम उपयोग से मन और प्राण अर्थात् सब इन्द्रियों का स्वास्थ्य और यश बढ़ता है, तब ही सब प्राणी सुख पाते हैं ॥ ७ ॥

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् ।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥ ८ ॥

६—(कालः) (भूतिम्) ऐश्वर्यम् । सत्ताम् (असृजत) अजनयत (काले) (तपति) प्रकाशते (सूर्यः) प्रेरक आदित्यः (काले) (ह) (विश्वा) (भूतानि) सत्तायुक्तानि जगन्ति (काले) (चक्षुः) नेत्रम् (वि) विविधम् (पश्यति) अवलोकयति ॥

७—(काले) (मनः) अन्तःकरणम् (काले) (प्राणः) श्वासः (काले) (नाम) नामधेयम् । यशः (समाहितम्) संगृहीतं वर्तते (कालेन) (सर्वाः) समस्ताः (नन्दति) संतुष्यन्ति (आगतेन) प्राप्तेन (प्रजाः) विविधसृष्टिपदार्थाः (इमाः) दृश्यमानाः ॥

काले । तपः । काले । ज्येष्ठम् । काले । ब्रह्म । सम्-आहितम् ॥ कालः । ह । सर्वस्य । ईश्वरः । यः । पिता । आसीत् । प्रजा-पतेः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(काले) काल [समय] में (तपः) तप [ब्रह्मचर्यादि], (काले) काल में (ज्येष्ठम्) श्रेष्ठ कर्म, (काले) काल में (ब्रह्म) वेदज्ञान (समाहितम्) संग्रह किया गया है । (कालः) काल (ह) ही (सर्वस्य) सब का (ईश्वरः) स्वामी है, (यः) जो [काल] (प्रजापतेः) प्रजापति [प्रजापालक मनुष्य] का (पिता) पिता [के समान पालक] (आसीत्) हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ—काल के ही उत्तम उपयोग से मनुष्य ब्रह्मचर्य के साथ श्रेष्ठ कर्म और वेदाध्ययन आदि करते और प्रजापालक होते हैं ॥ ८ ॥

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥ ९ ॥

तेन । इषितम् । तेन । जातम् । तत् । ऊं इति । तस्मिन् । प्रति-स्थितम् ॥ कालः । ह । ब्रह्म । भूत्वा । बिभर्ति । परमे-स्थिनम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(तेन) उस [काल] करके (इषितम्) प्रेरा गया (तेन) उस करके (जातम्) उत्पन्न किया गया (तत्) यह [जगत्] (तस्मिन्) उस [काल] में (उ) ही (प्रतिष्ठितम्) दृढ़ ठहरा है । (कालः) काल (ह)

८—(काले) (तपः) ब्रह्मचर्यादितपश्चरणम् (काले) (ज्येष्ठम्) श्रेष्ठं कर्म (काले) (ब्रह्म) वेदज्ञानम् (समाहितम्) स्थापितम् (कालः) (ह) एव (सर्वस्य) जगतः (ईश्वरः) स्वामी (यः) कालः (पिता) पितृवत् पालकः (आसीत्) अभवत् (प्रजापतेः) प्रजापालकपुरुषस्य ॥

९—(तेन) कालेन (इषितम्) प्रेरितम् (तेन) (जातम्) उत्पादितम् (तत्) दृश्यमानं जगत् (उ) अवधारणे (तस्मिन्) काले (प्रतिष्ठितम्) दृढं

ही (ब्रह्म) बढ़ता हुआ अन्न (भूत्वा) होकर (परमेष्ठिनम्) सब से ऊंचे ठहरे हुये [मनुष्य] को (बिभर्ति) पालता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—यह जगत् काल के उत्तम उपयोग से उत्पन्न होकर ठहरा हुआ है और उसके ही उत्तम उपयोग से अन्न आदि पाकर मनुष्य उच्च पद पाते हैं ॥ ९ ॥

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयं भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥ १० ॥

कालः । प्र-जाः । असृजत । कालः । अग्रे । प्रजा-पतिम् ॥
स्वयम्-भूः। कश्यपः। कालात् । तपः। कालात् । अजायत ।१०

भाषार्थ—(अग्रे) पहिले (कालः) काल ने (प्रजाः) प्रजाओं को, और (कालः) काल ने (प्रजापतिम्) प्रजापति [प्रजापालक मनुष्य] को (असृजत) उत्पन्न किया है । (कालात्) काल से (स्वयम्भूः) स्वयम्भू [अपने आप उत्पन्न होने वाला] (कश्यपः) कश्यप [द्रष्टा परमेश्वर] और (कालात्) काल से (तपः) तप [ब्रह्मचर्य आदि नियम] (अजायत) प्रकट हुआ है ॥१०॥

भावार्थ—प्रलय के पीछे सृष्टि की आदि में काल के प्रभाव से सब प्रजायें और प्रजापालक राजा आदि उत्पन्न होते हैं, और तभी अजन्मा परमात्मा अपने गुणों और अद्भुत रचनाओं और नियमों के कारण प्रसिद्ध होता है ॥ १० ॥

सूक्तम् ५४ [कालसूक्तम्] ॥

१—५ ॥ कालो देवता ॥ १ निचृदनुष्टुप्; २ गायत्री ; ३, ४ अनुष्टुप्; ५ अतिशक्वरी ॥

स्थितम् (कालः) (ह) एव (ब्रह्म) प्रवृद्धमन्नम् (बिभर्ति) पालयति (परमेष्ठिनम्) सर्वोत्कृष्टे पदे स्थितं पुरुषम् ॥

१०—(कालः) (प्रजाः) जायमानान् जीवान् (असृजत) उदपादयत् (कालः) (अग्रे) सृष्ट्यादौ (प्रजापतिम्) प्रजापालकं मनुष्यम् (स्वयम्भूः) स्वयमुत्पन्नः परमेश्वरः (कश्यपः) पश्यकः । द्रष्टा (कालात्) (तपः) ब्रह्मचर्यादिव्रतम् (कालात्) (अजायत) प्रकटोऽभवत् ॥

कालमहिमोपदेशः—काल की महिमा का उपदेश ॥

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः ।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥ १ ॥

कालात् । आपः । सम् । अभवन् । कालात् । ब्रह्म । तपः । दिशः ॥ कालेन । उत् । एति । सूर्यः । काले । नि । विशते । पुनः ॥ १

भाषार्थ—(कालात्) काल [गिनती करने वाले समय] से (आपः) प्रजायें, (कालात्) काल से (ब्रह्म) वेदज्ञान, (तपः) तप [ब्रह्मचर्यादि नियम] और (दिशः) दिशायें (सम् अभवन्) उत्पन्न हुयी हैं । (कालेन) काल के साथ (सूर्यः) सूर्य (उत् एति) निकलता है, (काले) काल में (पुनः) फिर (नि विशते) डूब जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—समय के प्रभाव से प्रलय के पीछे परमात्मा सब पदार्थों और नियमों को उत्पन्न करता और प्रलय समय में लय कर देता है, जैसे सूर्य पृथिवी के सन्मुख होने से दिखाई देता और पृथिवी की आड़ में होने से अदृश्य हो जाता है ॥ १ ॥

कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही ।
द्यौर्मही काल आहिता ॥ २ ॥

कालेन । वातः । पवते । कालेन । पृथिवी । मही ॥
द्यौः । मही । काले । आ-हिता ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कालेन) काल [समय] के साथ (वातः) पवन (पवते) शुद्ध करता है, (कालेन) काल के साथ (पृथिवी) पृथिवी (मही) बड़ी है ।

१—(कालात्) सू० ५३ । म० १ । संख्याकारकात् समयात् (आपः) आप्ताः प्रजाः (सम् अभवन्) अजायन्त (कालात्) (ब्रह्म) वेदज्ञानम् (तपः) ब्रह्मचर्यादिव्रतम् (दिशः) प्राच्याद्याः (कालेन) (उदेति) उदयं गच्छति (सूर्यः) गमनशील आदित्यः (काले) (नि) नीचैः (विशते) प्रविश्यते । विलीयते (पुनः) सायङ्काले ॥

२—(कालेन) (वातः) वायुः (पवते) पुनाति । शोधयति (कालेन)

(काले) काल में (मही) बड़ा (द्यौः) आकाश (आहिता) रक्खा है ॥ २ ॥

भावार्थ—समय के कारण वायु, पृथिवी, आकाश आदि के परमाणु संयोग पाकर साकार होकर संसार का उपकार करते हैं ॥ २ ॥

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा ।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥ ३ ॥

कालः । ह । भूतम् । भव्यम् । च । पुत्रः । अजनयत् । पुरा ॥
कालात् । ऋचः । सम् । अभवन् । यजुः । कालात् । अजायत ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(कालः) कालरूपी (पुत्रः) पुत्र ने (ह) ही (भूतम्) बीता हुआ (च) और (भव्यम्) होने वाला (पुरा) पहिले (अजनयत्) उत्पन्न किया है। (कालात्) काल से (ऋचः) ऋचायें [गुण प्रकाशक विद्यायें] (सम् अभवन्) उत्पन्न हुयी हैं, (कालात्) काल से (यजुः) यजुर्वेद [सत्कर्मों का ज्ञान] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥ ३ ॥

भावार्थ—नित्य वर्तमान काल पिता के समान पहिले और पुत्र के समान पीछे भी विद्यमान रहता है—[देखो गत सूक्त मन्त्र ४]। काल के ही प्रभाव से सब आगे पीछे की सृष्टि और वेदों का प्रादुर्भाव होता है ॥ ३ ॥

कालो यज्ञं समैरयद् देवेभ्यो भागमक्षितम् ।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ४ ॥

कालः । यज्ञम् । सम् । ऐरयत् । देवेभ्यः । भागम् । अक्षितम् ॥ काले । गन्धर्व-अप्सरसः । काले । लोकाः । प्रतिस्थिताः ॥ ४ ॥

(पृथिवी) (मही) महती वर्तते (द्यौः) आकाशः (मही) महती (काले) (आहिता) स्थापिता ॥

३—(कालः) (ह) एव (भूतम्) अतीतम् (भव्यम्) भविष्यत् (च) पुत्रः । पुत्र इव पश्चाद् वर्तमानः (अजनयत्) उत्पादितवान् (पुरा) पूर्वम् (कालात्) (ऋचः) ऋग्वेदमन्त्राः । गुणप्रकाशिका विद्याः (सम् अभवन्) अजायन्त (यजुः) यजुर्वेदः सत्कर्मणां ज्ञानम् (कालात्) (अजायत) ॥

भाषार्थ—(कालः) काल ने (यज्ञम्) यज्ञ [सत्कर्म] को (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (अक्षितम्) अक्षय (भागम्) भाग (सम्) पूरा पूरा (ऐरयत्) भेजा है। (काले) काल में (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व [पृथिवी पर धरे हुये पदार्थ] और अप्सरायें [आकाश में चलने वाले पदार्थ], और (काले) काल में (लोकाः) सब लोक (प्रतिष्ठिताः) रक्खे हुये हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—समय के उपयोग से विद्वान् लोग सत्कर्म करके सद्गति पाते हैं और काल में ही संसार के सब पदार्थ ठहरे हैं ॥ ४ ॥

कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधि तिष्ठतः। इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः। सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ॥ ५ ॥

काले। अयम्। अङ्गिराः। देवः। अथर्वा। च। अधि। तिष्ठतः ॥ इमम्। च। लोकम्। परमम्। च। लोकम्। पुण्यान्। च। लोकान्। वि-धृतीः। च। पुण्याः ॥ सर्वान्। लोकान्। अभि-जित्य। ब्रह्मणा। कालः। सः। ईयते। परमः। नु। देवः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(काले) काल [समय] में (अयम्) यह (अङ्गिराः) अङ्गिरा [ज्ञानवान्] (देवः) व्यवहार कुशल मनुष्य (च) और (अथर्वा) अथर्वा [निश्चल स्वभाव ऋषि] (अधि) अधिकार पूर्वक (तिष्ठतः) दोनों स्थित हैं।

४—(कालः) (यज्ञम्) सद्व्यवहारम् (सम्) सम्यक् (ऐरयत्) प्रेरितवान् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (भागम्) अंशम् (अक्षितम्) अक्षीणम् (काले) (गन्धर्वाप्सरसः) अ० १४। ३६। ६। गवि पृथिव्यां धृताः पदार्थाः, अप्सु आकाशे सरणशीलाश्च पदार्थाः (काले) (लोकाः) सूर्यादयः (प्रतिष्ठिताः) दृढं स्थिताः ॥

५—(काले) (अयम्) (अङ्गिराः) अ० २। १२। ४। अगि गतौ—असि, इरुडागमः। ज्ञानवान् पुरुषः (देवः) व्यवहारकुशलः (अथर्वा) अ० ४। १। ७। अ+थर्व चरणे गतौ—वनिप्, वकारलोपः। निश्चलस्वभाव ऋषिः (च)

(इमम्) इस (लोकम्) लोक को (च) और (परमम्) सब से ऊंचे (लोकम्) लोक को (च) और (पुण्यान्) पुण्य (लोकान्) लोकों को (च) और (पुण्याः) पुण्य (विधृतीः) विविध धारण शक्तियों को; [अर्थात्] (सर्वान्) सब (लोकान्) लोकों को (अभिजित्य) सर्वथा जीत कर, (ब्रह्मणा) ब्रह्म [परमेश्वर] के साथ, (सः) वह (परमः) सब से बड़ा (देवः) दिव्य (कालः) काल (नु) शीघ्र (ईयते) चलता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—काल के सादर निरन्तर सेवन से मनुष्य ज्ञानी ऋषि होकर और सब व्यवहारों और समाजों में प्रतिष्ठा पाकर परम-गति प्राप्त कर आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५५ ॥

१—६ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ त्रिष्टुप्; २ निचृदार्षी पङ्क्तिः; ३, ४ निचृत् त्रिष्टुप्; ५ विराडार्षी पङ्क्तिः; ६ आर्षी बृहती ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ धर्म का उपदेश ॥

रात्रिंरात्रिमप्रयातं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै । रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ १ ॥

रात्रिम्-रात्रिम् । अप्र-यातम् । भरन्तः । अश्वाय-इव । तिष्ठते । घासम् । अस्मै ॥ रायः । पोषेण । सम् । इषा । मदन्तः । मा । ते । अग्ने । प्रति-वेशाः । रिषाम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रात्रिंरात्रिम्) रात्रि रात्रि को (अस्मै) इस [गृहस्थ] के लिये (अप्रयातम्) पीड़ा न देने वाले (घासम्) भोजन योग्य पदार्थ को,

---

(अधि) अधिकृत्य (तिष्ठतः) वर्तते (इमम्) (च) (लोकम्) दृश्यमानं स्थानम् (परमम्) उत्कृष्टम् (च) (पुण्यान्) शुद्धान् । शुभान् (च) (लोकान्) (विधृतीः) विविधधारिकाः शक्तीः (सर्वान्) (लोकान्) (अभिजित्य) अभिभूय (ब्रह्मणा) परमात्मना सह (कालः) (सः) प्रसिद्धः (ईयते) ईङ् गतौ—लट् । गच्छति (परमः) उत्कृष्टः (नु) शीघ्रम्) (देवः) दिव्यः ॥

१—(रात्रिंरात्रिम्) प्रतिरात्रिम् (अप्रयातम्) यत ताडने णिजन्तात्—क्विप् । अताडकम् । सुखप्रदम् (भरन्तः) धरन्तः । पोषयन्तः (अश्वाय)

(तिष्ठते) थान पर ठहरे हुये (अश्वाय) घोड़े के लिये (इव) जैसे [घास आदि को], (भरन्तः) धरते हुये, (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से और (इषा) अन्न से (सम्) अच्छे प्रकार (मदन्तः) आनन्द करते हुये, (ते) तेरे (प्रतिवेशाः) सन्मुख रहने वाले हम, (अग्ने) हे अग्नि ! [तेजस्वी विद्वान्] (मा रिषाम) न दुखी होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग, जैसे रात्रि में थके घोड़े को घास अन्न आदि देकर प्रसन्न करते हैं, वैसे ही मुख्य परिश्रमी पुरुष को आदर करके सुखी रक्खें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—११।७५ और ऊपर आ चुका है—अ० ३।१५।८॥

या ते वसोर्वात इषुः सा त एषा तया नो मृड ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥२

या । ते । वसोः । वातः । इषुः । सा । ते । एषा । तया । नः । मृड ॥ रायः । पोषेण । सम् । इषा । मदन्तः । मा । ते । अग्ने । प्रति-वेशाः । रिषाम ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वन् !] (ते वातः) तुझ चलते फिरते की [हमारे लिये] (वसोः) उत्तम पदार्थ की (या) जो (इषुः) इच्छा है, (सा) सो (एषा) वह (ते) तेरी [ही] है, (तया) उस [इच्छा] से (नः) हमें (मृड) सुखी कर । (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से और (इषा) अन्न से (सम्) अच्छे प्रकार (मदन्तः) आनन्द करते हुये, (ते) तेरे (प्रतिवेशाः)

घोटकाय (इव) यथा (तिष्ठते) स्वस्थाने वर्तमानाय (घासम्) भक्षणीयं पदार्थम् (रायः) धनस्य (पोषेण) वर्धनेन (सम्) सम्यक् (इषा) अन्नेन (मदन्तः) हृष्यन्तः (ते) तव (अग्ने) हे तेजस्विन् विद्वन् (प्रतिवेशाः) प्रत्यक्षवर्तमानाः (मा रिषाम) कर्मणि कर्तृप्रयोगः । हिंसिता मा भूम ॥

२—(या) इच्छा (ते) तव (वसोः) श्रेष्ठपदार्थस्य (वातः) वा गतिगन्धनयोः—शतृ । गच्छतः पुरुषस्य (इषुः) इच्छा (सा) तादृशी (ते) तव

सन्मुख रहने वाले हम, (अग्ने) हे अग्नि ! [तेजस्वी विद्वान्] (मा रिषाम) न दुखी होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दूसरों की उन्नति का प्रयत्न करता है, वह अपनी ही उन्नति करता है, इस से प्रत्येक मनुष्य पुरुषार्थ करके सब को सुख पहुंचावे ॥ २ ॥

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ ३ ॥

सायम्-सायम् । गृह-पतिः । नः । अग्निः । प्रातः-प्रातः । सौमनसस्य । दाता ॥ वसोः-वसोः । वसु-दानः । एधि । वयम् । त्वा । इन्धानाः । तन्वम् । पुषेम ॥ ३ ॥

प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ॥ ४ ॥

प्रातः-प्रातः । गृह-पतिः । नः । अग्निः । सायम्-सायम् । सौमनसस्य । दाता ॥ वसोः-वसोः । वसु-दानः । एधि । इन्धानाः । त्वा । शतम्-हिमाः । ऋधेम ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सायंसायम्) सायं सायङ्काल में (नः) हमारे (गृहपतिः) घरों का रक्षक, और (प्रातःप्रातः) प्रातः प्रातःकाल में (सौमनसस्य) सुख का (दाता) देने वाला (अग्निः) अग्नि [ज्ञानवान् परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष वा भौतिक अग्नि] तू (वसोर्वसोः) उत्तम उत्तम प्रकार के (वसुदानः)

(एषा) इच्छा वर्तते (तया) इच्छया (नः) अस्मान् (मृड) सुखय । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

३—(सायंसायम्) प्रतिसायङ्कालम् (गृहपतिः) गृहाणां रक्षकः (नः) अस्माकम् (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वरः पुरुषो वा भौतिकाग्निर्वा त्वम् (प्रातः-प्रातः) सर्वदा प्रातःकाले (सौमनसस्य) आनन्दस्य (दाता) वसोर्वसोः उत्तमोत्तमप्रकारस्य (वसुदानः) धनस्य दाता (एधि) भव (वयम्) (त्वा) त्वाम्

धन का देने वाला (एधि) हो, (त्वा) तुझ को (इन्धानाः) प्रकाशित करते हुये (वयम्) हम लोग (तन्वम्) शरीर को (पुषेम) पुष्ट करें ॥ ३ ॥

(प्रातःप्रातः) प्रातः प्रातःकाल में (नः) हमारे (गृहपतिः) घरों का रक्षक, और (सायंसायम्) सायं सायंकाल में (सौमनसस्य) सुख का (दाता) देने वाला (अग्निः) अग्नि [ज्ञानवान् परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष वा भौतिक अग्नि] तू (वसोर्वसोः) उत्तम उत्तम प्रकार के (वसुदानः) धन का देने वाला (एधि) हो, (त्वा) तुझको (इन्धानाः) प्रकाशित करते हुये (शतंहिमाः) सौ शीतल ऋतुओं वाले हम लोग (ऋधेम) बढ़ते रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमेश्वर की उपासना, विद्वानों के सत्संग और अग्निहोत्र के अनुष्ठान से स्वास्थ्य बढ़ाकर धन वृद्धि करनी चाहिये ॥ ३,४ ॥

मन्त्र ३, ४ महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पञ्च महायज्ञ विषय में व्याख्यात हैं। मन्त्र ३ का चौथा पाद आचुका है—अ० ५। ३। १ ॥

अपंश्चा दुग्धान्नस्य भूयासम् । अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमौ अग्नये । सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥ ५ ॥

अपंश्चा । दुग्ध-अंन्नस्य । भूयासम् ॥ अन्न-अदाय । अन्नं-पतये । रुद्राय । नमः । अग्नये ॥ सभ्यः । सभाम् । मे । पाहि । ये । च । सभ्याः । सभा-सदः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—मैं (दग्धान्नस्य) जले हुये अन्न के (अपश्चा) न पीछे [जाने वाला] (भूयासम्) होऊं । (अन्नादाय) अन्न खिलाने वाले, (अन्नपतये) अन्न के स्वामी (रुद्राय) ज्ञानदाता, (अग्नये) ज्ञानी [पुरुष] के लिये (नमः) नम-

---

(इन्धानाः) प्रकाशयन्तः (तन्वम्) शरीरम् (पुषेम) पोषयेम । पुष्टं कुर्याम ॥

४—अस्यार्थः पूर्ववद् विज्ञेयः । विशेषस्तु व्याख्यायते (शतंहिमाः) शतं हिमानि शतं हेमन्तर्तवो येषां ते तथाभूताः (ऋधेम) ऋधु वृद्धौ । वर्धेमहि ॥

५—(अपश्चा) पश्च पश्चा चच्छन्दसि । पा० ५। ३। ३३ । इति पश्चा-शब्दः, नञ्समासः । अपश्चात् । न पश्चाद्गामी इत्यर्थः (दग्धान्नस्य) दग्धस्य भस्मीभूतस्य निःसारस्य भोजनस्य (भूयासम्) (अन्नादाय) अन्नस्य भोजयित्रे (अन्नपतये) अन्नस्य स्वामिने (रुद्राय) ज्ञानप्रदाय (नमः) सत्कारः (अग्नये)

स्कार है। (सभ्यः) सभा के योग्य तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा [सभा की व्यवस्था] की (पाहि) रक्षा कर, (च) और [वे भी रक्षा करें] (ये) जो (सभ्याः) सभा के योग्य (सभासदः) सभासद हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे जले हुये अन्न को निःसार समझ कर छोड़ देते हैं, वैसे ही मनुष्य व्यर्थ निष्फल कामों में प्रयत्न न करें। अन्न आदि आवश्यक पदार्थों का संग्रह रक्खें, और राजप्रबन्ध से सभा व्यवस्था अर्थात् पंचायत बनाकर योग्य सभासदों को धर्म पथ में लगाये रहें ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम भाग कुछ भेद से व्याख्यात है—महर्षि दयानन्द कृत संस्कार विधि गृहाश्रम प्रकरण, सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ६ राजधर्म, और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका राजप्रजाधर्म ॥

त्वमि॑न्द्रा पुरुहूत॒ विश्व॒माय्ु॒र्व्य॑श्नवत् ।
अह॑रहर्ब॒लिमित्ते॒ हर॒न्तोऽश्वा॑येव॒ तिष्ठ॑ते घा॒सम॑ग्ने ॥६॥

त्वम् । इ॒न्द्र॒ । पु॒रु॒ऽहू॒त॒ । विश्व॑म् । आयुः॑ । वि । अ॒श्न॒व॒त् ॥
अहः॑ऽअहः । ब॒लिम् । इत् । ते॒ । हर॑न्तः । अश्वा॑यऽइव । तिष्ठ॑ते । घा॒सम् । अ॒ग्ने॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुतों से बुलाये गये (इन्द्र) परम ऐश्वर्य वाले राजन् ! (त्वम्) तू (विश्वम्) पूर्ण (आयुः) जीवन को (वि) विविध प्रकार (अश्नवत्) प्राप्त हो। (अग्ने) हे ज्ञानी राजन् ! (ते) तेरे लिये (इत्) ही (अहरहः) दिन दिन (बलिम्) बलि [कर] (हरन्तः) लाते हुये [हम हैं],

---

विदुषे पुरुषाय (सभ्यः) सभायोग्यस्त्वम् (सभाम्) सभाव्यवस्थाम् (मे) मम (पाहि) रक्ष (ये) (च) तेऽपि सभां पान्तु (सभ्याः) सभार्हाः (सभासदः) सभायां सदनशीलाः। सामाजिकाः ॥

६—(त्वम्) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (पुरुहूत) हे बहुभिराहूत (विश्वम्) पूर्णम् (आयुः) जीवनम् (वि) विविधम् (अश्नवत्) अश्नोतेर्लेटि अडागमः। तिङां तिङो भवन्ति। वा० पा० ७। १। ३६। मध्यमपुरुषस्य प्रथमः। अश्नवः। अश्नुहि। प्राप्नुहि (अहरहः) प्रतिदिनम् (बलिम्) करम् (इत्) एव (ते) तुभ्यम् (हरन्तः) प्रापयन्तो वयम् (अश्वाय) (इव) यथा

हैं], (इव) जैसे (तिष्ठते) थान पर ठहरे हुये (अश्वाय) घोड़े को (घासम्) घास [लाते हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य धन आदि से प्रधान पुरुष का सत्कार करते रहें, जिस से वह पूर्ण आयु प्राप्त करके सब की रक्षा में तत्पर रहे ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका बलिवैश्वदेव विषय में व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ५६ [स्वप्नसूक्तम्] ॥

१—६ ॥ स्वप्नो देवता ॥ १, २, ६ त्रिष्टुप्; ३, ४ निचृत् त्रिष्टुप्; ५ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

निद्रात्यागोपदेशः—निद्रा त्याग का उपदेश ॥

य॒मस्य॑ लो॒काद॒ध्या ब॑भूविथ॒ प्रम॑दा॒ मर्त्या॒न् प्र यु॑नक्षि॒ धीरः॑।
ए॒का॒कि॒ना॒ स॒रथं॑ यासि वि॒द्वान्त्स्वप्नं॒ मिमा॑नो॒ असु॑रस्य॒ योनौ॑॥१॥

य॒मस्य॑ । लो॒कात् । अधि॑ । आ । ब॒भू॒वि॒थ॒ । प्र-म॑दा । मर्त्या॑न् । प्र । यु॒न॒क्षि॒ । धीरः॑ ॥ ए॒का॒किना॑ । स॒-रथ॑म् । या॒सि॒ । वि॒द्वान् । स्वप्न॑म् । मिमा॑नः । असु॑रस्य । योनौ॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे स्वप्न !] (यमस्य) यम [मृत्यु] के (लोकात्) लोक से (अधि) अधिकार पूर्वक (आ बभूविथ) तू आया है, (धीरः) धीर [धैर्यवाले] तू (प्रमदा) आनन्द के साथ (मर्त्यान्) मनुष्यों को (प्र युनक्षि) काम में लाता है। (असुरस्य) प्राण वाले [जीव] के (योनौ) घर में (स्वप्नम्) निद्रा (मिमानः) करता हुआ (विद्वान्) जानकार तू (एकाकिना) एकाकी

(तिष्ठते) स्वस्थाने वर्तमानाय (घासम्) भक्षणीयं पदार्थम् (अग्ने) हे विद्वन् राजन् ॥

१—(यमस्य) मृत्योः (लोकात्) स्थानात् (अधि) अधिकृत्य (आ बभूविथ) प्राप्तोऽसि (प्रमदा) प्रकृष्टसुखेन (मर्त्यान्) मनुष्यान् (प्र युनक्षि) प्रयुक्तान् करोषि (धीरः) धैर्यवांस्त्वम् (एकाकिना) एकादाकिनिच्चासहाये । पा० ५ । ३ । ५२ । एक—आकिनिच् । असहायेन मृत्युना (सरथम्) समाने रथे भूत्वा (यासि) गच्छसि (विद्वान्) जानन् (स्वप्नम्) निद्राम् (मिमानः)

[मृत्यु] के साथ (सरथम्) एक रथ में होकर (यासि) चलता है ॥ १ ॥

भावार्थ—स्वप्न वा आलस्य के कारण अवसर चूककर मनुष्य कष्टों में पड़कर मृत्यु पाते हैं ॥ १ ॥

इस सूक्त का अर्थ अधिक विचारो और मिलान करो—अ० का० ६ । सू० ४६ तथा का० १६ । सू० ५ ॥

बुन्धस्त्वाग्ने विश्वचया अपश्यत् पुरा रात्र्या जनितोरेके अह्नि । ततः स्वप्नेदमध्या बभूविथ भिषग्भ्यो रूपमपगूहमानः ॥ २ ॥

बुन्धः । त्वा । अग्रे । विश्व-चयाः । अपश्यत् । पुरा । रात्र्याः । जनितोः । एके । अह्नि ॥ ततः । स्वप्न । इदम् । अधि । आ । बभूविथ । भिषक्-भ्यः । रूपम् । अप-गूहमानः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे स्वप्न !] (विश्वचयाः) संसार के संचय करने वाले (बन्धः) प्रबन्ध कर्ता [परमेश्वर] ने (त्वा) तुझे (अग्रे) पहिले ही [पूर्व जन्म में] (रात्र्याः) रात्रि [प्रलय] के (जनितोः) जन्म से (पुरा) पहिले (एके अह्नि) एक दिन [एक समय] में (अपश्यत्) देखा है । (ततः) इसी से (स्वप्न) हे स्वप्न ! (भिषग्भ्यः) वैद्यों से (रूपम्) [अपना] रूप (अपगूहमानः) छिपाता हुआ तू (इदम्) इस [जगत्] में (अधि) अधिकार पूर्वक (आ बभूविथ) व्यापा है ॥ २ ॥

निर्मिमाणः कुर्वन् (असुरस्य) प्राणवतो जीवस्य (योनौ) गृहे ॥

२—(बन्धः) प्रबन्धकः परमेश्वरः (त्वा) (अग्रे) पूर्वकाले (विश्वचयाः) चिञ् चयने—असुन् । संसारस्य चेता । स्रष्टा (अपश्यत्) दृष्टवान् (पुरा) पूर्वम् (रात्र्याः) प्रलयरूपरात्रिकालस्य (जनितोः) जनी प्रादुर्भावे—तोसुन् । जन्मतः सकाशात् (एके) एकस्मिन् (अह्नि) दिने । समये (ततः) तस्मात् कारणात् (स्वप्न) (इदम्) दृश्यमानं जगत् (अधि) अधिकृत्य (आ बभूविथ) भू प्राप्तौ—लिट् । व्याप्तवानसि (भिषग्भ्यः) चिकित्सकेभ्यः सकाशात् (रूपम्) स्वभावम् (अपगूहमानः) आच्छादयन् ॥

भावार्थ—यह स्वप्न वा आलस्य आदि दोष पहिले जन्म के कर्म फलों के संस्कार से हैं और ईश्वर नियम से आत्मा में ऐसा गुप्त है कि विद्वान् लोग उसकी ठीक ठीक व्यवस्था नहीं जानते। मनुष्य ऐसा विचार कर उत्तम कामों को सदा शीघ्र करें ॥ २ ॥

बृहद्गावासुरेभ्योऽधि देवानुपावर्तत महिमानमिच्छन्। तस्मै स्वप्नाय दधुराधिपत्यं त्रयस्त्रिंशासः स्वरानशानाः ॥ ३ ॥

बृहत्-गावा। असुरेभ्यः। अधि। देवान्। उप। अवर्तत। महिमानम्। इच्छन् ॥ तस्मै। स्वप्नाय। दधुः। आधि-पत्यम्। त्रयः-त्रिंशासः। स्वः। आनशानाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[जो स्वप्न] (बृहद्गावा) बड़ी गति वाला, (महिमानम्) [अपनी] महिमा (इच्छन्) चाहता हुआ, (असुरेभ्यः अधि) असुरों [अविद्वानों] के पास से (देवान्) विद्वानों के (उप अवर्तत) पास वर्तमान हुआ है। (तस्मै स्वप्नाय) उस स्वप्न को (स्वः) सुख (आनशानाः) पा चुकने वाले (त्रयस्त्रिंशासः) तेतीस संख्या वाले [देवताओं] ने (आधिपत्यम्) अधिपतिपन (दधुः) दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—तेतीस देवता, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य वा महीने, एक इन्द्र वा बिजुली, और एक प्रजापति वा यज्ञ हैं [देखो-अथर्व० ९। १३४। १]। भावार्थ विचारना चाहिये ॥ ३ ॥

नैतां विदुः पितरो नोत देवा येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम्। त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः ॥ ४ ॥

३—(बृहद्गावा) आतोमनिन्क्वनिब्वनिपश्च। पा० ३। २। ७४। गाङ् गतौ-क्वनिप्। महागतिशीलः (असुरेभ्यः) सुरविरोधिभ्यः। अविद्वद्भ्यः (अधि) (देवान्) विदुषः पुरुषान् (उपावर्तत) समीपं प्राप्तवान् (महिमानम्) स्वप्रभावम्। (इच्छन्) कामयमानः (तस्मै) तादृशाय (स्वप्नाय) (दधुः) दत्तवन्तः (आधिपत्यम्) साम्राज्यम् (त्रयस्त्रिंशासः) सर्वेषां त्रयस्त्रिंशत्संख्यापूरणत्वात्-डट्प्रत्ययः। त्रयस्त्रिंशत् संख्याकाः। अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः प्रजापतिश्चेति-अथर्व०। ९। १३४। १ (स्वः) सुखम् (आनशानाः) अश्नोतेर्लिटः कानच्। प्राप्तवन्तः ॥

न । एताम् । विदुः । पितरः । न । उत । देवाः । येषाम् । जल्पिः । चरति । अन्तरा । इदम् ॥ त्रिते । स्वप्नम् । अदधुः । आप्त्ये । नरः । आदित्यासः । वरुणेन । अनु-शिष्टाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एताम्) इस [आगे वर्णित वाणी] को (न) न तो (पितरः) पालन करने वाले, (उत) और (न) न (देवाः) विद्वान् लोग (विदुः) जानते हैं, (येषाम्) जिन [लोगों] की (जल्पिः) वाणी (इदम् अन्तरा) इस [जगत्] के बीच (चरति) विचरती है—"(वरुणेन) श्रेष्ठ [परमात्मा] करके (अनुशिष्टाः) शिक्षा किये गये, (आदित्यासः) अखण्डव्रत वाले (नरः) नेता लोगों ने (आप्त्ये) आप्तों [सत्य वक्ताओं] के हितकारी (त्रिते) तीनों [लोकों] के विस्तार करने वाले [परमेश्वर] में (स्वप्नम्) स्वप्न को (अधुः) धारण किया है" ॥ ४ ॥

भावार्थ—विचारना चाहिये ॥ ४ ॥

यस्य क्रूरमभजन्त दुष्कृतोऽस्वप्नेन सुकृतः पुण्यमायुः। स्वर्मदसि परमेण बन्धुना तप्यमानस्य मनसोऽधि जज्ञिषे ॥ ५ ॥

यस्य । क्रूरम् । अभजन्त । दुः-कृतः । अस्वप्नेन । सु-कृतः । पुण्यम् । आयुः ॥ स्वः । मदसि । परमेण । बन्धुना । तप्यमानस्य । मनसः । अधि । जज्ञिषे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(दुष्कृतः) दुष्कर्मियों ने (यस्य) जिस [स्वप्न] के

४—(न) निषेधे (एताम्) वक्ष्यमाणां वाणीम् (विदुः) जानन्ति (पितरः) पालकाः (न) निषेधे (उत) अपि च (देवाः) विद्वांसः (येषाम्) (जल्पिः) जल्प व्यक्तायां वाचि—इन्प्रत्ययः । वाणी (चरति) विचरति । वर्तते (इदम् अन्तरा) अस्य जगतो मध्ये (त्रिते) अ० ५ । १ । १ । त्रि+तनु विस्तारे—डप्रत्ययः । लोकत्रयविस्तारके परमात्मनि (स्वप्नम्) (अधुः) धारितवन्तः (आप्त्ये) आप्तानां सत्यवक्तॄणां हिते (नरः) नेतारः (आदित्यासः) अखण्डव्रतिनः (वरुणेन) श्रेष्ठेन परमेश्वरेण (अनुशिष्टाः) निरन्तरमुपदिष्टाः ॥

५—(यस्य) (क्रूरम्) निर्दयं कर्म (अभजन्त) असेवन्त (दुष्कृतः)

(क्रूरम्) क्रूर [निर्दय] कर्म को (अभजन्त) भोगा है, और (अस्वप्नेन) स्वप्न त्याग से (सुकृतः) सुकर्मियों ने (पुण्यम्) पवित्र (आयुः) जीवन [भोगा] है। [हे स्वप्न !] (स्वः) सुख में [वर्तमान] (परमेण) परम (बन्धुना) बन्धु [पुरुष] के साथ (मदसि) तू जड़ होजाता है, और (तप्यमानस्य) सन्ताप को प्राप्त हुये [थके पुरुष] के (मनसः अधि) मन में से (अज्ञिषे) तू प्रकट हुआ है ॥ ५ ॥

भावार्थ—दुष्ट लोग स्वप्न वा आलस्य के कारण महाकष्ट उठाते हैं, और पुण्यात्मा उसके त्याग से आनन्द उठाते हैं। सर्वहितैषी पुरुषार्थी लोगों में उस का प्रभाव नहीं होता, वह पुरुषार्थ हीन थके लोगों में प्रभाव जमाता है॥५॥

विद्म ते सर्वाः परिजाः पुरस्ताद् विद्म स्वप्न यो अधिपा इहा ते। यशस्विनो नो यशसेह पाह्यारद् द्विषेभिरप याहि दूरम् ॥ ६ ॥

विद्म। ते। सर्वाः। परि-जाः। पुरस्तात्। विद्म। स्वप्न। यः। अधि-पाः। इह। ते ॥ यशस्विनः। नः। यशसा। इह। पाहि। आरात्। द्विषेभिः। अप। याहि। दूरम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न ! (पुरस्तात्) सामने [रहने वाले] (ते) तेरे (सर्वाः) सब (परिजाः) परिवारों [काम क्रोध लोभ आदि] को (विद्म) हम जानते हैं, और [उस परमेश्वर को] (विद्म) हम जानते हैं (यः)

दुष्कर्माणः पापिनः (अस्वप्नेन) स्वप्नत्यागेन (सुकृतः) पुण्यकर्माणः (पुण्यम्) पवित्रम् (आयुः) जीवनम्—अभजन्त, इत्यनुवर्तते (स्वः) सुखे वर्तमानेन (मदसि) मद जाड्ये। जडो मूढो भवसि (परमेण) सर्वोत्कृष्टेन (बन्धुना) बान्धवेन (तप्यमानस्य) सन्तप्यमानस्य। श्रान्तस्य पुरुषस्य (मनसः) अन्तःकरणस्य (अधि) अधिकम् (अज्ञिषे) प्रादुर्बभूविथ ॥

६—(विद्म) जानीमः (ते) तव (सर्वाः) (परिजाः) जनसनखनक्रम०। पा० ३। २। ६७। परि + जनी प्रादुर्भावे—विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। अनुनासिकस्य आकारः। परिजनान्। कामक्रोधलोभादीन्

जो (इह) यहां पर (ते) तेरा (अधिपाः) बड़ा राजा है। (यशस्विनः नः) हम यशस्वियों को (यशसा) धन [वा कीर्ति] के साथ (इह) यहां पर (पाहि) पाल (द्विषेभिः) वैर भावों के साथ (आरात्) दूर (दूरम्) दूर (अप याहि) तू चला जा ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि स्वप्न वा आलस्य के कारण अर्थात् काम क्रोध लोभ आदि को त्याग कर परमेश्वर के आश्रय से यशस्वी होकर अपनी सम्पत्ति और कीर्ति को बनाये रक्खें, और कभी परस्पर द्वेष न करें ॥६

सूक्तम् ५७ ॥

१—५ ॥ आत्मा देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ आर्षी पङ्क्तिः; ३ आर्षी त्रिष्टुप्; ४ निचृदष्टिः; ५ भुरिगार्षी जगती ॥

दुष्टस्वप्ननिवारणोपदेशः—बुरे स्वप्न दूर करने का उपदेश ॥

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति ।
एवा दुष्वप्न्यं सर्वमप्रिये सं नयामसि ॥ १ ॥

यथा । कलाम् । यथा । शफम् । यथा । ऋणम् । सम्-नयन्ति ॥ एव । दुः-स्वप्न्यम् । सर्वम् । अप्रिये । सम् । नयामसि॥१

भाषार्थ—(यथा) जैसे (कलाम्) सोलहवें अंश को और (यथा) जैसे (शफम्) आठवें अंश को और (यथा) जैसे (ऋणम्) [पूरे] ऋण को (संनयन्ति) लोग चुकाते हैं। (एव) वैसे ही (सर्वम्) सब (दुःष्वप्न्यम्) नींद में उठे बुरे विचार को (अप्रिये) अप्रिय पुरुष पर (सम् नयामसि) हम

(पुरस्तात्) अग्रे वर्तमानाः (विघ्न) (स्वप्न) (यः) (अधिपाः) स्वामी । परमेश्वर इत्यर्थः (इह) अत्र (ते) तव (यशस्विनः) कीर्तियुक्तान् (नः) अस्मान् (यशसा) धनेन । कीर्त्या (इह) (पाहि) रक्ष (आरात्) दूरे (द्विषेभिः) द्वेषैः (अप याहि) अपगच्छ (दूरम्) ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (कलाम्) षोडशांशम् (यथा) (शफम्) गवादिपादचतुष्टयस्य द्विखुरत्वाद् एकस्य खुरस्याष्टमांशग्रहणम् । अष्टमांशम् (यथा) (ऋणम्) पुनर्देयत्वेन गृहीतं धनम् (संनयन्ति) सम्यग् गमयन्ति । प्रत्यर्पयन्ति, (एव) एवम् (दुःष्वप्न्यम्) कुनिद्राभवं विचारम्

छोड़ते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य ऋण को थोड़ा थोड़ा करके वा सब एक साथ चुकाते हैं, वैसे ही मनुष्य कुस्वप्न आदि रोगों से निवृत्ति पावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आचुका है—अ० ६ । ४६ । ३ और ऋग्वेद में भीहै—८ । ४७ । १७ ॥

सं राजानो अगुः समृणान्यगुः सं कुष्ठा अगुः सं कला अगुः । समस्मासु यद्दुष्वप्न्यं निर्द्विषते दुष्वप्न्यं सुवाम ॥ २ ॥

सम् । राजानः । अगुः । सम् । ऋणानि । अगुः । सम् । कुष्ठाः । अगुः । सम् । कलाः । अगुः ॥ सम् । अस्मासु । यत् । दुः-स्वप्न्यम् । निः । द्विषते । दुः-स्वप्न्यम् । सुवाम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(राजानः) राजा लोग (सम् अगुः) एकत्र हुये हैं, (ऋणानि) अनेक ऋण (सम् अगुः) एकत्र हुये हैं, (कुष्ठाः) कुष्ठ [कूट आदि औषध विशेष] (सम् अगुः) इकट्ठे हुये हैं, (कलाः) कलायें [समय के अंश] (सम् अगुः) एकत्र हुये हैं । (अस्मासु) हम में (यत्) जो (दुःष्वप्न्यम्) दुष्ट स्वप्न (सम्=सम् अगात्) एकत्र हुआ है, (दुःष्वप्न्यम्) उस दुष्ट स्वप्न को (द्विषते) वैर करने वाले के लिये (निः सुवाम) हम बाहर निकालें ॥ २ ॥

भावार्थ—(कुष्ठ) अर्थात् कूट औषध के लिये देखो—अ० १९ । ३९ । जैसे राजा लोग एकत्र होकर संसार के कष्ट दूर करते हैं, वैसे ही वैद्य लोग दुष्ट स्वप्न आदि रोगों का नाश करें ॥ २ ॥

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न ।

(सर्वम्) (अप्रिये) अहिते । शत्रौ (संनयामसि) संनयामः । स्थापयामः ॥

२—(राजानः) (सम् अगुः) इण् गतौ—लुङ् । संहता अभवन् (ऋणानि) (सम् अगुः) बहूनि अभवन् (कुष्ठाः) अ० १९ । ३९ । १ । रोगाणां निष्कर्षकाः। औषधविशेषाः (सम् अगुः) (कलाः) कालांशाः (सम् अगुः) (सम्) सम् अगात् (अस्मासु) (यत्) (दुःष्वप्न्यम्) दुष्टस्वप्नभावः (द्विषते) द्वेष्ट्रे (दुःष्वप्न्यम्) दुष्टस्वप्नभावम् (निः सुवाम) बहिर्गमयाम ॥

स मम यः पापस्तद्द्विषते प्र हिण्मः ।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम् ॥ ३ ॥

देवानाम् । पत्नीनाम् । गर्भ । यमस्य । कर । यः । भद्रः । स्वप्न ॥ सः । मम । यः । पापः । तत् । द्विषते । प्र । हिण्मः ॥ मा । तृष्टानाम् । असि । कृष्ण-शकुनेः । मुखम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवानाम्) हे विद्वानों की (पत्नीनाम्) पालन शक्तियों के (गर्भ) गर्भ ! [उदर रूप पोषक] और (यमस्य) हे यम [मृत्यु] के (कर) हाथ ! (स्वप्न) हे स्वप्न ! (यः) जो तू (भद्रः) कल्याणकारी है, (सः) वह (मम) मेरा [होवे], (तत्) इस लिये (यः) जो तू (पापः) पापी [अनहित है, [उसे] (द्विषते) वैरी के लिये (प्र हिण्मः) हम भेजते हैं । (तृष्टानाम्) क्रूरों के मध्य (कृष्णशकुनेः) काले पक्षी [कौवे आदि] का (मुखम्) मुख (मा असि) तू मत हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—स्वप्न दो प्रकार के हैं, एक शुभ विद्वानों के हितकारी और दूसरे अशुभ जो दुःखदायी हैं । विद्वान् लोग अपने शुभ विचारों के अनुरूप शुभ स्वप्न देखें और कुविचारों के कारण से कुस्वप्न देखकर शत्रु न बनें ॥ ३ ॥

१ त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स त्वं स्वप्नाश्व इव कायमश्व इव नीनाहम् । अनास्माकं देवपीयुं पियारुं वप यदस्मासु दुष्वप्न्यं यद् गोषु यच्च नो गृहे ॥ ४ ॥

३—(देवानाम्) विदुषाम् (पत्नीनाम्) पालनशक्तीनाम् (गर्भ) हे उदरवत् पोषक (यमस्य) मृत्योः (कर) हे हस्त इव हितकर (यः) यस्त्वम् (भद्रः) कल्याणकारी भवसि (स्वप्न) (सः) स त्वम् (मम) भवेः—इति शेषः (यः) त्वम् (पापः) अनिष्टकारी भवसि (तत्) तस्मात् (द्विषते) शत्रवे (प्र हिण्मः) हि गतौ, अन्तर्गतण्यर्थः । प्रेरयामः (तृष्टानाम्) ञितृषा पिपासायाम्-क्त । तृषितानां लोभिनां क्रूराणां मध्ये (मा असि) मा भव (कृष्णशकुनेः) कृष्णपक्षिणः । काकादेः (मुखम्) मुखमिव क्रूरम् ॥

तम् । त्वा । स्वप्न । तथा । सम् । विद्म । सः । त्वम् । स्वप्न । अश्वः-इव । कायम् । अश्वः-इव । नीनाहम् ॥ अनास्माकम् । देव-पीयुम् । पियारुम् । वप । यत् । अस्मासु । दुः-स्वप्न्यम् । यत् । गोषु । यत् । च । नः । गृहे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न ! (तं त्वा) उस तुझ को (तथा) वैसा ही (सम्) पूरा पूरा (विद्म) हम जानते हैं, (सः त्वम्) सो तू, (स्वप्न) हे स्वप्न ! (अश्वः इव) जैसे घोड़ा (कायम्) अपनी पेटी को, और (अश्वः इव) जैसे घोड़ा (नीनाहम्) अपनी बागडोर [को तोड़ डालता है, वैसे], (अनास्माकम्) हमारे न होने वाले (देवपीयुम्) विद्वानों के सताने वाले (पियारुम्) दुःखदायी को (वप) तोड़ डाल और (दुःष्वप्न्यम्) उस दुष्ट स्वप्न को [तोड़ दे], (यत्) जो (अस्मासु) हम में है, (यत्) जो (नः) हमारी (गोषु) गौओं में है, (च) और (यत्) जो (गृहे) घर में है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे बलवान् घोड़ा अपनी पेटी और बाग डोर को तोड़ताड़ डालता है, वैसे ही मनुष्य शुभ विचारों द्वारा दुष्ट विचारों को नाश करें और सब को स्वस्थ रक्खें ॥ ४ ॥

४—(तम्) तादृशम् (त्वा) त्वाम् (स्वप्न) (तथा) तेन प्रकारेण (सम्) सम्पूर्णम् (विद्म) जानीमः (सः) (त्वम्) (स्वप्न) (अश्वः) (इव) यथा (कायम्) स्वशरीरसम्बन्धिनीं पार्श्वरज्जुम्। पेटीम् (अश्वः) (इव) (नीनाहम्) नि+णह बन्धने—घञ् । रश्मिम् । मुखरज्जुम् (अनास्माकम्) युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च । पा० ४ । ३ । १ । अस्मद्—अण् । योऽस्माकं न भवति तम् (देवपीयुम्) अ० ४ । ३५ । ७ । विदुषां हिंसकम् (पियारुम्) अ० ११ । २ । २१ । पीयतिर्हिंसाकर्मा—निरु० ४ । २५ । अञ्जिमदिमन्दिभ्य आरन् उ० ३ । १३४ । अत्र बाहुलकात् पीयतेः—आरुप्रत्ययो ह्रस्वश्च । हिंसकम् । दुःखप्रदम् (वप) डुवप बीजसन्ताने छेदने च । छिन्धि (यत्) (अस्मासु) (दुष्वप्न्यम्) दुष्टस्वप्नभावः (यत्) (गोषु) धेनुषु (यत्) (च) (नः) अस्माकम् (गृहे) निवासे ॥

अनास्माकस्तद् देवपीयुः पियारुर्निष्कमिव प्रति मुञ्चताम् ।
नवारत्नीनपमया अस्माकं ततः परि ।
दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते निर्दयामसि ॥ ५ ॥

अनास्माकः । तत् । देव-पीयुः । पियारुः । निष्कम्-इव । प्रति । मुञ्चताम् ॥ नव । अरत्नीन् । अप-मयाः । अस्माकम् । ततः । परि ॥ दुः-स्वप्न्यम् । सर्वम् । द्विषते । निः । दयामसि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अनास्माकः) हमारा न होने वाला, (देवपीयुः) विद्वानों का सताने वाला, (पियारुः) दुःखदायी [शत्रु] (तत्) उस [दुष्ट स्वप्न] को (निष्कम् इव) सुवर्ण के समान (प्रति मुञ्चताम्) धारण करे । अस्माकम्) हमारे (ततः) उस [स्थान] से [दुष्ट स्वप्न को] (नव) नौ (अरत्नीन्) हाथों भर (परि) अलग करके (अपमयाः) तू दूर ले जा । (सर्वम्) सब (दुःष्वप्न्यम्) दुष्ट स्वप्न को (द्विषते) वैरी के लिये (निः दयामसि) हम बाहर हांकते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—धर्मात्मा लोग दुष्टों के समान कुविचारों को अपने में न आने देवें, किन्तु उत्तम विचारों को आत्मा में सदा धारण करते रहें ॥ ५ ॥

सूक्तम् ५८ ॥

१-६ ॥ आत्मा देवता ॥ १, ४ त्रिष्टुप् ; २ आर्षी पङ्क्तिः; ३ अतिशक्करी;

५—(अनास्माकः) म० ४ । योऽस्माकं न भवति सः (तत्) दुःष्वप्न्यम् (देवपीयुः) म० ४ । विदुषां हिंसकः (पियारुः) म० ४ । दुःखप्रदः (निष्कम्) सुवर्णम् (इव) यथा (प्रति मुञ्चताम्) धारयतु (नव) (अरत्नीन्) अ+ऋ गतौ—कत्नि, रत्निर्बद्धमुष्टिकरः स नास्ति यत्र । विस्तृतकनिष्ठाङ्गुलिमुष्टिकहस्तप्रमाणानि (अपमयाः) मय गतौ भ्वादिः, लेट्, णिजर्थः । अपगमयेः (अस्माकम्) (ततः) तस्मात् स्थानात् (परि) पृथग्भावे (दुःष्वप्न्यम्) दुष्टस्वप्नभावम् (सर्वम्) (द्विषते) शत्रवे (निः दयामसि) दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु । अपगमयामः बहिष्कुर्मः ॥

५ आर्षी त्रिष्टुप्; ६ भुरिगार्षी त्रिष्टुप् ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

घृतस्य जूतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती । श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ॥१॥

घृतस्य । जूतिः । समना । स-देवा । सम्-वत्सरम् । हविषा । वर्धयन्ती ॥ श्रोत्रम् । चक्षुः । प्राणः । अच्छिन्नः । नः । अस्तु । अच्छिन्नाः । वयम् । आयुषः । वर्चसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(घृतस्य) प्रकाश की (समना) मनोहर, (सदेवा) इन्द्रियों के साथ रहने वाली (जूतिः) वेग गति (हविषा) दान से (संवत्सरम्) वर्ष [जीवन काल] को (वर्धयन्ती) बढ़ाती हुयी [रहे] । (नः) हमारा (श्रोत्रम्) कान, (चक्षुः) आंख और (प्राणः) प्राण (अच्छिन्नः) निर्हानि (अस्तु) होवे, (वयम्) हम (आयुषः) जीवन से और (वर्चसः) तेज से (अच्छिन्नाः) निर्हानि [होवें] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि विद्या आदि से शीघ्र प्रतापी होकर अपने आत्मा और शरीर की उन्नति करे ॥ १ ॥

उपास्मान् प्राणो ह्वयतामुप वयं प्राणं हवामहे । वर्चो जग्राह पृथिव्य१न्तरिक्षं वर्चः सोमो बृहस्पतिर्विधत्ता ॥ २ ॥

उप । अस्मान् । प्राणः । ह्वयताम् । उप । वयम् । प्राणम् । हवामहे ॥ वर्चः । जग्राह । पृथिवी । अन्तरिक्षम् । वर्चः । सोमः । बृहस्पतिः । वि-धत्ता ॥ २ ॥

१ (घृतस्य) प्रकाशस्य (जूतिः) वेगगतिः (समना) मन ज्ञाने—अच्, टाप् । मनोहरा (सदेवा) इन्द्रियैः सह वर्तमाना (संवत्सरम्) वर्षम् । जीवनकालम् (हविषा) दानेन (वर्धयन्ती) समर्धयन्ती (श्रोत्रम्) श्रवणम् (चक्षुः) नेत्रम् (प्राणः) शरीरधारकः पञ्चवृत्तिको वायुः (अच्छिन्नः) अभिन्नः । निर्हानिः (नः) अस्माकम् (अस्तु) (अच्छिन्नाः) निर्हानयः (वयम्) (आयुषः) जीवनात् (वर्चसः) प्रतापात् ॥

भाषार्थ—(प्राणः) प्राण (अस्मान्) हम को (उप ह्वयताम्) समीप बुलावे, (वयम्) हम (प्राणम्) प्राण को (उप ह्वयामहे) समीप बुलाते हैं। (पृथिवी) पृथिवी और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष ने (वर्चः) तेज (अग्राह) ग्रहण किया है, (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के स्वामी], (विधत्ता) पोषण करने वाले (सोमः) ऐश्वर्यवान् पुरुष ने (वर्चः) तेज [ग्रहण किया] है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने आत्मा और शरीर की सदा रक्षा करके उनके द्वारा उपकारी होवे, जैसे पृथिवी और आकाश बलवान् होकर पदार्थों और लोकों को धारण करते हैं और जैसे विद्वान् तेजस्वी पुरुष विविध कार्य सिद्ध करता है ॥ २ ॥

वर्च॑सो॒ द्यावा॑पृथि॒वी सं॑ग्र॒हणी॑ ब॒भूव॑थु॒र्वर्चो॑ गृही॒त्वा पृ॑थि॒वी-मनु॒ सं च॑रेम । य॒शसं॒ गावो॒ गोप॑तिमु॒प ति॑ष्ठन्त्याय॒तीर्यशो॑ गृही॒त्वा पृ॑थि॒वीमनु॒ सं च॑रेम ॥ ३ ॥

वर्च॑सः । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । सं॒ग्र॒हणी॒ इति॑ सम्-ग्र॒हणी॑ । ब॒भूव॑थुः । वर्चः॑ । गृ॒ही॒त्वा । पृ॒थि॒वीम् । अनु॑ । सम् । च॒रे॒म ॥ य॒शस॑म् । गावः॑ । गो-प॑तिम् । उप॑ । ति॒ष्ठ॒न्ति॒ । आ॒-य॒तीः । यशः॑ । गृ॒ही॒त्वा । पृ॒थि॒वीम् । अनु॑ । सम् । च॒रे॒म ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (वर्चसः) तेज के (संग्रहणी) संग्रह करने वाले (बभूवथुः) हुये हो, (वर्चः) तेज को

२—(उप) समीपे (अस्मान्) (प्राणः) म० १। शरीरधारको वायुः (ह्वयताम्) (उप) (वयम्) (प्राणम्) शरीरधारकं वायुम् (ह्वयामहे) आह्वयामः (वर्चः) तेजः (अग्राह) स्वीचकार (पृथिवी) (अन्तरिक्षम्) (वर्चः) (सोमः) ऐश्वर्यवान् पुरुषः (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां पालकः (विधत्ता) आकारस्य ह्रस्वे कृते तकारस्य द्वित्वम्। विधाता। विविधपोषकः ॥

३—(वर्चसः) तेजसः (द्यावापृथिवी) सूर्यपृथिव्यौ (संग्रहणी) संग्रहणयौ। दात्र्यौ (बभूवथुः) (वर्चः) तेजः (गृहीत्वा) अवलम्ब्य (पृथिवीम्)

(गृहीत्वा) ग्रहण करके (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (सम् चरेम) हम विचरें। (आयतीः) आती हुयीं (गावः) गौयें (यशसम्) अन्न वाले (गोपतिम्) गोपति [गौओं के स्वामी] को (उप तिष्ठन्ति) सेवती हैं, (यशः) अन्न (गृहीत्वा) ग्रहण करके (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (सम् चरेम) हम विचरें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य और पृथिवी के समान बली होकर संसार में उपकार करें, और जैसे गौ आदि पशु अन्न आदि देने वाले अपने स्वामी की सेवा करते हैं, वैसे ही मनुष्य अन्न आदि से अपने पोषकों की सेवा करें ॥ ३ ॥

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ॥४॥

व्रजम् । कृणुध्वम् । सः । हि । वः । नृ-पानः । वर्म । सीव्यध्वम् । बहुला । पृथूनि ॥ पुरः । कृणुध्वम् । आयसीः । अधृष्टाः । मा । वः । सुस्रोत् । चमसः । दृंहत । तम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(व्रजम्) घेर [गोस्थान] को (कृणुध्वम्) तुम बनाओ, (हि) क्योंकि (सः) वह [स्थान] (वः) तुम्हारे लिये (नृपाणः) नेताओं की रक्षा करने वाला है, (बहुला) बहुत से (पृथूनि) चौड़े चौड़े (वर्म) कवचों को (सीव्यध्वम्) सीओ। (पुरः) दुर्गों को (आयसीः) लोहे का (अधृष्टाः) अटूट (कृणुध्वम्) बनाओ, (वः) तुम्हारा (चमसः) चमचा

(संचरेम) विचरेम (यशसम्) यशः=अन्नम्—निघ० २ । ७ । अर्श-आद्यच् । अन्नवन्तम् (गावः) धेनवः (गोपतिम्) गवां स्वामिनम् (उपतिष्ठन्ति) सेवन्ते (आयतीः) आगच्छन्त्यः । अन्यद् गतम् ॥

४—(व्रजम्) गोस्थानम् (कृणुध्वम्) कुरुत (सः) व्रजः (हि) यस्मात् कारणात् (वः) युष्मभ्यम् (नृपाणः) नृणां नेतॄणां रक्षकः (वर्म) वर्माणि । कवचानि (सीव्यध्वम्) षिवु तन्तुसन्ताने । संबध्नीत (बहुला) बहुलानि । बहूनि (पृथूनि) विस्तृतानि (पुरः) नगरान् । दुर्गाणि (कृणुध्वम्) (आयसीः) अयस्मयाः । अस्त्रशस्त्रयुक्ताः (अधृष्टाः) अधृष्यमाणाः ।

[भोजन पात्र] (मा सुस्रोत्) न टपक जावे, (तम्) उसको (दृंहत) दृढ़ करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे गोशाला में गौ आदि पशु सुरक्षित रहते हैं, और जैसे राजा सैनिकों की रक्षा के लिये दृढ़ दुर्ग बना कर अस्त्र शस्त्र आदि से भर पूर करता है, वैसे ही मनुष्य अपने रक्षा साधनों का संग्रह करता रहे ॥ ४ ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥५॥

यज्ञस्य । चक्षुः । प्र-भृतिः । मुखम् । च । वाचा । श्रोत्रेण । मनसा । जुहोमि ॥ इमम् । यज्ञम् । वि-ततम् । विश्व-कर्मणा । आ । देवाः । यन्तु । सु-मनस्यमानाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[जो पुरुष] (यज्ञस्य) पूजनीय कर्म का (चक्षुः) नेत्र [नेत्र समान] प्रदर्शक, (प्रभृतिः) पुष्टि (च) और (मुखम्) मुख [समान मुख्य] है, [उसको] (वाचा) वाणी से, (श्रोत्रेण) कान से और (मनसा) मन से (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं । (सुमनस्यमानाः) शुभचिन्तकों के समान आचरण वाले, (देवाः) व्यवहार कुशल महात्मा (विश्वकर्मणा) संसार के रचने वाले परमेश्वर करके (विततम्) फैलाये हुये (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय धर्म को (आ यन्तु) प्राप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सत्य सङ्कल्पी, सत्यसन्ध, ऋषि महात्माओं के वैदिक उपदेश को वाणी से पठन पाठन, श्रोत्र से श्रवण श्रावण, और मन से निदिध्यासन अर्थात् बारम्बार विचार, करके ग्रहण करें । सब अनुग्रह शील महात्मा परमेश्वर के दिये हुये विज्ञान और धर्म का प्रचार करते रहें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र ऊपर आचुका है—अ० २ । ३५ । ५ ॥

अविनाशनीयाः (वः) युष्माकम् (मा सुस्रोत्) स्रवतेर्लङि शपः श्लुः । मा स्रवतु । मा विनश्यतु (चमसः) भोजनपात्रम् (दृंहत) दृढीकुरुत (तम्) चमसम् ॥

अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० २ । ३५ । ५ ॥

ये दे॒वाना॑मृ॒त्विजो॒ ये च॑ य॒ज्ञिया॒ येभ्यो॑ ह॒व्यं क्रि॒यते॑ भाग॒धेय॑म् ।
इ॒मं य॒ज्ञं स॒ह पत्नी॑भि॒रेत्य॒ याव॑न्तो दे॒वास्त॑वि॒षा मा॑दयन्ताम् ॥ ६ ॥

ये । दे॒वाना॑म् । ऋ॒त्विजः॑ । ये । च॒ । य॒ज्ञियाः॑ । येभ्यः॑ । ह॒व्यम् । क्रि॒यते॑ । भा॒ग॒-धेय॑म् ॥ इ॒मम् । य॒ज्ञम् । स॒ह । पत्नी॑भिः । आ॒-इत्य॑ । याव॑न्तः । दे॒वाः । त॒वि॒षाः । मा॒द॒-य॒न्ता॒म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (देवानाम्) विद्वानों में (ऋत्विजः) सब ऋतुओं में यज्ञ करने वाले, (च) और (ये) जो (यज्ञियाः) पूजा योग्य हैं, और (येभ्य) जिनके लिये (हव्यम्) देने योग्य (भागधेयम्) भाग (क्रियते) किया जाता है । (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ में (पत्नीभिः सह) [अपनी] पत्नियों सहित (एत्य) आकर, (यावन्तः) जितने (तविषाः) बड़े (देवाः) विद्वान् हैं, [हमें] (मादयन्ताम्) वे प्रसन्न करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विद्वान् ऋषि महात्माओं और विदुषी स्त्रियों का यथावत् सत्कार करके उन्नति करें ॥ ६ ॥

सूक्तम् ५८ ॥

१—३ ॥ अग्निर्देवता ॥१ भुरिगार्ची गायत्री; २,३ त्रिष्टुप् ॥
सुमार्गगमनोपदेशः—उत्तम मार्ग पर चलने का उपदेश ॥

त्वम॑ग्ने व्रत॒पा अ॑सि दे॒व आ मर्त्ये॒ष्वा । त्वं य॒ज्ञेष्वीड्यः॑ ॥१॥

त्वम् । अ॒ग्ने॒ । व्र॒त॒-पाः । अ॒सि॒ । दे॒वः । आ । मर्त्ये॑षु । आ ॥ त्वम् । य॒ज्ञेषु॑ । ईड्यः॑ ॥ १ ॥

६—(ये) (देवानाम्) विदुषां मध्ये (ऋत्विजः) सर्वकालेषु यष्टारः (ये) (च) (यज्ञियाः) पूजार्हाः (येभ्यः) (हव्यम्) दातव्यम् (क्रियते) अनुष्ठीयते (भागधेयम्) भागम् (इमम्) प्रत्यक्षम् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (सह) (पत्नीभिः) विदुषीभिः स्त्रीभिः (एत्य) आगत्य (यावन्तः) यत्परिमाणाः (देवाः) विद्वांसः (तविषाः) तवेर्णिद्वा । उ० १ । ४८ । तव वृद्धौ, सौ० धा०—टिषच् । तविषो महन्नाम—निघ० ३ । ३ । महान्तः (मादयन्ताम्) तर्पयन्तु अस्मान् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! [वा विद्वान् पुरुष] (त्वम्) तू (मर्त्येषु) मनुष्यों के बीच (व्रतपाः) नियम का पालन करने वाला (आ) और (देवः) व्यवहार कुशल, (त्वम्) तू (यज्ञेषु) यज्ञों [संयोग वियोग व्यवहारों] में (आ) सब प्रकार (ईड्यः) स्तुति के योग्य (असि) है ॥१॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा नियमों के पालन से संयोग वियोग करके अनेक रचनायें करता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम नियमों पर चलकर योग्य कर्मों के संयोग और कुयोग्यों के वियोग से उत्तम व्यवहार सिद्ध करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । ११ । १ और यजु० ४ । १६ ॥

यद् वो व॒यं प्र॑मि॒नाम॑ व्र॒तानि॑ वि॒दुषां॑ देवा॒ अवि॑दुष्टरासः ।
अ॒ग्निष्टद् विश्वा॒दा पृ॑णातु वि॒द्वान्त्सोम॑स्य॒ यो ब्रा॑ह्म॒णाँ आ॑वि॒वेश॑ ॥ २ ॥

यत् । वः॒ । व॒यम् । प्र॒-मि॒नाम॑ । व्र॒तानि॑ । वि॒दुषा॑म् । दे॒वाः॒ । अवि॑दुः-तरासः ॥ अ॒ग्निः । तत् । विश्व॒-अत् । आ । पृ॒णा॒तु॒ । वि॒द्वान् । सोम॑स्य । यः । ब्रा॒ह्म॒णान् । आ॒-वि॒वेश॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (यत्) यदि (अविदुष्टरासः) निपट अजान (वयम्) हम (वः विदुषाम्) तुम विद्वानों के (व्रतानि) नियमों को (प्रमिनाम) तोड़ डालें । (विश्वात्) सब का प्रबन्ध करने वाला (अग्निः) [वह] अग्नि [ज्ञानवान् परमेश्वर] (तत्) उस को (आ पृणातु) पूरा कर

१—(त्वम्) (अग्ने) हे विद्वन् परमात्मन् मनुष्य वा (व्रतपाः) नियमपालकः (असि) (देवः) व्यवहारकुशलः (आ) चार्थे (मर्त्येषु) मनुष्येषु (आ) समन्तात् (त्वम्) (यज्ञेषु) संयोगवियोगव्यवहारेषु (ईड्यः) स्तुत्यः॥

२—(यत्) यदि (वः) युष्माकम् (वयम्) (प्रमिनाम) मीञ् हिंसायाम्—लोट् । मीनातेर्निगमे । पा० ७ । ३ । ८१ । इति ह्रस्वः । प्रकर्षेण हिंसाम विनाशयाम (व्रतानि) कर्माणि (विदुषाम्) जानताम् (देवाः) हे विद्वांसः (अविदुष्टरासः) अत्यर्थम् अविद्वांसः (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वरः (तत्)

देवे; (यः) जिस (सोमस्य) ऐश्वर्य के (विद्वान्) जानकार [परमेश्वर] ने (ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों [ब्रह्मज्ञानियों] में (आविवेश) प्रवेश किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अज्ञानी होकर दोष करें, वे विद्वानों के सत्संग से परमात्मा की उपासना पूर्वक अपने दोषों को हटावें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१० । २ । ४ और चौथा पाद कुछ भेद से आ चुका है-अ० १८ । ३ । ५५ ॥

आ दे॒वाना॒मपि॒ पन्था॑मगन्म॒ यच्छ॒क्नवा॑म॒ तद॑नु॒प्रवो॑ढुम् । अ॒ग्निर्वि॒द्वान्त्स य॑जा॒त् स इद्धोता॒ सो॑ऽध्व॒रान्त्स ऋ॒तून् क॑ल्पयाति ॥ ३ ॥

आ । दे॒वाना॑म् । अपि॑ । पन्था॑म् । अ॒ग॒न्म॒ । यत् । श॒क्नवा॑म । तत् । अ॒नु॒-प्रवो॑ढुम् ॥ अ॒ग्निः । वि॒द्वान् । सः । य॒जा॒त् । सः । इत् । होता॑ । सः॥अ॒ध्व॒रान् । सः । ऋ॒तून् । क॒ल्प॒या॒ति॒॥३

भाषार्थ—(देवानाम्) विद्वानों के (अपि) ही (पन्थाम्) मार्ग को (आ) सब ओर से (अगन्म) हम प्राप्त हुये हैं (तत्) उस [श्रेष्ठ कर्म] को (अनुप्रवोढुम्) लगातार ले चलने के लिये (यत्) जो कुछ (शक्नवाम) समर्थ होवें । (सः) वह (विद्वान्) विद्वान् (अग्निः) अग्नि [ज्ञानी परमात्मा] (यजात्) [बल] देवे, (सः इत्) वह ही (होता) दाता है, (सः) वह (अध्वरान्) हिंसा रहित व्यवहारों को, (सः) वही (ऋतून्) ऋतुओं [अनुकूल समयों] को (कल्पयाति) समर्थ करे ॥ ३ ॥

(विश्वात्) अत सातत्यगमने बन्धने च—क्विप् । सर्वप्रबन्धकः (आ) समन्तात् (पृणातु) पूरयतु (विद्वान्) ज्ञानवान् (सोमस्य) ऐश्वर्यस्य (यः) परमेश्वरः (ब्राह्मणान्) ब्रह्मज्ञानिनः पुरुषान् (आविवेश) प्रविष्टवान् ॥

३—(आ) समन्तात् (देवानाम्) विदुषाम् (अपि) एव (पन्थाम्) पन्थानम् (अगन्म) वयं प्राप्तवन्तः (यत्) कर्म कर्तुम् (शक्नवाम) शक्नुयाम । समर्था भवेम (तत्) श्रेष्ठं कर्म (अनुप्रवोढुम्) निरन्तरं प्रापयितुम् (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वरः (विद्वान्) (सः) प्रसिद्धः (यजात्) लेटि रूपम् । यजेत् दद्यात् बलम् (सः) परमेश्वरः (इत्) एव (होता) दाता (अध्वरान्) हिंसारहितान् यज्ञान् (सः) (ऋतून्) अनुकूलकालान् (कल्पयाति) समर्थयेत् ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के परीक्षित वैदिक मार्ग पर चलें। और सब को चलावें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । २ । ३ ॥

सूक्तम् ६० ॥

१—२ ॥ परमात्मा देवता ॥ १ विराडार्षी बृहती; २ विराडार्ष्युष्णिक् ॥

शरीरस्वास्थ्योपदेशः—शरीर के स्वास्थ्य का उपदेश ॥

वाङ्म॑ आ॒सन्न॒सोः प्रा॒णश्च॒क्षु॑र॒क्ष्णोः श्रोत्रं॒ कर्णयोः ।
अप॑लिताः॒ केशा॒ अशो॑णा॒ दन्ता॑ ब॒हु बा॒ह्वोर्बल॑म् ॥ १ ॥

वाक् । मे॒ । आ॒सन् । न॒सोः । प्रा॒णः । चक्षुः॑ । अ॒क्ष्णोः ।
श्रोत्र॑म् । कर्ण॑योः ॥ अप॑लिताः । केशाः॑ । अशो॑णाः । दन्ताः॑ ।
ब॒हु । बा॒ह्वोः॑ बल॑म् ॥ १ ॥

ऊ॒र्वोरोजो॒ जङ्घ॑योर्ज॒वः पाद॑योः ।
प्र॒ति॒ष्ठा अरि॑ष्टानि मे॒ सर्वा॒त्मानि॑भृष्टः ॥ २ ॥

ऊ॒र्वोः । ओजः॑ । जङ्घ॑योः । ज॒वः । पाद॑योः ॥
प्र॒ति॒-स्था । अरि॑ष्टानि । मे॒ । सर्वा॑ । आ॒त्मा । अनि॑-भृष्टः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (मे) मेरे (आसन्) मुख में (वाक्) वाणी, (नसोः) दोनों नथनों में (प्राणः) प्राण, (अक्ष्णोः) दोनों आंखों में (चक्षुः) दृष्टि, (कर्णयोः) दोनों कानों में (श्रोत्रम्) सुनने की शक्ति, (केशाः) केश (अपलिताः) अनभूरे, (दन्ताः) दांत (अशोणाः) अचलायमान [वा अरक्त वर्ण], और (बाह्वोः) दोनों भुजाओं में (बहु) बहुत (बलम्) बल [होवे] ॥ १ ॥

१—(वाक्) वाणी (मे) मम (आसन्) आस्नि । आस्ये । मुखे (नसोः) नासिकाच्छिद्रयोः (प्राणः) शरीरधारको वायुः (चक्षुः) दृष्टिः (अक्ष्णोः) नेत्रयोः (श्रोत्रम्) श्रुतिः (कर्णयोः) श्रवणयोः (अपलिताः) अश्वेताः (केशाः) (अशोणाः) शोणृ गतौ—अच् । अचलायमानाः । अरक्तवर्णाः (दन्ताः) (बहु) प्रभूतम् (बाह्वोः) भुजयोः (बलम्) सामर्थ्यम् ॥

(ऊर्वोः) दोनों जङ्घाओं में (ओजः) सामर्थ्य (जङ्घयोः) दोनों घुटनों [पिण्डलियों वा नीचे की जांघों] में (जवः) वेग, (पादयोः) दोना पैरों में (प्रतिष्ठा) जमाव [दृढ़ता], (मे) मेरे (सर्वा) सब [अङ्ग] अरिष्टानि) निर्दोष और (आत्मा) आत्मा (अनिभृष्टः) बिना नीचे गिरा हुआ [होवे] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित आहार विहार, व्यायाम, योगाभ्यास, आदि से अपने शरीर और आत्मा दृढ़ रखने चाहियें ॥ १, २ ॥

मन्त्र २ में (प्रतिष्ठा अरिष्टानि) पदों में सन्धि न होने से जाना जाता है कि (पादयोः) पर अवसान होने के स्थान में (प्रतिष्ठा) पर अवसान होना चाहिये ॥

सूक्तम् ६१ ॥

मन्त्र १॥ आत्मा देवता ॥ विराडार्षी बृहती ॥

सुखप्राप्त्युपदेशः—सुख की प्राप्ति का उपदेश ॥

तनूस्तन्वा मे सहे दुतः सर्वमायुरशीय ।
स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥ १ ॥

तनूः । तन्वा । मे । सहे । दुतः । सर्वम् । आयुः । अशीय ॥
स्योनम् । मे । सीद । पुरुः । पृणस्व । पवमानः । स्वःऽगे ॥ १

भाषार्थ—(मे) अपने (तन्वा) शरीर के साथ (तनूः) [दूसरों के] शरीरों को (सहे) मैं सहारता हूं, (दतः = दत्तः) रक्षा किया हुआ मैं (सर्वम्) पूर्ण (आयुः) जीवन (अशीय) प्राप्त करूं (मे) मेरे लिये (स्योनम्) सुख से

२—(ऊर्वोः) जानूपरिभागयोः (ओजः) सामर्थ्यम् (जङ्घयोः) गुल्फजान्वोरन्तरालयोः (जवः) वेगः (पादयोः) चरणयोः (प्रतिष्ठा) स्थिरता । दृढता (अरिष्टानि) निर्दोषाणि (मे) मम (सर्वा) सर्वाणि अङ्गानि (आत्मा) जीवात्मा (अनिभृष्टः) भृश अधःपतने—क्त । अनधोगतः ॥

१—(तनूः) अन्येषां शरीराणि (तन्वा) शरीरेण (मे) मम । आत्मीयेन (सहे) उत्साहयामि (दतः) तकारलोपः । दत्तः । रक्षितः (सर्वम्) पूर्णम् (आयुः) जीवनम् (अशीय) प्राप्नुयाम् (स्योनम्) सुखम् (मे) मदर्थम्

(सीद) तू बैठ, (पुरुः) पूर्ण होकर (स्वर्गे) स्वर्ग [सुख पहुंचाने वाले स्थान] में (पवमानः) चलता हुआ तू [हमें] (पृणस्व) पूर्ण कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि आप सब की रक्षा करके अपनी रक्षा करें और विद्या और पराक्रम में पूर्ण होकर सब को विद्वान् और पराक्रमी बनाकर आप सुखी होवें और सबको सुखी करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ६२ ॥

मन्त्रः १ ॥ ब्रह्म देवता ॥ निचृदनुष्टुप् छन्दः ॥

विदुषां कर्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

प्रियं मा॑ कृणु दे॒वेषु॑ प्रियं राज॑सु मा कृणु ।
प्रियं सर्व॑स्य पश्य॑त उ॒त शू॒द्र उ॒तार्ये॑ ॥ १ ॥

प्रियम् । मा॒ । कृ॒णु॒ । दे॒वेषु॑ । प्रियम् । राज॑-सु । मा॒ । कृ॒णु॒ ॥
प्रियम् । सर्व॑स्य । पश्य॑तः । उ॒त । शू॒द्रे । उ॒त । आर्ये॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (मा) मुझे (देवेषु) ब्राह्मणों [ज्ञानियों] में (प्रियम्) प्रिय (कृणु) कर, (मा) मुझे (राजसु) राजाओं में (प्रियम्) प्रिय (कृणु) कर । (उत) और (आर्ये) वैश्य में (उत) और (शूद्रे) शूद्र में और (सर्वस्य) सब (पश्यतः) देखने वाले [जीव] का (प्रियम्) प्रिय [कर] ॥ १ ॥

(सीद) उपविश (पुरुः) भृमिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । पॄ पालनपूरणयोः—कु । पूर्णस्त्वम् (पृणस्व) पूरय अस्मान् (पवमानः) पवतेर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । गच्छन् (स्वर्गे) सुखप्रापके स्थाने ॥

१—(प्रियम्) हितकरम् (मा) माम् (कृणु) कुरु (देवेषु) ब्राह्मणेषु । वेदज्ञेषु (प्रियम्) (राजसु) क्षत्रियेषु (मा) (कृणु) (प्रियम्) (सर्वस्य) समस्तस्य (पश्यतः) दृष्टिवतो जीवस्य (उत) अपि च (शूद्रे) शुचेर्दश्च । उ० २ । १६ । शुच शोके—रक्प्रत्ययः, दश्चान्तादेशो धातोर्दीर्घश्च । शोचनीये मूर्खे (उत) (आर्ये) अ० १६ । ३२ । ८ । आर्यशब्द उत्तमवर्णब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवाचकत्वादत्र वैश्यवाची । वैश्ये ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर सब ब्राह्मण आदि से निष्पन्न होकर प्रीति करता है, वैसे ही विद्वानों को सब संसार से प्रीति करनी चाहिये ॥ १ ॥

इस मन्त्र का मिलान अथ० १६ । ३२ । ८ और निम्न लिखित मन्त्र से करो—यजु० १८ । ४८ ॥

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुच ꣳ राजसु नस्कृधि ।

रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

[हे जगदीश्वर !] (नः) हमारी (रुचम्) प्रीति को (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मणों [वेद वेत्ताओं] में (धेहि) धारण कर, (नः) हमारी (रुचम्) प्रीति को (राजसु) राजाओं में (कृधि) कर । (रुचम्) [हमारी] प्रीति को (विश्येषु) मनुष्यों के हितकारी वैश्यों में और (शूद्रेषु) शोक युक्त शूद्रों में [कर], (मयि) मुझ में (रुचा) [मेरी] प्रीति के साथ (रुचम्) [उनकी] प्रीति को (धेहि) धर ॥

सूक्तम् ६३ ॥

मन्त्रः १ ॥ ब्रह्मणस्पतिर्देवता ॥ विराडार्षी बृहती छन्दः ॥

विदुषां कर्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

उत् तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।

आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥ १ ॥

उत् । तिष्ठ । ब्रह्मणः । पते । देवान् । यज्ञेन । बोधय ॥

आयुः । प्राणम् । प्र-जाम् । पशून् । कीर्तिम् । यजमानम् ।

च । वर्धय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणः पते) हे वेद के रक्षक ! [विद्वान् पुरुष] तू (उत् तिष्ठ) उठ, और (देवान्) विद्वानों को (यज्ञेन) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] से (बोधय) जगा । (यजमानम्) यजमान [श्रेष्ठकर्म करने वाले] को (च)

१—(उत्तिष्ठ) ऊर्ध्वं गच्छ (ब्रह्मणः) वेदस्य (पते) रक्षक विद्वन् (देवान्) विदुषः पुरुषान् (यज्ञेन) पूजनीयव्यवहारेण (बोधय) सावधानान् कुरु (आयुः) जीवनम् (प्राणम्) आत्मबलम् (प्रजाम्) पुत्रपौत्रभृत्यादिरूपाम्

और (आयुः) [उसके] जीवन, (प्राणम्) प्राण [आत्मबल], (प्रजाम्) प्रजा, [सन्तान आदि], (पशून्) पशुओं [गौयें घोड़े आदि] और (कीर्तिम्) कीर्ति को (वर्धय) बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्वानों से मिलकर सब मनुष्यों की सब प्रकार उन्नति का उपाय करते रहें ॥ १ ॥

सूक्तम् ६४ ॥

१—४ ॥ अग्निर्देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ निचृदनुष्टुप्; ४ भुरिगुष्णिक् ॥
भौतिकाग्न्युपयोगोपदेशः—भौतिक अग्नि के उपयोग का उपदेश ॥

अग्ने॑ स॒मिध॒माहा॑र्षं बृह॒ते जा॒तवे॑दसे ।
स मे॑ श्र॒द्धां च॑ मे॒धां च॑ जा॒तवे॑दाः॒ प्र य॑च्छतु ॥ १ ॥

अग्ने॑ । स॒म्-इध॑म् । आ । अ॒हा॒र्ष॒म् । बृ॒ह॒ते । जा॒त-वे॑दसे ॥
सः । मे॒ । श्र॒द्धाम् । च॒ । मे॒धाम् । च॒ । जा॒त-वे॑दाः । प्र य॒च्छ॒तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(बृहते) बढ़ते हुये, (जातवेदसे) पदार्थों में विद्यमान (अग्ने=अग्नये) अग्नि के लिये (समिधम्) समिधा [जलाने के वस्तु काष्ठ आदि] को (आ अहार्षम्) मैं लाया हूं । (सः) वह (जातवेदाः) पदार्थों में विद्यमान [अग्नि] (मे) मुझे (श्रद्धाम्) श्रद्धा [आदर, विश्वास] (च च) और (मेधाम्) धारणावती बुद्धि (प्र यच्छतु) देवे ॥ १ ॥

(पशून्) गवाश्वादीन् (कीर्तिम्) यशः (यजमानम्) यज्ञस्यानुष्ठातारम् (च) (वर्धय) समर्धय ॥

१—(अग्ने) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३६ । चतुर्थ्यर्थे सम्बोधनम् । भौतिकाग्नये (समिधम्) समिन्धनसाधनं काष्ठघृतादिकम् (अहार्षम्) आहृतवानस्मि (बृहते) वर्धमानाय (जातवेदसे) पदार्थेषु विद्यमानाय (सः) अग्निः (मे) मह्यम् (श्रद्धाम्) आदरम् । विश्वासम् (च) (मेधाम्) धारणावतीं बुद्धिम् (जातवेदाः) पदार्थेषु विद्यमानः (प्रयच्छतु) ददातु ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि काष्ठ घृत और अन्य द्रव्यों से भौतिक अग्नि को प्रज्वलित करके हवन और शिल्प कार्यों में उपयोगी करें तथा उसके गुणों में श्रद्धा और बुद्धि बढ़ावें और इसी प्रकार परमात्मा की भक्ति को अपने हृदय में स्थापित करें ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान करो—यजु० ३ । १-४ ॥

इ॒ध्मेन॑ त्वा जातवेदः स॒मिधा॑ वर्धयामसि ।
तथा॑ त्वम॒स्मान् व॑र्धय प्र॒जया॑ च॒ धने॑न च ॥ २ ॥

इ॒ध्मेन॑ । त्वा॒ । जा॒त॒-वे॒दः॒ । स॒म्-इधा॑ । व॒र्ध॒या॒म॒सि॒ ॥ तथा॑ । त्वम् । अ॒स्मान् । व॒र्ध॒य॒ । प्र॒-जया॑ । च॒ । धने॑न । च॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे पदार्थों में विद्यमान ! [अग्नि] (इध्मेन) इन्धन [जलाने के पदार्थ] से और (समिधा) समिधा [काष्ठ आदि] से (त्वा) तुझे [जैसे] (वर्धयामसि) हम बढ़ाते हैं। (तथा) वैसे ही (त्वम्) तू (अस्मान्) हमें (प्रजया) प्रजा [सन्तान आदि] से (च च) और(धनेन) धन से (वर्धय) बढ़ा ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे जैसे मनुष्य हवन और शिल्प कार्यों में भौतिक अग्नि का उपयोग करते हैं, वैसे वैसे ही उन के सन्तान आदि और धन की वृद्धि होती है ॥ २ ॥

यद॑ग्ने॒ यानि॒ कानि॑ चि॒दा ते॒ दारू॑णि द॒ध्मसि॑ ।
सर्वं॒ तद॑स्तु मे शि॒वं तज्जु॑षस्व यविष्ठ्य ॥ ३ ॥

यत् । अ॒ग्ने॒ । यानि॑ । कानि॑ । चि॒त् । आ । ते॒ । दारू॑णि । द॒ध्मसि॑ ॥ सर्व॑म् । तत् । अ॒स्तु॒ । मे॒ । शि॒वम् । तत् । जु॒ष॒-स्व॒ । य॒वि॒ष्ठ्य॒ ॥ ३ ॥

२—(इध्मेन) इन्धनसाधनेन (त्वा) त्वाम् (जातवेदः) हे पदार्थेषु विद्यमान (समिधा) काष्ठादिना (वर्धयामसि) वर्धयामः । प्रवृद्धं कुर्मः (तथा) तेन प्रकारेण (त्वम्) (अस्मान्) अग्निप्रदीपकान् (वर्धय) समर्धय (प्रजया) सन्तानादिना (च) (धनेन) सुवर्णादिना (च) ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (यानि कानि चित्) जिन किन हीं (दारूणि) काष्ठों को (ते) तेरे लिये (यत्) जो कुछ (आ दध्मसि) हम लाकर धरते हैं। (तत् सर्वम्) वह सब (मे) मेरे लिये (शिवम्) कल्याणकारी (अस्तु) होवे, (यविष्ठ्य) हे अत्यन्त संयोजक वियोजकों में साधु [योग्य] (तत्) उस [काष्ठ आदि] को (जुषस्व) तू सेवन कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य काष्ठ आदि पदार्थों को अग्नि में हवन और शिल्प, सिद्धि के लिये सावधानी और विचार से छोड़ें, जिस से प्रज्वलित अग्नि द्वारा यथावत् कार्यसिद्धि होवे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—११। ७३ और ऋग्वेद ८। १०२ [सायणभाष्य ९१] ॥ २० ॥

एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिद्धः समिद् भव ।
आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वमाचार्याय ॥ ४ ॥

एताः । ते । अग्ने । सम्-इधः । त्वम् । इद्धः । सम्-इत् । भव ॥ आयुः । अस्मासु । धेहि । अमृत-त्वम् । आ-चार्याय ४

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (एताः) यह (ते) तेरे लिये (समिधः) समिधायें [काष्ठ आदि सामग्री] हैं, (त्वम्) तू (इद्धः) प्रज्वलित होकर (समित्) मिलने वाला (भव) हो। (आयुः) जीवन और (अमृतत्वम्) अमरपन को। (अस्मासु) हम में (आचार्याय) आचार्य [की सेवा] के लिये

३—(यत्) यत्किञ्चित् (यानि कानि चित्) यानि सर्वाण्यपि (आ) आनीय (ते) तुभ्यम् (दारूणि) काष्ठानि (दध्मसि) धरामः। आरोपयामः (सर्वम्) (तत्) (अस्तु) (मे) मह्यम् (शिवम्) कल्याणकरम् (तत्) समग्रम् (जुषस्व) सेवस्व (यविष्ठ्य) युवन्—इष्ठन्। स्थूलदूरयुव०। पा० ६। ४। १५६। वलोपे गुणे च। तत्र साधुः। पा० ४। ४। ९८। इति यविष्ठ-यत्। हे युवतमेषु अतिशयेन संयोजकवियोजकेषु साधो योग्य ॥

४—(एताः) दृश्यमानाः (ते) तुभ्यम् (अग्ने) (समिधः) काष्ठादिपदार्थाः (त्वम्) (इद्धः) प्रज्वलितः सन् (समित्) इण् गतौ—क्विप् तुक् च। संगन्ता (भव) (आयुः) जीवनम् (अस्मासु) (धेहि) धारय (अमृतत्वम्)

(धेहि) धारण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अग्नि में काष्ठ आदि का उत्तम उपयोग करते हैं, वे पूर्ण आयु भोग कर और आचार्य आदि की सेवा करके सुखी होते हैं ॥४॥

सूक्तम् ६५ ॥

मन्त्रः १॥ सूर्यो देवता ॥ निचृज्जगती छन्दः ॥

पराक्रमकरणोपदेशः—पराक्रम करने का उपदेश ॥

हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम्। अव तां जहि हरसा जातवेदोऽबिभ्यदुग्रोऽर्चिषा दिवमा रोह सूर्य ॥ १ ॥

हरिः। सु-पर्णः। दिवम्। आ। अरुहः। अर्चिषा। ये। त्वा। दिप्सन्ति। दिवम्। उत्-पतन्तम् ॥ अव। तान्। जहि। हरसा। जात-वेदः। अबिभ्यत्। उग्रः। अर्चिषा। दिवम्। आ। रोह। सूर्य ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (हरिः) दुःख का हरने वाला, (सुपर्णः) बड़ा पालने वाला तू (अर्चिषा) पूजनीय कर्म से (दिवम्) चाहने योग्य सुख स्थान में (आ अरुहः) ऊंचा चढ़ा है, (ये) जो [विघ्न] (दिवम्) सुख-स्थान को (उत्पतन्तम्) चढ़ते हुये (त्वाम्) तुझे (दिप्सन्ति) दबाना चाहते हैं, (जातवेदः) हे बड़े धन वाले ! (तान्) उन को (हरसा) [अपने] बल से (अव जहि) मार डाल, (अबिभ्यत्) भय न करता हुआ, (उग्रः) तेजस्वी तू

अमरणम् (आचार्याय) आचार्यं सेवितुम् ॥

१—(हरिः) दुःखस्य हर्ता (सुपर्णः) महापालकः (दिवम्) दिवु-कान्तौ—कप्रत्ययः। कमनीयं सुखस्थानम् (आ अरुहः) रोहतेर्लुङ्। आरूढ-वानसि (अर्चिषा) पूजनीयेन कर्मणा (ये) विघ्नाः (त्वा) (दिप्सन्ति) दम्भितुमिच्छन्ति। जिघांसन्ति (दिवम्) (उत्पतन्तम्) उद्गच्छन्तम् (अव जहि) विनाशय (तान्) विघ्नान् (हरसा) बलेन (जातवेदः) हे प्रसिद्धधन

(सूर्य) हे सूर्य ! [प्रेरक मनुष्य] (अर्चिषा) पूजनीय कर्म से (दिवम्) सुख-स्थान को (आ रोह) चढ़ जा ॥ १ ॥

भावार्थ—पराक्रमी पुरुष सब विघ्नों को हटा कर धनवान् होकर सुखी होवें ॥ १ ॥

सूक्तम् ६६ ॥

मन्त्रः १ ॥ जातवेदा देवता ॥ निचृदतिजगती छन्दः ॥

पराक्रमकरणोपदेशः—पराक्रम करने का उपदेश ॥

अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरङ्किनो ये चरन्ति ।
तांस्ते रन्धयामि हरसा जातवेदः सहस्रऋष्टिः सपत्नान् प्रमृणन् पाहि वज्रः ॥ १ ॥

अयः-जालाः । असुराः । मायिनः । अयस्मयैः । पाशैः । अङ्किनः । ये । चरन्ति ॥ तान् । ते । रन्धयामि । हरसा । जात-वेदः । सहस्र-ऋष्टिः । स-पत्नान् । प्र-मृणन् । पाहि । वज्रः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयोजालाः) लोहे के जाल वाले, (असुराः) असुर [विद्वानों के विरोधी], (मायिनः) छली, (अयस्मयैः) लोहे के बने हुये (पाशैः) फन्दों से (अङ्किनः) आंकड़ा लगाने वाले (ये) जो [शत्रु] (चरन्ति) घूमते फिरते हैं । (जातवेदः) हे बड़े धन वाले ! [शूर] (तान्) उन को (ते) तेरे (हरसा) बल से (रन्धयामि) मैं वश में करता हूं, (सहस्रऋष्टिः) सहस्रों

(अबिभ्यत्) भीतिम् अकुर्वन् (उग्रः) प्रचण्डः (अर्चिषा) पूजनीयेन कर्मणा (दिवम्) (आरोह) अधितिष्ठ (सूर्य) हे प्रेरक प्रतापिन् ॥

१—(अयोजालाः) लोहमयवागुरावन्तः (असुराः) सुराणां विदुषां विरोधिनः (मायिनः) छलिनः (अयस्मयैः) लोहनिर्मितैः (पाशैः) बन्धनैः (अङ्किनः) अङ्कुशवन्तः (ये) दुष्टाः (चरन्ति) विचरन्ति (तान्) दुष्टान् (ते) तव (रन्धयामि) रध्यतिर्वशगमने—निरु० १० । ४० । वशयामि । स्वाधीनान् करोमि (हरसा) बलेन (जातवेदः) हे बहुधन, (सहस्रऋष्टिः)

दो धारा तरिवार वाला, (वज्रः) वज्रवान्, (सपत्नान्) विरोधियों को (प्रमृणन्) मार डालता हुआ तू [हमें] (पाहि) पाल ॥ १ ॥

भावार्थ—बड़े लोग शूर पराक्रमी पुरुषों का सदा सहाय और सत्कार करते रहें, जिस से वे छली कपटी दुष्टों को मारकर प्रजा का पालन करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ६७ ॥

१—८ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ प्राजापत्या गायत्री छन्दः ॥

जीवनस्य स्वास्थ्योपदेशः—जीवन के स्वास्थ्य का उपदेश ॥

पश्येम शरदः शतम् ॥ १ ॥ पश्येम । शरदः । शतम् ॥ १ ॥

जीवेम शरदः शतम् ॥ २ ॥ जीवेम । शरदः । शतम् ॥ २ ॥

बुध्येम शरदः शतम् ॥ ३ ॥ बुध्येम । शरदः । शतम् ॥ ३ ॥

रोहेम शरदः शतम् ॥ ४ ॥ रोहेम । शरदः । शतम् ॥ ४ ॥

पूषेम शरदः शतम् ॥ ५ ॥ पूषेम । शरदः । शतम् ॥ ५ ॥

भवेम शरदः शतम् ॥ ६ ॥ भवेम । शरदः । शतम् ॥ ६ ॥

भूयेम शरदः शतम् ॥ ७ ॥ भूयेम । शरदः । शतम् ॥ ७ ॥

भूयसीः शरदः शतात् ॥ ८ ॥ भूयसीः । शरदः । शतात् ॥ ८ ॥

भावार्थ—(शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (पश्येम) हम देखते रहें ॥ १ ॥ (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (जीवेम) हम जीते रहें ॥ २ ॥ (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (बुध्येम) हम समझते रहें ॥ ३ ॥ (शतम्) सौ (शरदः)

ऋष्टिः उभयतो धारायुक्तःखड्गः । सहस्रैर्ऋष्टिभिर्युक्तः (सपत्नान्) शत्रून् (प्रमृणन्) प्रकर्षेण मारयन् (पाहि) पालय (वज्रः) वज्र–अर्शआद्यच् । वज्रवान् ॥

१—(पश्येम) अवलोकयेम (शरदः) शरदृतून् । संवत्सरान् । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति सर्वत्र द्वितीया (शतम्) शतसंख्याकान् ॥

२—(जीवेम) प्राणान् धारयेम ॥

३—(बुध्येम) बुध्येमहि । जानीयाम ॥

(शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (रोहेम) हम चढ़ते रहें ॥ ४ ॥

(शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (पूषेम) हम पुष्ट होते रहें ॥ ५ ॥

(शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (भवेम) हम बने रहें ॥ ६ ॥

(शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (भूयेम) हम शुद्ध रहें ॥ ७ ॥

(शतात्) सौ से (भूयसीः) अधिक (शरदः) वर्षों तक [हम देखते रहें, जीते रहें, इत्यादि] ॥ ८ ॥

भावार्थ—हम सब लोग प्रयत्न करें कि परमेश्वर की प्रार्थना सदा करते हुये युक्त आहार विहार से ऐसे स्वस्थ और नीरोग रहें कि सब इन्द्रियां नेत्र, मुख, नासिका, मन आदि सौ वर्ष से भी अधिक पूरे दृढ़ और सचेत रहें, जिससे हम अपना कर्तव्य जीवन भर सावधानी के साथ किया करें ॥ १—८॥

मन्त्र १ तथा २ ऋग्वेद में हैं—७ । ६६ । १६ और सब सूक्त कुछ भेद से यजुर्वेद में है—३६ । २४ ॥

सूक्तम् ६८ ॥

मन्त्रः १ ॥ आत्मा देवता ॥ निचृदनुष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया ।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥ १ ॥

अव्यसः । च । व्यचसः । च । बिलम् । वि । स्यामि । मायया॥
ताभ्याम् । उत्-हृत्य । वेदम् । अथ । कर्माणि । कृण्महे ॥१॥

भाषार्थ—(अव्यसः) अव्यापक [जीवात्मा] के (च च) और

४—(रोहेम) आरूढा भवेम ॥

५—(पूषेम) पूष पुष्टौ । पुष्टिं लभेमहि ॥

६—(भवेम) स्याम । वर्तेमहि ॥

७—(भूयेम) भू शुद्धौ—आशीर्लिङि छान्दसं रूपम् । शुध्येम ॥

८—(भूयसीः) अधिकतराः (शरदः) वर्षाणि (शतात्) शतसंख्याकात् ॥

१-(अव्यसः) व्यचतिर्व्याप्तिकर्मा-असुन्, वर्णलोपश्छान्दसः । अव्यचसः ।

(व्यचसः) व्यापक [परमात्मा] के (बिलम्) बिल [भेद] को (मायया) बुद्धि से (वि ष्यामि) मैं खोलता हूं । (अथ) फिर (ताभ्याम्) उन दोनों के जानने के लिये (वेदम्) वेद [ऋग्वेद आदि ज्ञान] को (उद्धृत्य) ऊंचा लाकर (कर्माणि) कर्मों को (कृण्महे) हम करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य जीवात्मा के कर्तव्य और परमात्मा के अनुग्रह समझने के लिये वेदों को प्रधान जानकर अपना अपना कर्तव्य करते रहें ॥ १ ॥

सूक्तम् ९८ ॥

१-४ ॥ विद्वांसो देवताः ॥ १ आसुर्यनुष्टुप्; २ प्राजापत्याऽनुष्टुप्; ३ आसुरी गायत्री; ४ आसुर्युष्णिक् ॥

जीवनवर्धनायोपदेशः—जीवन बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

जीवा स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ १ ॥

जीवाः । स्थ । जीव्यासम् । सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् ॥१॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (जीवाः) जीने वाले (स्थ) हो, (जीव्यासम्) मैं जीता रहूं, (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु (जीव्यासम्) मैं जीता रहूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को विद्वानों के समान जीवन भर स्वतन्त्र पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ १ ॥

उपजीवा स्थोप जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ २ ॥

उप-जीवाः । स्थ । उप । जीव्यासम् । सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (उपजीवाः) आश्रय से जीने वाले (स्थ) हो, (उप जीव्यासम्) मैं सहारे से जीता रहूं, (सर्वम्) सम्पूर्ण

अव्यापकस्य जीवात्मनः (च) (व्यचसः) व्यापकस्य परमात्मनः (च) (बिलम्) छिद्रम् । गुप्तभेदम् (विष्यामि) स्यतिरुपसृष्टो विमोचने-निरु० १ । १७ । विवृणोमि । विमोचयामि (मायया) प्रज्ञया (ताभ्याम्) तौ ज्ञातुम् (उद्धृत्य) उद्गमय्य (वेदम्) ऋग्वेदादिवेदचतुष्टयं ज्ञानमूलम् (अथ) अनन्तरम् (कर्माणि) कर्तव्यानि (कृण्महे) कुर्महे ॥

१—(जीवाः) जीवनवन्तः (स्थ) भवथ (जीव्यासम्) जीवनवान् भूयासम् (सर्वम्) सम्पूर्णम् (आयुः) जीवनम् (जीव्यासम्) ॥

२—(उपजीवाः) आश्रयेण जीवन्तः (उपजीव्यासम्) आश्रयेण जीवन

(आयुः) आयु (जीव्यासम्) मैं जीता रहूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को ब्रह्मचर्य आदि दशा में श्रेष्ठों का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत करना चाहिये ॥ २ ॥

सं जीवा स्थ सं जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ ३ ॥

सम्-जीवाः । स्थ । सम् । जीव्यासम् । सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (संजीवाः) मिलकर जीने वाले (स्थ) हो, (संजीव्यासम्) मैं मिलकर जीता रहूं, (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु (जीव्यासम्) मैं जीता रहूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परस्पर सहाय से अपना जीवन भोगना चाहिये ॥ ३ ॥

जीवला स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ ४ ॥

जीवलाः । स्थ । जीव्यासम् । सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (जीवलाः) जीवन दाता (स्थ) हो, (जीव्यासम्) मैं जीता रहूं, (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु (जीव्यासम्) मैं जीता रहूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परस्पर उपकार से सब का जीवन बढ़ाते रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ७० ॥

मन्त्रः १ ॥ इन्द्रो देवता ॥ आर्षी गायत्री छन्दः ॥
आयुर्वर्धनायोपदेशः—जीवन बढ़ाने का उपदेश ॥

इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवा जीव्यासमहम् ।
सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ १ ॥

इन्द्र । जीव । सूर्य । जीव । देवाः । जीवाः । जीव्यासम् । अहम् ॥ सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् ॥ १ ॥

वान् भूयासम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(संजीवाः) संयोगेन जीवन्तः (सं जीव्यासम्) संयोगेन प्राणान् धारयेयम् ॥

४—(जीवलाः) जीव + ला दानादानयोः—कप्रत्ययः । जीवनदातारः ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (जीव) तू जीता रह, (सूर्य) हे सूर्य ! [सूर्य समान तेजस्वी] (जीव) तू जीता रह, (देवाः) हे विद्वानो ! तुम (जीवाः) जीने वाले [हो], (अहम्) मैं (जीव्यासम्) मैं जीता रहूँ, (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु (जीव्यासम्) मैं जीता रहूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परम ऐश्वर्यवान् और प्रधान होकर विद्वानों के साथ पूर्ण आयु जीवें ॥ १ ॥

सूक्तम् ७१ ॥

मन्त्रः १॥ वेदमाता देवता ॥ अतिजगती छन्दः ॥

सर्वसुखप्राप्त्युपदेशः—सब सुख पाने का उपदेश ॥

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् । मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ १ ॥

स्तुता । मया । वरदा । वेद-माता । प्र । चोदयन्ताम् । पावमानी । द्विजानाम् ॥ आयुः । प्राणम् । प्र-जाम् । पशुम् । कीर्तिम् । द्रविणम् । ब्रह्म-वर्चसम् ॥ मह्यम् । दत्त्वा । व्रजत । ब्रह्म-लोकम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वरदा) वर [इष्ट फल] देने वाली (वेदमाता) ज्ञान की माता [वेदवाणी] (मया) मुझ करके (स्तुता) स्तुति की गयी है, [आप विद्वान् लोग] (पावमानी) शुद्ध करने वाले [परमात्मा] की बताने वाली [वेदवाणी] को (द्विजानाम्) द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों] में (प्र चोदयन्ताम्) आगे बढ़ावें । [हे विद्वानो !] (आयुः) जीवन, (प्राणम्)

१—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् मनुष्य (जीव) प्राणान् धारय (सूर्य) हे सूर्यवत्तेजस्विन् (जीव) (देवाः) हे विद्वांसः (जीवाः) जीवनवन्तःस्थ । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

१—(स्तुता) प्रशंसिता (मया) उपासकेन (वरदा) इष्टफलदात्री (वेदमाता) वेदस्य ज्ञानस्य निर्मात्री वेदवाणी (प्र चोदयन्ताम्) प्रेरयन्तां विद्वांसः (पावमानी) पवमान-अण्, ङीप् । द्वितीयार्थे प्रथमा । पवमानस्य शोधकस्य परमेश्वरस्य प्रतिपादिकां वेदवाणीम् (द्विजानाम्) ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां मध्ये (आयुः) जीवनम् (प्राणम्) आत्मबलम् (प्रजाम्) सन्तानादिकम्

प्राण [आत्मबल], (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान आदि], (पशुम्) पशु [गौ आदि], (कीर्तिम्) कीर्ति, (द्रविणम्) धन और (ब्रह्मवर्चसम्) वेदाभ्यास का तेज (मह्यम्) मुझ को (दत्त्वा) देकर [हमें] (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्मलोक [वेदज्ञानियों के समाज] में (व्रजत) पहुंचाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् आचार्यों के द्वारा आदर के साथ वेदवाणी का निरन्तर अभ्यास करके सर्वोन्नति से कीर्तिमान् होते हुये ब्रह्मज्ञानियों में प्रतिष्ठा पावें ॥ १ ॥

सूक्तम् ७२ ॥

मन्त्रः १ ॥ परमात्मा देवता ॥ विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ॥

वैदिककर्मानुष्ठानोपदेशः—वैदिक कर्म करने का उपदेश ॥

यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम् ।

कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥ १ ॥

यस्मात् । कोशात् । उत्-अभराम । वेदम् । तस्मिन् । अन्तः । अव । दध्मः । एनम् ॥ कृतम् । इष्टम् । ब्रह्मणः । वीर्येण । तेन । मा । देवाः । तपसा । अवत । इह ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यस्मात्) जिस (कोशात्) कोश [निधि स्थान परमात्मा] से (वेदम्) वेद [ऋग्वेद आदि] को (उदभराम) हमने ऊंचा धरा है, (तस्मिन् अन्तः) उस परमात्मा के भीतर (एनम्) इस [जीवात्मा] को (अव) निश्चय करके (दध्मः) हम धरते हैं। (ब्रह्मणः) [जिस] ब्रह्म [परमात्मा] के (वीर्येण) सामर्थ्य से (इष्टम्) इष्ट कर्म (कृतम्) किया जाता है, (तेन) उस [परमात्मा] के साथ, (देवाः) हे विद्वानो ! (तपसा) तप

(पशुम्) गवादिकम् (कीर्तिम्) यशः (द्रविणम्) धनम् (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मवर्चस—अच् । वेदाभ्यासेन तेजः (मह्यम्) उपासकाय (दत्त्वा) (व्रजत) अन्तर्गतण्यर्थः । वाजयत । प्रापयत—अस्मान् (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्मणां वेदज्ञातॄणां समाजम् ॥

१—(यस्मात्) (कोशात्) निधिस्थानात् परमेश्वरात् (उदभराम) उद्धृतवन्तः । ऊर्ध्वं स्थापितवन्तः (वेदम्) ऋग्वेदादिवेदचतुष्टयम् (तस्मिन्) कोशे परमात्मनि (अन्तः) मध्ये (अव) अवधारणे (दध्मः) धरामः (एनम्) जीवात्मानम् (कृतम्) अनुष्ठितम् (इष्टम्) इष्टं कर्म (ब्रह्मणः) यस्य परमेश्वरस्य (वीर्येण) सामर्थ्येन (तेन) परमेश्वरेण सह (मा) माम् (देवाः)

द्वारा (मा) मुझ को (इह) यहां पर (अवत) बचाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के अनन्त भण्डार से वेद रत्न को हमने पाया है, उसी परमात्मा का आश्रय लेकर विद्वानों के सत्संग और सहाय से तप करते हुये अपनी रक्षा करके हम आनन्द भोगें ॥ १ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

इत्येकोनविंशं काण्डं समाप्तम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम **श्रीसयाजीराव गायक-वाड़ाधिष्ठित** बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदासत्रिवेदिना ।

कृते अथर्ववेदभाष्ये एकोनविंशं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे पौर्णमास्यां रक्षाबन्धनतिथौ १९७६ [षट्सप्तत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि

श्रीराजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य

सुसाम्राज्ये समाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—पौषकृष्णा ६ संवत् १९७६वि०, ता० १२ दिसम्बर १९१९ ई० ।

हे विद्वांसः (तपसा) तपश्चरणेन (अवत) रक्षत (इह) अत्र ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-७३ की प्रति।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उन से स्वीकार की जावें॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १८१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावे कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५८७६ प्राप्त २० जुलाई १८१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर नमस्ते!,

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य कांडों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्य समाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों को बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमान श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दें इस ओर अपना कुछ कर्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाज के पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही जरूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये जल्दी से भाष्य को मंगाइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

B. Sc. LL. B. उपमन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध बुलन्दशहर।

आप का पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आप की विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्रधारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश मेरठ—१९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त। आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी को भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों, में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खें।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो''' छपाई और कागज़ भी अच्छा है

श्रीयुत महाशय—**मुन्शीरामजी** जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६६६।

अथर्ववेदभाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० **शिवशंकर शर्म्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र-८ फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।''''''आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आपका अथर्ववेदीयभाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित—**भीमसेन शर्म्मा इटावा** उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में''''''अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है''' भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी, अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते।

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारो कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पाँचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राःकी जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पंडित—**महावीर प्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है कि आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है''' बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है''' आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पंडित—**गणेश प्रसाद शर्मा** सम्पादक भारत सुदशाप्रवर्त्तक फ़तेहगढ़, ता० १२ अप्रैल १६१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, इसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिका प्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आप का भेजा अथर्ववेदभाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा**, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ८ दिसम्बर १६१३।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आपने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी**, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-६-१३।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६- लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते— स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है—कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है—जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है; सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।......... इस समय जो पांच काण्डों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State letter No 624 dated 6th February* 1913.

... It has been decided to purchase 20 copies of your book entitle, अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and th prize distribution. Please send them ...also add on the address labl "For Encouragement Fund.

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan Letter dated March 25th. 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should hav undertaken at an advanced age I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope ..the venture will not fail for want of pecuniary support

---

THE MAGISTRATE OF ALLAHAABD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the Ist and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this offic for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA LAHORE APRIL 18 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda*, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature .. ..The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious: they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works... ..The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves .....Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.